जागृति ग्रन्थ माला

(१)

राष्ट्रवादी दयानन्द

लेखकः—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

(सम्पादक–हिन्दुस्तान, नई दिल्ली)

भूमिका-लेखकः—

अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

१ वैशाख १९९८ }
१२ अप्रैल १९४१ }

{ मूल्य ॥)
{ सजिल्द १)

परिचय

सारे विश्व में आर्यावर्त के आर्य-साम्राज्य की स्थापना करने का "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा बुलन्द करने वाले आर्यों में आर्यसमाज के धार्मिक संस्था होने की धारणा इतनी बद्धमूल हो गई है कि उसके विरुद्ध आवाज उठाना मुश्किल और उनकी इस धारणा को बदलना प्राय: असम्भव हो गया है। आर्यसमाज को धार्मिक संस्था भी इस रूप में माना जाने लगा है कि उसका काम ब्राह्मण के समान सिर्फ धर्म-कर्म का उपदेश करना रह गया है। परिणाम इसका यह हुआ है कि आर्यसमाज ऐसी कर्मकाण्ड-प्रधान संस्था बन गया है कि उसका देश के सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा। निजाम हैदराबाद में किये गये सत्याग्रह में भी जितना जोर धार्मिक अधिकारों पर दिया गया था, उतना उन नागरिक अधिकारों पर नहीं दिया गया, जिनके बिना मनुष्य के जीवन का निर्वाह होना कठिन हो जाता है। सत्याग्रह के बाद भी आर्यसमाज वहां कोरा धर्म-प्रचार ही करना चाहता है। धर्म-प्रचार की जो सीमा मान ली गई है, उससे आगे बढ़ने के लिये उसे प्रेरित करना पर्वत को हिलाने के समान असम्भव हो गया है। फिर भी यह पुस्तक लिखने का दु:साहस किया गया है और ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद को जनता के समक्ष उपस्थित करने का उद्योग किया गया है। इससे इतना लाभ तो जरूर होगा कि ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में आर्यसमाजियों की इस धारणा से पैदा हुई भ्रान्ति दूर हो जायगी और उनका राष्ट्रीय स्वरूप उन पर

प्रगट हो जायगा, जो उनको सिर्फ समाज-सुधारक और धर्म-प्रचारक के ही रूप में देखते हैं।

आर्यसमाज को धर्म-प्रधान और सिर्फ धर्मोपदेश करने वाली ब्राह्मण-संस्था मान लेने की बद्धमूल धारणा से पैदा हुए दुष्परिणामों की यथा-स्थान चर्चा की गई है। सब से भयानक दुष्परिणाम इस भ्रान्त धारणा का यह हुआ है कि आर्यसमाजी धर्म-कर्म की शाब्दिक उपासना में तो लग जाता है; लेकिन, शक्ति की साधना में नहीं लगता। वह स्वभावतः तार्किक होता है। बात-बात में वह नुक्ता-चीनी करने लग जाता है। इस लिये धर्म-कर्म में भी उसकी उतनी श्रद्धा-भक्ति नहीं रहती। इस से धर्म की उपासना भी पूरी नहीं हो पाती और शक्ति की साधना की ओर तो उसका कभी ध्यान ही नहीं जाता। 'शस्त्र' और 'शास्त्र' का जिसके धर्म मे एक समान महत्व है, वह दोनों से वंचित रह कर 'कोरा बाबू' बन जाता है। आज आर्यसमाज को ऐसे ही बाबुओं की संस्था कहना चाहिये। इसी का स्वाभाविक और अनिवार्य दुष्परिणाम यह है कि आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित चातुर्वर्ण्य की स्थापना के ठोस और विधा-यक कार्यक्रम को पूरा करके समाज-रचना के द्वारा राष्ट्र-निर्माण की नींव नहीं डाल सका। जब धर्म-प्रधान ब्राह्मण-संस्था का हर एक भजनीक व उपदेशक ही नहीं, परन्तु हर सभासद् भी 'पण्डित' बन कर वर्णव्यवस्था की उच्चतम व अन्तिम सीढ़ी पर अनायास ही चढ़ सकता है और चढ़ जाता है, तब अपने समाज, अपने देश और अपने राष्ट्र की सेवा करने वाले हनुमान सरीखे सेवक, भामाशाह सरीखे वैश्य और राजपूतों, सिखों एवं मराठों सरीखे क्षत्रिय कहा से पैदा हों? उनको पैदा करने या स्वयं को

उन सरीखा बनाने की भावना या कल्पना किस के हृदय मे पैदा हो सकती है ? ऋषि दयानन्द की समाज-रचना एव राष्ट्र-निर्माण के व्यापक कार्यक्रम की आर्यसमाज नींव तक डालने मे समर्थ नही हो सका और अपने विधायक कार्यक्रम की ओर दृढ़ता के साथ पैर नही बढ़ा सका। फिर उसे शिकायत है किसी ठोस और नवीन कार्यक्रम के अभाव की। कैसी हास्यास्पद यह स्थिति है ?

मथुरा मे मनाई गई जन्म-शताब्दी के अवसर पर इस पुस्तिका का पहिला संस्करण 'दयानन्द दर्शन' के नाम से प्रकाशित किया गया था। वह भी कई वर्षों के अध्ययन और चिन्तन का परिणाम था। लेकिन, प्रस्तुत पुस्तिका तो और भी अधिक अध्ययन का यदि नहीं तो चिन्तन का परिणाम जरूर है। फिर इसके लिखने मे कई महानुभावो की प्रेरणा भी शामिल है। सबसे अधिक प्रेरणा राजगुरु पं० धुरेन्द्रजी शास्त्री से तब मिली, जब विजयगढ़ में उनकी उपस्थिति मे लेखक को इन विचारो को प्रगट करने का अवसर कोई दो वर्ष पहिले मिला था। मेरठ के भाई विश्वम्भरसहाय जी प्रेमी तो जब भी मिलते, तब इसके लिये बराबर तकाजा कर के रह जाते। चिरंजीव धर्मवीर प्रेमी बी० ए० का भी काफी अनुरोध रहा। दिल्ली क्लाथ मिल की आर्यसमाज के प्रधान भाई रामप्रतापजी शर्मा तो एक प्रकार से घर पर धरना ही देकर बैठ गये। यह पुस्तिका एक प्रकार से उन्ही की प्रेरणा, सहयोग और सहायता का परिणाम है। उनसे इतना उत्साह मिला कि 'दयानन्द दर्शन' को नये साचे व ढाचे में ढाल कर उसको बिलकुल नया ही रूप दे दिया गया है। 'दयानन्द दर्शन' की आत्मा को 'राष्ट्रवादी दयानन्द' मे वैसा ही कायम रख कर उसकी देह

को सर्वथा बदल दिया गया है। नये रूप, नये क्रम और नयी भाषा मे इसे लिखा गया है। 'दयानन्द दर्शन'की भूमिका तब अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने लिख देने की कृपा की थी। उनकी भूमिका से अधिक सुन्दर, अधिक बढ़िया और अधिक उपयुक्त कोई दूसरी भूमिका मिलनी संभव नही थी। उनके चरणो में बैठकर ही ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता को जानने तथा समझने का अवसर मिला है और उनके आदर्श जीवन से ऋषि के राष्ट्रवाद मे लेखक की श्रद्धा उत्तरोत्तर बढती गई है। इस लिये आशीर्वाद-रूप मे प्राप्त हुई उनकी भूमिका से ही इस पुस्तिका को सुशोभित करने के लालच को दबा सकना संभव नही रहा। पाठक देखेंगे कि आज भी उनके वे शब्द कितने यथार्थ और सार्थक हैं?

सात-आठ प्रान्तों मे पीछे कांग्रेस की सरकारो का स्थापित होना साधारण बात नही थी। राष्ट्रवादी का हृदय उस पर फूला न समाया था। लेकिन, ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद, उनकी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा और स्वराज्य एवं साम्राज्य की उनकी महान् भावना एवं कल्पना का थोड़ासा भी परिचय रखने वाले के लिए यह दृश्य मर्मान्तक वेदना पैदा करने वाला था कि स्वराज्य की उस धुंधली सी छाया मे सामूहिक रूप से आर्यसमाज का कुछ भी स्थान न था। चाहिये तो यह था कि आर्यसमाज की ही सरकारे सब प्रान्तों मे कायम होतीं और केन्द्रीय सरकार पर भी उसी का कब्जा होता। लेकिन, आज तो ऐसा कहना और सोचना शेखचिल्ली की बातें प्रतीत होती हैं। आर्यसमाज ने राजनीति का परित्याग करके ऐसी कल्पनाओं और मनोरथों का पूरा होना सदा के लिये असम्भव बना दिया है। फिर भी आर्यसमाज में ऐसे साहसी युवकों

की कमी नहीं है, जो आर्यसमाज मे ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद को स्थापित हुआ देखना चाहते हैं और देश के राष्ट्रीय नेतृत्व की बागडोर भी उसी के हाथों मे आई हुई देखने को लालायित हैं। ऐसे अनेक युवक साथियो की भी ज्ञात और अज्ञात प्रेरणा इस पुस्तिका के लिखने में सहायक रही है। यदि ऐसे साथियों को इससे कुछ भी प्रोत्साहन मिल सका और उनकी इच्छा की पूर्ति मे यह थोड़ा-सा भी महायक हो सकी, तो लेखक अपने परिश्रम को सफल हुआ मानेगा।

यह पुस्तिका बहुत पहिले प्रकाशित हो जानी चाहिये थी। अब भी देरी से ही प्रकाशित हो रही है। दैनिक-पत्र की सम्पादकी मे ऐसे काम के लिये अधिक समय निकाल सकना मुश्किल है। वृन्दावन-गुरुकुल के उत्सव पर लेखक ने "आर्यसमाज का राष्ट्रवाद" विषय पर भाषण देना स्वीकार किया था। उसी समय इसको लिखने और प्रकाशित करने की इच्छा थी। उसके बाद भाई रामप्रताप शर्मा ने अपने आर्यसमाज के उत्सव पर सभासदो को उपहार देने के रूप में इसे प्रकाशित करने का अनुरोध किया। फिर आर्यसमाज के स्थापना-दिवस पर इसे प्रकाशित करने का यत्न किया गया। लेकिन, वह भी सफल न हुआ। पुस्तिका की लिखाई और छपाई दोनों में काफी जल्दबाजी से काम लिया गया है। इस लिए कोई भूल-चूक हो जाना स्वाभाविक है। मैं प्रेस के मालिकों का आभारी हूं कि उन्होंने इसकी छपाई में सहृदयतापूर्ण सहयोग दिया है।

अनेक भाइयों को मेरा यह उद्योग व्यर्थ भी प्रतीत हो सकता है, क्योंकि आर्यसमाज की वर्तमान गति-विधि में सहज मे कोई परिवर्तन पैदा कर सकना सम्भव नहीं है। लेकिन, आशावादी निराश होना नहीं जानता।

आर्यसमाज में भले ही कोई परिवर्तन या क्रान्ति न हो सके; लेकिन, आर्य युवकों के हृदय इतने कुण्ठित नहीं हो गये हैं कि वे भी परिवर्तन और क्रान्ति का स्वागत नहीं करेंगे। यह उद्योग उन्हीं के लिए किया गया है। उनके हृदयों में ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद की यदि हलकी-सी भी ज्योति जग गई और सर्वसाधारण में ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में पैदा हुआ भ्रम थोड़ा-सा भी दूर होगया, तो लेखक अपने उद्योग को पूरी तरह सफल हुआ मानेगा। बस, इसी इच्छा और आकांक्षा से उसने यह उद्योग किया है।

४० ए, हनुमान रोड,
नई दिल्ली,
"आर्यसमाज-स्थापना दिवस"
२८ मार्च १६४१

—सत्यदेव विद्यालंकार

भूमिका

वैदिक धर्म सारे संसार के सम्प्रदायो का जन्मदाता होते हुए भी साम्प्रदायिक सीमा का उल्लंघन किये हुए है। संसार के सम्प्रदाय धर्म की रक्षा के लिये स्थापन किये गये थे, परन्तु आज वे ही सम्प्रदाय मूल धर्म को भूल कर गौण मतभेद के धर्म के वादानुवाद में लगे हुए हैं। जिस प्रकार शरीर को जीवित रखने के लिये अन्न-फलादि के आहार की आवश्यकता है, इसी प्रकार आत्मिक जीवन की संरक्षा के लिये भी धर्मरूपी आत्मिक आहार की आवश्यकता होती है। शरीर-रक्षा के लिये अन्न और फल मुख्य हैं, परन्तु उसी अन्न और फल की रक्षा के लिये खेत वा वाटिका के इर्दगिर्द बाड़ लगानी पड़ती है। कैसा मूर्ख वह किसान है, जो अन्न-फल की पैदावार को भुलाकर अन्य किसानो की बाड़ों से ही अपनी बाड़ का मुकाबिला कर उनका तिरस्कार करता है ? इसी प्रकार जीवात्मा का आहार धर्म अर्थात् प्रकृति के संसर्ग से छूट कर परमात्मा मे स्वतन्त्र रूप से विचरण मुख्य है। उसकी रक्षा के लिये जो साम्प्रदायिक विधिया नियत की गई हैं, वे खेतों की बाड़ों के सदृश ही गौण हैं। कितना मूर्ख वह साम्प्रदायिक पुरुष है, जो गौण नियमों के विवाद में फंसकर अपने मुख्य धर्म को भूल जाता है।

वैदिक धर्म सार्वभौम और सार्वदेशिक है। इसका न कोई आदि और न कोई अन्त है। जिस धर्म का सदैव राज्य रहा हो, जो वर्तमान

सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व था, जो प्रवाह से अनादि चला आया है, जिसका सृष्टिक्रम समर्थन करता है, वही वैदिक धर्म है। इसी के पुनरुद्धार के लिये ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की बुनियाद डाली थी।

जब वैदिक धर्म का स्वरूप इतना व्यापक है, तो संसार की कोई भी नीति उसकी सीमा से बाहिर नहीं हो सकती। मनु महाराज ने कहा है कि 'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।' परम धर्म आचार ही है, इसलिये राजनीति भी उस धर्म की रक्षा का साधक होना चाहिए, बाधक नहीं। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म की व्याख्या करते हुए मानवीय किसी सम्बन्ध को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा।

इस ग्रन्थ में राजनीति-सम्बन्धी ऋषि दयानन्द के सब विचारो को एकत्र कर दिया गया है। जिस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक विषयो मे ऋषि दयानन्द ने भारत के सर्व सम्प्रदायों को सीधा मार्ग दिखलाया, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे भी अपने आपको अनुभवी ऋषि सिद्ध किया। आध्यात्मिक क्षेत्र मे पौराणिक हिन्दुओ, जैनियो, सिक्खो को जगा कर मुसलमानों को भी 'शिर्क' के गढ्ढे मे से निकलने के लिये उत्साहित किया। आर्थिक क्षेत्र में आज से पचास वर्ष पूर्व स्वदेशी वस्तुओ के प्रचार पर बल देकर आर्य पुरुषो के पश्चिम की ओर झुकते हुए भाव को उसी स्थान मे रोक कर स्वदेश के गौरव की ओर निर्देश किया। सामाजिक क्षेत्र मे सब कुरीतियो के दोष दिखला कर उत्तम रीति के संस्कार सारी प्रजा पर डाले और राजनीतिक क्षेत्र के सुधार के लिये भी मूल सिद्धान्तो का विशद रूप से उत्तम शब्दो मे वर्णन कर दिया।

उस समय ऋषि दयानन्द के बतलाये हुए वेद-प्रतिपादित राजनीतिक

सिद्धान्तों पर अमल करने का बड़े से बड़े राजनीतिक नेताओ को भी साहस नहीं होता था। ऋषि दयानन्द उस समय की भारतीय प्रजा के विचारो से आधी शताब्दी आगे बढ़ गये थे। इस लिये उनके श्रद्धालु अनुयायियों पर भी उनकी शिक्षा ने असर न किया। मेरी दृष्टि में अकेले गुरुदत्त विद्यार्थी थे, जिन्होंने ऋषि के प्रत्येक रहस्यपूर्ण वचन को समझा था और यदि वह पच्चीस वर्ष की आयु मे ही हम सब से बिछुड़ न जाते, तो जो चमत्कार भारतवर्ष में सम्वत् १९७६ के अन्दर दिखाई दिया, उसका आरम्भ बीस वर्ष पूर्व ही हो जाता।

ग्रन्थकर्ता ने ऋषि दयानन्द के राष्ट्रीय स्वरूप का चित्र खींचते हुए उनके राजनीतिक सिद्धान्तों को एक स्थान में एकत्र कर दिया है। दयानन्द-जन्म शताब्दि के समय यह भी एक लाभदायक और आवश्यक भेंट है। जब धर्म, अर्थ, काम तीनों ही क्रमशः मुक्तिधाम तक पहुँचाने के साधन हैं, तब राजनीति को उपेक्षा की दृष्टि से देखा ही नहीं जा सकता।

आज से साठ वर्ष पूर्व हिन्दू जनता ने अपने आपको जन्म-जन्मान्तर से दास समझ लिया था। विदेशी कहते थे कि प्रजातन्त्र राज्य की गन्ध भी आर्यों के प्राचीन शास्त्र मे नही मिलती और स्वदेशीय उनकी इस उक्ति पर सिर झुका देते थे। हिन्दुस्तानी शिक्षितो की दृष्टि में संस्कृत भाषा के अन्दर कोई बुद्धिमत्ता की बात ही दिखलाई नही देती थी। राजा राममोहन राय ने उपनिषदो के गौरव को अनुभव कर वैदिक ज्ञान की ओर कुछ निर्देश किया। उनके प्रयत्न से उठाये गये आन्दोलन को बाबू केशवचन्द्र सेन आदि उत्तराधिकारियों ने दबा कर ख्रिष्ट्रीय सैमिटिक संस्कृति की शरण ली, जिससे वैदिक सूर्य के गिर्द घिरे बादल और भी

घने हो गये। परमार्थ को स्वार्थ से अलग करने का मत अधिक से अधिक बढ़ता गया। ऐसे अन्धकारावृत समय में ऋषि दयानन्द ने ऐसा आत्मिक यज्ञ रचा कि उसके अग्निरूपी दूत ने अविद्या के बादलो को छिन्न-भिन्न कर दिया और चकित संसार ने वैदिक सूर्य के दर्शन किये। तब सिद्ध हुआ कि स्वार्थ और परमार्थ, इह लोक और पर लोक, राजनीति और धर्म सब के सब एक ही शरीर के भिन्न-भिन्न आवश्यक अङ्ग हैं। ये बाह्य रूप में एक दूसरे से पृथक् दिखाई देते हुए भी एक ही केन्द्र के गिर्द घूमते हैं और एक ही स्रोत से निकले हुए नाले हैं, जो अन्त को उसी स्रोत मे विलीन हो जाते हैं।

गत वर्षों के राजनैतिक आन्दोलन ने स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्रो को स्वतन्त्र करने का जो मार्ग ऋषि-दयानन्द बतला गये थे, उसी के अवलम्बन से संसार मे सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थ को भारतवर्ष के राजनीतिक नेता तथा आर्यसामाजिक पुरुष मनन करने के उद्देश्य से पढे और तत्ववेत्ता दयानन्द के बतलाये हुए मार्ग पर चलने के लिये उनके अपूर्व ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का स्वाध्याय अवश्य करे; क्योंकि जिस पथदर्शक ने सत्य-मार्ग दिखाया है, वही उस मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का हल भी बतला सकता है।

प० सत्यदेव विद्यालंकार ने इस ग्रन्थ के अन्दर वैदिक राष्ट्रीय भावना को पुष्ट कर 'प्रजातन्त्र राज्य', 'स्वराज्य', 'साम्राज्य', 'चक्रवर्ती राज्य' और 'राष्ट्रसंघ' की व्यवस्था पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है और ऋषि दयानन्द के लेखों का यथास्थान उद्धरण देकर सिद्ध कर दिया है कि

राजनीतिक क्षेत्र में भी साधारण सासारिक नेताओं कि अपेक्षा तत्वदर्शी ऋषि अधिक विश्वसनीय अगुआ बन सकता है।

देहली
२६ पौष सं० १६८१

---श्रद्धानन्द संन्यासी

विषय सूची

१

ऋषि का साम्राज्यवाद

दो युवक पत्रकार शाम के समय, दिनभर की पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर की मेहनत-मजदूरी के बाद, अपने दफ्तर से टहलने को निकले। नागपुर कांग्रेस के बाद का १९२० का वह जमाना था। तब असहयोग-आंदोलन अपने यौवन पर था। एक वर्षमें स्वराज्य प्राप्ति की भावना और कल्पना लोगो के दिल और दिमाग में एक अजीब मस्ती पैदा किये हुये थी। देसी भाषाओं के पत्रों के पत्रकार कुछ स्वभाव से ही उग्र और राष्ट्रवादी होते हैं। लिखने के समान उनकी बात-चीत का भी विषय सिवा राष्ट्रवाद के और क्या हो सकता है ? फिर, यदि ये पत्रकार नवयुवक हों, तो कहना ही क्या है ? मैं अभी गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी हरिद्वार से स्नातक होकर निकला था और मेरे साथी मराठा युवक ने भी कालेज की पढ़ाई के साथ अभी-अभी असहयोग करके इस क्षेत्र में प्रवेश किया था। दोनो हम उमर थे और अकस्मात् दोनो का पेशा या धन्धा भी एक ही था। अगल-बगल मे ही दोनो का दफ्तर था। एक ही प्रेस में दोनों पत्र-"राजस्थान केसरी" हिन्दी का साप्ताहिक और "तरुण महाराष्ट्र" मराठी का साप्ताहिक मुद्रित हुआ करते थे। इससे प्राय: सारा ही दिन आस-पास में गुजरा करता था। शाम को प्राय: रोज हम दोनो एक साथ घूमने जाया करते थे। राजनीतिक विषयों की चर्चा दिल खोल कर हुआ करती थी। गान्धीजी के 'स्वराज्य' शब्द का अभिप्राय उन दिनो में काफी बहस का

विषय बना हुआ था। उस दिन इसी विषय पर चर्चा छिड़ गई। मेरे मित्र "तरुण महाराष्ट्र" के सम्पादक ने मुझ से पूछा कि आप स्वराज्य शब्द से क्या अभिप्राय लेते हैं? बात-चीत का सिलसिला बहुत आगे तक बढ गया। इसी सिलसिले में मैंने कहा कि हम लोगों की राष्ट्रीय भावना या राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा का अन्तिम लक्ष्य तो सारे संसार मे "हिन्दुस्तान का अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य" स्थापित करना है। इससे कममे हमे सन्तोष नहीं हो सकता। मेरे मुंह से ये शब्द सुनते ही वे विस्मय मे पड़ गये। उन्होंने कहा कि फिर तो आप इंग्लैण्ड मे भी हिन्दुस्तान की हकूमत कायम देखना चाहेंगे। मैंने कहा--'जरूर' इसमे सन्देह ही क्या है? हमारा सन्तोष तो तब होगा, जब सारे संसार में और इसी से इंग्लैण्ड मे भी हमारे देश की विजय-वैजयन्ती शान के साथ फहराने लगेगी। केवल अपने देश को अंग्रेजों के हाथों से स्वाधीन कर लेना तो उसकी भूमिका-मात्र है।" मेरे इन शब्दों ने उन्हें और भी अधिक अचंभे में डाल दिया। मैं उनके इस आश्चर्य और विस्मय को समझने में असमर्थ था। बात आगे बढती गई। उन्होंने पूछा कि यह भावना, कल्पना या आकाक्षा मुझ में कहां से पैदा हुई? मैंने सरल स्वभाव से जवाब दिया कि आर्यसमाज की स्थापना इसी भावना, कल्पना या आकाक्षा की आधार-शिला पर की गई है। मेरा यह जवाब उनके लिये और भी अधिक आश्चर्यजनक था। जिस संस्था को उसके अनुयायी और अधिकाश नेता भी जब विशुद्ध धार्मिक एवं समाज-सुधारक संस्था माने हुये हैं और जब उन्होंने राजनीति से पीठ मोड़ कर साप्रदायिक मामलों मे ही रस लेना शुरू किया हुआ है, तब उनका तो कहना ही क्या है, जिन्होंने आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक

ऋषि दयानन्द का सिर्फ नाम सुना है और उनके बारे में कुछ भी जानकारी हासिल नहीं की है। निवास-स्थान पर लौट आने पर मैंने उनको "सत्यार्थप्रकाश" के कुछ पन्ने उलट कर दिखाये, तब तो उनके आश्चर्य का कहना ही क्या था? जिसे वे बाइबिल, कुरान या पुराण के समान केवल धार्मिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थ माने हुये थे, उसमें राजनीति की चर्चा, अपने देश के लिये स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य का पेश किया गया दावा देख कर वे स्तम्भित रह गये। कई महीनों तक यह विषय आपस में चर्चा का विषय बना रहा। अपने मित्रों से मेरा परिचय कराते हुये आम तौर पर वे इसी का उल्लेख किया करते थे। उनके लिये उस दिन से मेरे ये विचार कुतुहल का विषय बन गये।

इसी प्रकार की एक दूसरी घटना १९२४ की, तब की है, जब मथुरा में ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दि मनाई गई थी। इसी शताब्दि के निमित्त से नागपुर में भी भिन्न-भिन्न मुहल्लों में सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया था। टाऊन-हाल के मैदान में अन्तिम सभा की गई। मैंने उसमें स्वामी जी की राजनीतिक महत्वाकांक्षा को प्रकट करने के लिये एक ही बात कही। मैंने कहा कि हिन्दुस्तान की राजनीतिक क्रान्ति के इतिहास में दिलचस्पी रखने वाले श्री श्यामजीकृष्ण वर्मा का नाम तो जानते हैं; लेकिन, उनके गुरु स्वामी दयानन्द का नाम नहीं जानते। वे यह भी जानते हैं कि हिन्दुस्तान की क्रान्तिकारी भावनाओं को उद्दीप्त करने में श्रीश्यामजीकृष्ण वर्मा का बहुत बड़ा हाथ है; लेकिन, वे यह बिलकुल भी नहीं जानते कि उनके हृदय में इन भावनाओं का बीजारोपण करने वाले

उनके गुरु स्वामी दयानन्द थे। स्वामी जी ने ही उनको विदेश भेजा था। महाराष्ट्र में उन दिनो मे पढ़े-लिखे लोग भी आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द का सिर्फ नाम जानते थे। उनके कार्य का उनको बहुत कम परिचय था। नवयुवक मित्रों पर इस घटना के वर्णन का अद्भुत प्रभाव पड़ा और उनमें स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानने की रुचि पैदा हुई। उन्हीं दिनो मे मैंने इस पुस्तक का पहिला संस्करण "दयानन्द दर्शन" के नाम से लिखा था। कई मित्रो को मैंने यह पुस्तक दी। मैंने अनुभव किया कि कोरे धार्मिक एवं सामाजिक प्रचार की अपेक्षा स्वामी दयानन्द के इस राष्ट्रीय दर्शन ने उनको सहसा मोह लिया।

राजनीति से दूर रहने मे ही अपना कल्याण मानने वाले आर्यसमाजी भाई, दुर्भाग्य से जिनके हाथो मे इस समय आर्यसमाज की किस्मत दे दी गई है, राजनीतिक विचार रखने वाले इन पंक्तियों के लेखक सरीखो को कांग्रेसी बता कर आम आर्य जनता की नजरो मे उन्हें गिराना चाहते है। यह कहा जाता है कि ऐसे लोग आर्यसमाज को कांग्रेस का पुछल्ला बना देना चाहते हैं। लेकिन, वे आयने मे अपना मुंह नहीं देखना चाहते और यह नही मानना चाहते कि उन्होंने आर्यसमाज को हिन्दू महासभा सरीखी साम्प्रदायिक संस्था का पुछल्ला बना कर आर्यसमाज को सर्वथा निस्तेज, एकदम अकर्मण्य और निरी साम्प्रदायिक संस्था बना दिया है। तेजस्वी संस्थाओ मे आर्यसमाज की गणना न होने का एकमात्र कारण ऐसे लोगो का आर्यसमाज पर आधिपत्य होना है। आर्यसमाज के हाथो से देश के नेतृत्व की बागडोर निकल गई है। राजनीतिक क्षेत्र मे उसका कोई प्रभाव न रहने से दूसरे क्षेत्रों का नेतृत्व भी उससे छिन गया है। वर्तमान युग

में राजनीति सार्वजनिक जीवन का आत्मा है। उसी की धुरी के चारों ओर बाकी सब समस्यायें घूमती हैं। उसकी उपेक्षा करने वाली संस्थाओ की स्थिति निष्प्राण शरीर की-सी हो जाती है। उनकी महत्वाकाक्षायें मुरझा जाती हैं। दिल की उमंगे फीकी पड़ जाती हैं। चेतना नष्ट हो जाती है। दूसरो को अपनी ओर आकर्षित करने वाली चुम्बक शक्ति बुझ जाती है। आर्यसमाज का डेढ़ सदी का इतिहास ही क्यो, सभी संस्थाओं का इतिहास इसका साक्षी है। सिखों का प्रारम्भ किसी भी रूप मे क्यों न हुआ हो; लेकिन, उनका अभ्युदय, उन्नति और प्रगति तब चरम सीमा पर पहुची, जब दसवें गुरु श्रीगोविन्दसिंहजी महाराजने उनको 'खालसा' या 'अकाली' के नाम से नया जन्म दिया। उसी का परिणाम यह हुआ कि उन वीरों ने उस पंजाब मे सिख साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें आज साम्प्रदायिकता का बोलबाला है और जहा राष्ट्रीयता का पनपना इन दिनो में इतना कठिन माना जाने लगा है कि उसे "हिन्दुस्तान का अलस्टर" कहा जाता है। सिखों मे त्याग, तपस्या और बलिदान का माद्दा आज भी किसी से कम नहीं है। ननकाना और गुरु का बाग आदि मे उन्होंने जिस दिलेरी का परिचय दिया है, वह विस्मयजनक है। लेकिन, उनकी महत्वाकाक्षा आज केवल गुरुद्वारों तक सीमित रह गई है। 'ग्रन्थसाहव' की पूजा करना उनके कर्तव्य-कर्म की अन्तिम रेखा बन गई है। अमृत छका कर कड़ा-कच्छ-कृपाण-कंघा व केश धारण करा कर अपनी मर्दुमशुमारी बढ़ा लेना उनके पुरुषार्थ की चरम सीमा हो गई है। इसी से आज वह तेज, ओज एवं वीर्य नष्ट हो चुका है, जिसके बल पर पंजाब में सिख-साम्राज्य की स्थापना की गई थी। साम्राज्य की आकाक्षा आज है ही कहा? वह

नष्ट हो चुकी है। मराठो मे स्वामी रामदास जी महाराज ने "दासबोध" लिख कर जिस राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा को जन्म दिया था, उसी का परिणाम था कि वे पूना से पानीपत तक चढ़ आए थे और सारे हिन्दुस्तान में मराठा-साम्राज्य को कायम करने का भव्य चित्र उनकी आखों के सामने चौबीसो घण्टे नाचा करता था। छत्रपति शिवाजी महाराज के हृदय मे स्वामी रामदास द्वारा चिंगारी की तरह सुलगाई गई यह भावना इस प्रकार धाय-धाय करके सुलग पड़ेगी,—यह कौन जानता था ? लेकिन, वह बुझ कर गख हो गई है और हर कोई उस पर पैर रख कर निस्संकोच आगे बढ जाता है। क्यो ? केवल इसलिए कि मराठों मे वीरत्व होते हुए भी वह महान् राजनीतिक भावना और आकाक्षा शेष नही रही है। उसका अन्त होने के साथ ही मराठो के तेज का दीपक भी बुझ गया। छत्रपति शिवाजी महाराज की पूना मे मूर्ति को स्थापित करने और शिवाजी मन्दिर बनवाने मे ही उनके अनुयायियों ने अपने पुरुषार्थ की इतिश्री मान ली है। उनके वंशज होने के नाते अपने को 'छत्रपति' कहाने वाले भी दूसरो के छत्र के नीचे गुलाम बने हुए हैं। इस्लाम का तब अभ्युदय हुआ, जब उसके पीछे विश्वव्यापी साम्राज्य कायम करने की प्रबल भावना काम कर रही थी। तब स्पेन से लेकर अफ्रीका और एशिया तक मे उसका विस्तार हो गया था। खण्डहरो की तरह उस महान् साम्राज्य के अवशेष मुस्लिम राष्ट्रों का विश्व की राजनीति मे आज भी कुछ कम गौरव या महत्व नहीं है। लेकिन, उन दिनो की राजनीतिक महत्वाकाक्षा के भी खण्डहरो की ही सूरत मे शेष रह जाने से उनका अस्तित्व इतना अर्थहीन हो गया है कि वे युरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हाथ का खिलोनामात्र रह गए हैं।

स्वतन्त्र रूप में विश्व की राजनीति में अपने प्रभाव को काम में लाना उनके लिए सम्भव नहीं रहा है। गौतम बुद्ध का सन्देश सब संसार में चारों ओर तब फैला, जब कि इस देश में सम्राट् अशोक अपना साम्राज्य कायम कर चुके थे। यदि इतने बड़े साम्राज्य की शक्ति बौद्धों की पीठ पर न होती, तो बौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान के बाहर फैल नही सकता था। आज हिन्दू यदि अस्सी करोड़ होने का दावा कर सकते हैं, तो सिर्फ इसलिये कि सम्राट् अशोक के सारे साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उनकी सहायता के लिए किसी समय उनकी पीठ पर थी। वह शक्ति नष्ट हुई कि इस देश मे बौद्ध-धर्म सिर्फ इतिहास का विपय रह गया।

पिछले इतिहास के पन्नों को पलटने का कष्ट न उठा कर यदि हम वर्तमान इतिहास का ही कुछ अनुशीलन कर सके, तो सहज मे यह समझ में आ जायगा कि ईसाय्यत का इतना प्रचार ईसाई पादरियो ने नही किया, जितना ईसाई-साम्राज्यो ने किया है। युरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने साम्राज्यो के विस्तार के लिये 'बाईबिल' और ईसाई पादरियों से गोला-बारूद और फौजों की अपेक्षा भी कहीं अधिक काम लिया है। एक विचारक ने साम्राज्यवादी युरोपियन राष्ट्रो के साम्राज्य की समृद्धि के तीन साधन गिनाये हैं, जिन्हें उसने " बाइबिल, बियर और बेयोकेट " नाम दिया है। चीन को अपने प्रभाव में लाने के लिये वहा फौजों से पहिले ईसाई पादरी भेजे गये और वहा के लोगो को ईसाई बनाने के साथ-साथ अफीमची भी बनाया गया। हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज की जड़ों को पाताल तक पहुंचाने के लिये ईसाई पादरियों की टोलियों पर टोलियां भेजी गई। फौजी छावनियों की अपेक्षा ईसाई मिशनों और ईसाई स्कूलों एवं कालेजो

की संख्या यहा कहीं अधिक है। इटली का तानाशाह मुसोलिनी और उस के देशवासी स्वयं पोप के आदेशों और बाइबिल के उपदेशों पर आचरण नहीं करते· लेकिन, अबीसिनिया की फतह के बाद वहा इतनी फौजे नही भेजी गई, जितने पादरी भेजे गये। शस्त्रास्त्र की शक्ति, दमन एवं कानून के आतंक और पुलिस एवं अदालत के रौब से भी अधिक महत्व लोगों के दिल और दिमाग को जीतने मे है,--इस सचाई को ईसाई-राष्ट्र खूब समझते हैं और वे यह भी जानते हे कि ईसाय्यत का प्रचार इसका सब से बढ़िया साधन है। इसीलिये ईसाई राष्ट्रों के साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ ईसाय्यत का प्रचार भी स्वतः ही बढ़ता चला गया। ईसाई राष्ट्रों मे अपने साम्राज्यों के विस्तार की भावना खत्म हुई कि ईसाय्यत का दीपक भी गुल हो जायगा। ईसाय्यत ईसाई राष्ट्रो के लिये जितनी सहायक साबित हुई है, उतना ही बल ईसाई राष्ट्रो से और उनकी साम्राज्य-वादी महत्वाकाक्षा से ईसाय्यत को मिला है। वर्तमान विश्वव्यापी महायुद्ध मे जो आवाज सब से ऊंची सुनने मे आ रही है, वह यह है कि यदि कहीं नाजीवाद और फासिटीवाद विजयी हो गये, तो ससार में से ईसाय्यत का नामोनिशा मिट जायगा। नाजीवाद और फासिटीवाद को ईश्वर, धर्म, सभ्यता और मनुष्यता का दुश्मन बता कर यह भय एवं आतंक फैलाया जा रहा है कि वे संसार मे से इन सबको मिटा देना चाहते हैं। सचाई यह है कि यदि कहीं वे विजयी हो गये, तो ईसाई राष्ट्रों का साम्राज्य, प्रभुत्व एव वर्चस्व दुनिया मे से उठ जायगा और उसी के साथ ईसाय्यत का विस्तार भी मिट जायगा। आज संसार मे ईसाय्यत का जो बोलबाला है, उसका कारण यही है कि उसकी पीठ पर ईसाई राष्ट्रो के साम्राज्य की पूरी शक्ति है।

ऋषि दयानन्द इस शक्ति के महत्व को खूब समझते थे। वे यह भली प्रकार जानते थे कि देश में स्वराज्य और विदेशो मे भी अपने साम्राज्य के होने का महत्व क्या है? उनका धर्म कोरा कर्मकाण्डी सम्प्रदाय न था। वे वस्तुत: राजधर्म के उपासक थे। उनका धर्म व्यक्ति के लिये है और व्यक्तियो की ईकाई के बाद जब समष्टि का सवाल उपस्थित होता है; तब वे उस राजधर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिसकी पहिली संख्या स्वराज्य है और उससे अगली है अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य। उनकी यह कल्पना और भावना उनके समस्त लेखों, समस्त ग्रन्थों और समस्त जीवन मे ओतप्रोत है। जो पाठक उनके लेखो, भाषणों, ग्रन्थो और जीवनी के विस्तार मे नही जा सकते, वे यदि एक वार "सत्यार्थप्रकाश" के ही पन्ने उलट जाय, तो उन्हे हमारा अभिप्राय सहज मे समझ मे आ जायगा। "सत्यार्थप्रकाश" को आम तौर पर आर्यसमाज का बाईबिल मान लिया गया है। लेकिन, उसका वास्तविक महत्व बाईबिल से कही अधिक है। मनुष्य, समाज और राष्ट्र के जीवन का उसमे वह नक्शा खींच दिया गया है, जिसको सामने रख कर अभ्युदय और निश्रेयस दोनों का सम्पादन किया जा सकता है। "सत्यार्थप्रकाश" के छठे सम्मुल्लास में तो पूरी तरह राज-धर्म अथवा राजनीति की ही चर्चा की गई है। उसका प्रारम्भ इन शब्दो से किया गया है कि "अथ राजधर्मान् व्याख्यास्याम:" अर्थात् इस प्रकरण मे राज-धर्मों की व्याख्या करेंगे। मनुस्मृति के जिन श्लोकों से इस प्रकरण को शुरू किया गया है, उसमे कहा गया है कि अब उन राजधर्मों को कहेंगे, जिनमे यह कहा गया है कि राजा किस प्रकार का

होना चाहिये, कैसे कोई राजा बन सकता है और कैसे वह सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ? धार्मिक किंवा साम्प्रदायिक ग्रन्थ मे इस प्रकरण की और राज-धर्मों की व्याख्या की क्या जरूरत थी ? फिर ग्यारहवे समुल्लास मे मतमतान्तर के खण्डन के बाद महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल तक के उन १२४ राजाओं की नामावली दी गई है, जिन्होंने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को राजधानी बना कर यहाँ ४१५७ वर्ष ६ मास और १४ दिन तक राज्य किया है। जब आर्य सिद्धान्त के अनुसार वेदों मे इतिहास नही माना गया है, तब आर्य सिद्धातो की व्याख्या करने वाले इस ग्रन्थ मे और मतमतान्तर के खण्डन के प्रकरण के अन्त मे इस इतिहास को देने की जरूरत नही होनी चाहिये थी। लेकिन, सच तो यह है कि "सत्यार्थप्रकाश" सिर्फ आर्य सिद्धान्तो की व्याख्या करने वाला कोरा धार्मिक ग्रन्थ नही है। फिर स्वामी जी ने मतमतान्तर का खण्डन भी कोरी धार्मिक दृष्टि से नही किया है। इस प्रकरण को इस इतिहास के साथ समाप्त करने का यही अभिप्राय है कि सर्वसाधारण मे फिर से अपने देश मे अपना वैसा ही राज्य कायम करने की इच्छा या भावना पैदा हो, जैसा कि युधिष्ठिर से यशपाल तक चार सौ सदी से भी अधिक समय तक कायम रहा। इस खण्डन-मण्डन के प्रकरण के समान अन्य सब प्रकरणो मे भी, "सत्यार्थ-प्रकाश" मे अथ से इति तक, सर्वत्र यही भावना ओतप्रोत है। केवल ईश्वर, वेद, धर्म, आचार, विचार, सदाचार और कर्मकाण्ड तक आर्यसमाज को सीमित रखने मे अपना और इसी से आर्यसमाज का भी कल्याण मान कर इस चेष्टा मे लगे हुए लोग यह भूल जाते हैं कि "सत्यार्थ-

प्रकाश” मे पहिले पॉच समुल्लासो मे व्यक्तिगत अभ्युदय की चर्चा
करने के बाद जब समष्टि के अभ्युदय की चर्चा शुरू की गई है, तब
सबसे पहिले राजधर्म की व्याख्या की गई है । वेद, ईश्वर, जगत् की
उत्पत्ति, विद्या, अविद्या, बन्ध, मोक्ष, आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य
और मतमतान्तर का खण्डन आदि के प्रकरण उसके बाद मे रखे गये
हैं । इसी से राजधर्म या राजनीति का महत्व प्रगट है । “सत्यार्थप्रकाश”
मे जहा भी कही स्वदेश की चर्चा की गई है, वहा ऐसा प्रतीत होता है,
जैसे देशभक्ति का स्रोत फूट निकला हो । जहा कही देश की पराधीनता
से पैदा हुई दुर्दशा का वर्णन किया गया है, वहा ऋषि के हृदय की
व्यथा फूट पड़ती है और आखो से अश्रुधारा बह निकलती है । अपने
देश के प्राचीन गौरव का वर्णन पढ़ कर पाठक का हृदय भी अभिमान
से फूला नही समाता ।

सच तो यह है कि ऋषि के कार्य का राजनीतिक महत्व इस
दृष्टि से कही अधिक है कि इस देश मे अंग्रेजी राज के कायम होने के
बाद वे पहिले व्यक्ति हैं, जिन्होने देशवासियों के हृदय मे स्वाभिमान और
स्वदेशाभिमान के दीपक को बुझते-बुझते बचाया है । इस महत्व की
कीमत तब हमे कुछ पता चलती है, जब हम यह देखते हैं कि इसी को
लेकर जर्मनी के तानाशाह हर हिटलर ने अपने देश या राष्ट्र को वर्साई
की सन्धि की कब्र मे से निकाल कर उन्नीस-बीस वर्षो मे ही इतना
शक्तिशाली, बलशाली, समृद्ध और सम्पन्न बना दिया है कि वह सारे
विश्व के लिए भीषण संकट का कारण बन गया है । वह जिधर मुंह
फिराता है, उधर ही प्रलय-सी मच जाती है । उस ने जर्मन-राष्ट्र और

जर्मन-साम्राज्य का जो सुनहरा चित्र जर्मनों के सामने अङ्कित किया, उससे उनके हृदयों में अदम्य राष्ट्रीय भावना समा गई। इसी प्रकार प्राचीन रोमन साम्राज्य की फिर से स्थापना करने की कल्पना ने इटालियनों के हृदयों में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना को भर दिया। जापानियों के सम्मुख जापानी साम्राज्य का जो स्वप्न उपस्थित कर दिया गया है, उससे उनमें वह उन्माद पैदा हो गया है कि उनमें सयुक्त राष्ट्र अमेरिका सरीखे राष्ट्र को भी ललकारने की सामर्थ्य समा गई है। यह राष्ट्रवाद का चमत्कार है। राष्ट्रीय भावना का अनिवार्य परिणाम है। ऋषि दयानन्द इस देश के निवासियों में इसी राष्ट्रीय भावना को और इसी राष्ट्रवाद को जगाना चाहते थे। वेद-मन्त्रों की राष्ट्रीय भावनापरक व्याख्या करने वाले वे पहिले ऋषि है। अपने आराध्य-देव ईश्वर की राजा, महाराजा और महाराजाधिराज तथा सम्राट् आदि के नामों से आराधना करने की सुन्दर एवं उत्कृष्ट परम्परा के सूत्रपात करने से भी उनकी राष्ट्रीय भावना का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। वेदभाष्य और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पढ़ने का जिनके पास समय नहीं है, वे एक बार 'आर्याभिविनय' को ही उठा कर देख जाय, तो उनको ऋषि की उस उत्कृष्ट राष्ट्रीयता का पता चल जायगा, जिसका स्रोत उन्हे उन वेदमन्त्रो मे मिला है, जिन्हे केवल धार्मिक प्रार्थना का ही साधन माना जाता रहा है। इसी प्रकार "गोकरुणानिधि" पुस्तक उनकी राष्ट्रीयता के आर्थिक पहलू का एक जीता-जागता चित्र आंखों के सामने सहसा उपस्थित कर देती है।

इन पंक्तियों के लेखक को ऋषि की इस राष्ट्रीयता ने और स्वदेश

के लिये स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की उनकी महत्वाकाङ्क्षा ने उसके विद्यार्थी जीवन में ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। जितनी अधिक उसने उनको जानने व समझने की कोशिश की, उसके हृदय पर उनके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की छाप उतनी ही गहरी पड़ती चली गई। जब-जब उसने "सत्यार्थप्रकाश" का स्वाध्याय किया, उस पर उनकी राष्ट्रीयता का रंग गाढ़ा ही होता गया। १६२० के वर्धा के जेल-जीवन में उसने एक बार फिर उसका स्वाध्याय खूब मन लगा कर किया और उसी मनन का परिणाम इस पुस्तक का पहिला संस्करण "दयानन्द दर्शन" था। इस लिये वह यह नहीं मान सकता कि जो लोग स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता पर मुग्ध हैं और आर्यसमाज में राष्ट्रीय तेज को ओतप्रोत हुआ देखना चाहते हैं, वे सब सिर्फ़ कांग्रेसी होने से ही ऐसा चाहते हैं अथवा वे आर्यसमाज को कांग्रेस की पूंछ बना देना चाहते हैं। सच यह है कि स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता से ही वे कांग्रेसवादी बने हैं और आज वे अपने देश की मुक्ति के लिये होने वाली लड़ाई में पहिली पंक्ति में खड़ा होने में ही अपना परम सौभाग्य मानते हैं। आर्यसमाज यदि अपने संस्थापक ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता से विमुख न हुआ होता, तो देश की राष्ट्रीय किंवा राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, आश्चर्य नहीं कि, कांग्रेस की जरूरत ही न हुई होती। पानी जैसे अपना रास्ता आप बना लेता है, वैसे ही मानवीय भावनायें भी अपना रास्ता स्वयं बना लेती हैं। वे किसी नदी, नाले व नहर के भरोसे तालाब की चार दीवारी में बन्द नहीं रह सकतीं। आर्यसमाज में जब राष्ट्रीय भावनाओं के पनपने की गुंजाइश न

रही, तब उन्होंने अपना रास्ता बनाया और कांग्रेस के क्षेत्र में उन्हें पनपने का पूरा अवसर मिल गया। ऋषि के राष्ट्रवाद किंवा साम्राज्यवाद को पनपने के लिये भले ही आज आर्यसमाज मे गुञ्जाइश न रही हो लेकिन, कांग्रेस मे वह पूरी तरह पनप रहा है। स्वामी दयानन्द की राजनीति कांग्रेस में खूब फल-फूल रही है। स्वदेशी, स्वराज्य, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के जो बीज ऋषि अपने हाथों इस भूमि मे बखेर गये हैं, उनके फूटते हुए अंकुरो की रक्षा भले ही आर्यसमाज न कर रहा हो, लेकिन, उनकी रक्षा बराबर हो रही है और उन अंकुरों से पैदा होने वाले पौदे आकाश मे सिर ऊँचा कर निरन्तर बढ रहे हैं। ऋषि की राष्ट्रीयता से गाँधीजी की राष्ट्रीयता का बाहरी रूप कितना भी भिन्न क्यो न दीख पड़ता हो; लेकिन, उनकी अन्तरात्मा भिन्न नहीं है, एक ही है। इसीलिये यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि ऋषि का राष्ट्रीय मिशन आर्यसमाज के उदासीन पड़ जाने पर भी पनप रहा है, फल-फूल रहा है और चारो ओर फैल रहा है। उनकी राष्ट्रवादी एवं साम्राज्यवादी महत्वाकाक्षा देशवासियो के हृदयो में पूरी तेजी के साथ समा रही है।

२
ऋषि का राष्ट्रवाद

साम्राज्यवाद की पहिली सीढ़ी राष्ट्रवाद है। इसी से ऋषि दयानन्द ने अपने देश के लिये अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना करते हुए जो आदेश दिया है, वह यह है कि "मनुष्यैर्द्वाभ्या प्रयोजनाभ्या प्रवर्तितव्यम् । प्रथमं अत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्या चक्रवर्तीराज्यश्री-प्राप्तिकरणम् । द्वितीयं सर्वा विद्याः पठित्वा तासा सर्वत्रप्रचारीकरणम् ।" इसका अभिप्राय यह है कि "मनुष्य को सदा दो प्रयोजन अपने सामने रख कर उनकी पूर्ति के लिए अपना सब व्यवहार करना चाहिए। पहिला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके और शरीर को स्वस्थ रख कर वह चक्रवर्ती राज्यरूपी श्री का सम्पादन करे और दूसरा यह कि वह सब विद्याओं को पढ़ कर सब जगह उनका प्रचार करे ।" यजुर्वेद के पहिले अध्याय के छठे मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने ये पंक्तिया लिखी हैं। राजनीतिक भावना को और स्वराज्य की स्थापना को विद्या-प्रचार या धर्म-प्रचार से पहिला स्थान दिया गया है। मनुष्य-जीवन के लिये निर्धारित किए गए कार्यक्रम में उसका उन्होंने पहिला स्थान रखा है। ऋषि दयानन्द के हृदय में स्वदेश का, मातृभूमि का, आर्यावर्त का सर्वोपरि स्थान था। आज कहने वाले आवेश में आकर, जनता की धार्मिक भावनाओ को उभाड़ने के लिए और श्रोताओ से तालिया पिटवाने के लिए यह कह जाते हैं कि उनके एक हाथ में यदि स्वराज्य और दूसरे में वेद हो, तो वे

स्वराज्य को हाथ से छोड़ देंगे लेकिन, वेद को नहीं; क्योंकि वेद से वे स्वराज्य हासिल कर सकते हैं और स्वराज्य से वेद उन्हे नहीं मिल सकेगा। ऐसा कहना ऋषि दयानन्द की भावना, कल्पना, आदेश और उपदेश के सर्वथा विपरीत है। उनकी नजरो में 'स्वराज्य' की कीमत 'वेद' से किसी भी अंश मे कम नही थी। उनके लिए स्वराज्य या चक्रवर्ती राज्य का स्थान पहिला और वेद अथवा विद्या का दूसरा है। उनकी देशभक्ति या राष्ट्रभक्ति की भावना इतनी पवित्र, उत्कृष्ट और सर्वव्यापी थी कि उनके सारे जीवन मे और जीवन के समस्त कार्यों मे मनुष्य के देह मे रुधिर की तरह समाई हुई थी। "सत्यार्थप्रकाश" के ग्यारहवे समुल्लास मे वे लिखते हैं कि "यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल मे दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्ण आदि रत्नो को उत्पन्न करती है।" · .... ·" जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" ग्यारहवा समुल्लास खण्डनात्मक है और ये पंक्तिया भी खण्डनात्मक प्रकरण मे से ही ली गई हैं। प्रार्थनासमाजियो और ब्राह्मसमाजियों की आलोचना करते हुए वे कितनी वेदना और व्यथा के साथ यह लिखते हैं कि " इन लोगों मे स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है।" ...."भला जब आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए है और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, तब अपने माता-पिता व पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतो पर अधिक झुक जाना

और एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?" स्वदेश, स्वभाषा तथा स्वधर्म से प्रेम और अपने पूर्वजों के लिए गौरव एवं अभिमान ऊपर की पंक्तियों के एक-एक शब्द से टपक रहा है।

कितने दुःख,व्यथा और वेदना के साथ वे लिखते हैं कि "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयम्वर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" "जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"... ...."आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डूबो मारेगा। उसी दुष्ट गोत्र-हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमात्मा कृपा करें कि यह राज रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।"........इसी प्रसंग में ऋषि लिखते हैं कि "जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।" ये पंक्तियां भक्ष्याभक्ष्य और आचार-अनाचार के प्रकरण दसवें समुल्लास में से ली गई हैं। इसी प्रकरण में समुद्र-यात्रा की चर्चा करते हुये ऋषि ने लिखा है कि "क्या विना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य व व्यापार

किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है ? जब स्वदेश मे ही स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश मे व्यवहार व राज्य करें, तो बिना दुःख और दारिद्र्य के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।" ....इसी प्रसंग मे आगे वे कहते हैं कि "इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।" दूसरे देशो मे, द्वीप-द्वीपान्तर और देश-देशान्तर मे, राज्य एवं व्यापार करते हुये स्वदेश को समृद्ध एवं वैभवशाली बनाने की भावना ऋषि दयानन्द के हृदय मे किस प्रकार भरी हुई थी,—यह ऊपर की पंक्तियो से बिलकुल स्पष्ट है। उस पर किसी प्रकार की टीकाटिप्पणी करने की जरूरत नहीं।

स्वराज्य की कल्पना

ऋषि दयानन्द की स्वराज्य-कल्पना कितनी सुन्दर, उत्कृष्ट और विशुद्ध है, यह भी उनके लेखो से स्पष्ट है। आज से ५०-५५ वर्ष पहिले जब स्वामीजी ने स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की चर्चा अपने लेखों मे की थी, तब 'स्वराज्य' का विचार भी किसी के दिमाग मे पैदा न हुआ था। कांग्रेस के भीष्म पितामह दादाभाई नौरोजी ने १९०६ मे कांग्रेस मे इस शब्द का उच्चारण किया था। होमरूल आन्दोलन के दिनो मे इस शब्द का कुछ खुला प्रयोग होना शुरू हुआ था। १९१६ मे लखनऊ-कांग्रेस में "स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार" होने की घोषणा करते हुए उसके प्राप्त करने का दावा लोकमान्य तिलक ने पेश किया था। १९२८ मे कांग्रेस ने लाहौर मे पूर्ण स्वराज्य की

घोषणा करके उसे अपने ध्येय के रूप में स्वीकार किया। लेकिन, स्वामी दयानन्द ने आधी सदी से भी पहिले जिस स्वराज्य की चर्चा की थी, उसका स्वरूप उनके अत्यन्त सरल, सीधे और साफ शब्दों में यह था कि "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय एवं दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

ऋषि दयानन्द ने यह विचार पश्चिम की उस शिक्षा-दीक्षा से नहीं लिया था, जिसका बहुत बड़ा अहसान अंग्रेज-शासकों की ओर से हमारे सिरों पर आम तौर पर लाद दिया जाता है और हम भी बड़े अदब के साथ यह मान लेते हैं कि इस देश में पैदा हुई राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक आकाक्षा और स्वराज्य की इच्छा इस देश को ब्रिटिश शासन की देन है। यह सौभाग्य ही समझना चाहिये कि ऋषि अंग्रेजी से सर्वथा अनभिज्ञ थे और उनकी अगाध विद्वत्ता का आधार एकमात्र संस्कृत का अध्ययन और संस्कृत-ग्रन्थों का स्वाध्याय था। न वे इंग्लैंड बैरिस्टरी पास करने गये और न यहां ही उन्होंने किसी अंग्रेजी स्कूल या कालेज में शिक्षा पाई। इसी से उनका जो कुछ भी था, वह अपना था, विशुद्ध भारतीय था और विदेशी प्रभाव से सर्वथा रहित था। वेद की ऋचाओं से, स्मृति ग्रन्थों के श्लोकों से और ऋषि-मुनियों के आप्त वचनों से उन्होंने राष्ट्रवाद की शिक्षा और दीक्षा ली थी। उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। अथर्ववेद (१०-७-३१) का एक मन्त्र यहां दे देना बस होगा। वह यह है कि "यदजः प्रथमं संबभूव, सह

त्वत्स्वराज्यभियाय । यस्मन्नान्यत्परमस्ति भूतम् ।" अर्थात् "जब कि कर्मयोगी प्रजागण सब से प्रथम संगठित होता है, तब वह स्वराज्य प्राप्त करता है, जिससे श्रेष्ठ दूसरा कोई राज्य नही है ।" इस वेद मन्त्र के आशय को ऋषि ने खोलकर उन शब्दों में दे दिया है, जो कि ऊपर दिये गये हैं । इससे दो भाव प्रगट होते हैं । एक तो यह कि राष्ट्र या स्वराज्य के लिये संगठन पहली शर्त है । देशवासियो के संगठित हुए विना राष्ट्रीय भावना न पनप सकती है और न सुदृढ हो सकती है । विना उसके 'स्वराज्य' का सम्पादन नही किया जा सकता । दूसरा भाव यह है कि 'सुराज्य' 'स्वराज्य' का स्थान नही ले सकता; बल्कि अपना राज्य कुछ खराब भी क्यों न हो, वह परायों, विदेशियो और आक्रान्ताओं के सुराज्य यानी अच्छे से अच्छे राज्य से भी कहीं अधिक अच्छा है । मतमतान्तर के आग्रह से रहित, जैसा कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा को लेकर अंग्रेज अपने राज्य को बताते हैं; अपने पराये का पक्षपातशून्य, जैसा कि अपनी अदालतों के न्याय की दुहाई देते हुए अंग्रेज अपने शासन को कहते हैं और प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ जैसा कि अपनी हकूमत के बारे मे आम तौर पर अंग्रेज दावा पेश करते हैं,—महर्षि कहते हैं कि विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है । कोई कितना ही करे, जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है । कितनी सुन्दर यह कल्पना है, कितनी उज्ज्वल यह भावना है और कैसा उत्कृष्ट यह राष्ट्रवाद है ? अंग्रेजी राज्य को इस कसौटी पर कसने की जरूरत नही । स्वामी दया-नन्द का अनुयायी इस या किसी भी विदेशी राज्य का भक्त नहीं हो

सकता। यदि वह उसका भक्त है, तो वह अपने को स्वामी दयानन्द का अनुयायी और सच्चा आर्यसमाजी नहीं कह सकता।

साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्य

ग्यारहवे समुल्लास से "सत्यार्थप्रकाश" के खण्डनात्मक प्रकरण का आरम्भ होता है। उसकी प्रारम्भिक पंक्तियो से ऋषि दयानन्द की उस भावना का पूरा परिचय मिल जाता है, जिससे प्रेरित होकर उनको मतमतान्तर के खण्डन का कठोर, कटु और अप्रिय कार्य करने के लिये मजबूर होना पड़ा। उसके प्रारम्भ में ही ऋषि लिखते हैं कि "सृष्टि से लेकर पाच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल मे सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माडलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे।"........"स्वायम्भुव राजा से लेकर पॉडवों पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा, तत्पश्चात् परस्पर के विरोध से लड़ कर नष्ट हो गये, क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगो का राज्य बहुत दिन नहीं चलता।" मैत्र्युपनिषद के कुछ वाक्य उद्धृत करने के बाद आप लिखते हैं कि "इत्यादि प्रकरणो से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य-कुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानो का अभाग्योदय होने से राज्य भ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रात हो रहे हैं।" आठवें समुल्लास में भी ऋषि ने लिखा है कि "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों में राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किंतु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय

नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियो के पादाक्रान्त हो रहा है । कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दैव जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ जाता है।" हिटलर और मुसोलिनी ने जैसे अपने देशवासियो के सामने जर्मन-साम्राज्य और रोमन-साम्राज्य के गत वैभव एव गौरव की गाथाये उपस्थित करके उनके हृदयो मे राष्ट्रवाद की भावना को पैदा किया है, ठीक वैसे ही ऋषि दयानन्द इन सब सचाइयो को उपस्थित करके अपने देशवासियों के हृदयो मे उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाओ को जगाना चाहते थे। जिन लोगों ने लाखों वर्षों तक संसार मे अखण्ड और सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य का उपभोग किया है, वे आज गुलाम बने हुए हैं। उनके हृदयो मे यदि अपनी गुलामी के प्रति तीव्र घृणा पैदा हो जाय और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की महत्वाकाक्षा उनके हृदयो मे समा जाय, तो उनका दमन करने का सामर्थ्य ससार मे किसको हो सकता है? यही स्वाभिमान और महत्वाकाक्षा ऋषि दयानन्द अपने देशवासियो की नस-नस में भर देना चाहते थे। आज हिटलर और मुसोलिनी की आकाक्षाओ ने आसुरी वृत्ति धारण कर ली है। वे सारे संसार को अपना गुलाम बना लेना चाहते हैं। इसी प्रकार साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साम्राज्य का लक्ष्य दूसरो का शोषण, उत्पीडन और दमन रहा है। उनकी हकूमत ने दूसरो को नंगा, भूखा, दरिद्र और दुःखी बनाया है। पूंजीवादी साम्राज्यों ने दूसरों के पेट पर पैर रख कर अपना पेट भरा है। लेकिन, ऋषि के सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना यह नहीं है। पाचवे समुल्लास में राजधर्म की व्याख्या करने के बाद उसके अन्त मे वे लिखते हैं कि "यह संक्षेप

से राजधर्म का वर्णन यहा किया है। विशेष वेद, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय में और शुक्रनीति तथा विदुर प्रजागर और महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तको मे देख कर पूर्ण राजनीति को धारण कर के माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राजा राज्य करें और यह समझे कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम।" हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् है। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।" जो राजा या सम्राट् अथवा उसके देशवासी राज्य या साम्राज्य से मदान्ध न होकर सदा यह याद रखेंगे कि वे भी किसी के किंकर, भृत्य अथवा नौकर हैं, वे सहसा अन्याय, अत्याचार और पापाचार करने पर उतारु नहीं हो सकते। उनके सामने तो सदा यही आदर्श रहेगा कि हम तो संसार में परमात्मा के सत्य और न्याय की प्रवृत्ति को फैलाने के लिये उसके सिर्फ निमित्तमात्र हैं। जिसने अपने को भगवान् का निमित्त बना और मान लिया, वह तो अर्जुन के समान अपने को कृष्ण के अर्पण कर देगा और तब उसके हाथो से इस संसार मे कुछ भी अन्याय, पाप व अत्याचार न हो सकेगा। अपने को भगवान् के अर्पण कर उसका निमित्तमात्र मान लेने की भावना आज के एक दम गिरे हुये जमाने मे भी हिन्दू राज्यों मे प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। प्रायः सभी हिन्दू राज्यो में कोई न कोई बड़ा देवी, देवता, मन्दिर अथवा भगवान् माना ही जाता है। प्रचलित भाषा मे यद्यपि उसको राज का मन्दिर कहा जाता है; लेकिन, वास्तविकता यह है कि सारा ही राज्य उसका

माना जाकर राजा या महाराजा सिर्फ उसके प्रतिनिधि माने जाते हैं। टिहरी नरेश को 'बोलते बद्रीनाथ' कहने या मानने का और क्या मतलब है? त्रावणकोर का राज्य भगवान् पद्मनाभ का माना जाता है। प्रतिदिन सवेरे महाराज उसके दर्शन करने इस लिए जाते हैं कि वे राज्य शासन के संचालन के लिये प्रतिदिन उनसे आदेश एवं आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। राजस्थान तथा अन्य प्रदेशों के प्रायः सभी हिन्दु राज्यों में यही व्यवस्था है। लेकिन, आज तो यह भावना भी हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की अन्य रुढ़ियो एवं परम्पराओं के समान केवल एक रुढ़ि और परम्परा रह गई है। उसकी आदर्शभूत आन्तरिक भावना सर्वथा नष्ट हो चुकी है। राजाओं ने राज्यो को अपनी निजी सम्पत्ति मानकर साहूकारों एवं जमीदारों के समान उनका उपभोग करना शुरू कर दिया है। अवस्था कितनी ही विकृत क्यों न हो गई हो, उसकी वजह से प्राचीन व्यवस्था एवं आदर्श को बुरा नहीं बताया जा सकता और उसकी उत्कृष्टता मिट नही जाती। ऋषि दयानन्द के सामने यही आदर्श था और इसी से प्रेरित होकर उन्होंने अपने देश के पॉच हजार वर्ष पहिले नष्ट हुए गौरव की भावना को देशवासियों के हृदयों मे जगाने की कोशिश की थी। इस स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना को उद्दीप्त करना ही उनकी राजनीति का सार कहा जा सकता है। संसार मे सत्य और न्याय की प्रवृत्ति हमारे हाथो से तभी हो सकती है, जब हमारे हाथों में सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की बागडोर हो,—इस सचाई की ओर ऋषि ने इस प्रकरण मे भी हमारा ध्यान एक बार फिर आकर्षित किया है। जो लोग आर्यसमाज को राजनीति से सर्वथा दूर और अलिप्त

रख कर संसार में सत्य और न्याय की प्रवृत्ति के पैदा करने की इच्छा किये हुये हैं, वे कितनी बड़ी भूल में हैं ? क्या वे इसको जानने और समझने की कोशिश करेंगे ?

वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना

स्वराज्य किंवा साम्राज्य की कल्पना या भावना को देशवासियों के हृदयों में उभारने के लिये ऋषि ने वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थनाओं का जो सूत्रपात किया है, वह उनकी महान् राष्ट्रीयता की सब से प्रबल साक्षी है। उनकी उद्भट राष्ट्रीयता, देशप्रेम और राष्ट्रभक्ति का स्रोत वे वेदमन्त्र हैं, जिन्हें सिर्फ प्रार्थना के मन्त्रों के रूप में लिया जाता रहा है और यह समझा जाता रहा है कि वे जीवन की सिर्फ आध्यात्मिक जरूरत को पूरा करने के लिये हैं। इधर आर्यसमाजियो में भी यह बीमारी पैदा हो गई है कि वे वेदों को सार्वभौम मानकर यह समझ बैठे हैं कि उनका एकदेशीय राजनीति से कुछ भी सम्बन्ध हो नहीं सकता। देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति, स्वराज्य की भावना, स्वाधीनता की इच्छा और स्वतन्त्रता की आकांक्षा के एकदेशीय होने से ही वेदमन्त्रों के साथ उनका कोई सम्बन्ध होने की बात अनेक आर्यसमाजी स्वीकार ही नहीं करते; बल्कि वे उसका विरोध करने पर आमादा हो जाते हैं। लेकिन, उनके मत का समर्थन स्वामी दयानन्द के लेखों से नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द की विशाल भावना में उनकी इस संकुचित कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है। यह उसके सर्वथा विपरीत और विरोधी है।

आज हिटलर और मुसोलिनी की जिस लालसा को आसुरी और महत्वाकांक्षा को राक्षसी कह कर उसकी निन्दा की जाती है, वह वेदमन्त्रों में भी

प्रगट की गई है। हम रोज दिनमें बारह बार यह प्रार्थना करते हैं कि "योऽस्मान् द्वेष्टि,य वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।" अपने भगवान् से हम यह कहते है कि जो हम से द्वेष करें और जिससे हम द्वेष करें, उसे हम आपके जबड़े मे इसलिये देते हैं कि आप उसका नाश कर डाले। इस प्रार्थना का और क्या अभिप्राय है? मानसिक शुद्धि के लिये जिन मन्त्रो से मनसा परिक्रमा का सन्ध्या मे विधान किया गया है, उस के सभी मन्त्रों मे इस प्रार्थना का समावेश किया गया है। छः बार सवेरे और छः बार शाम को यह प्रार्थना की जाती है। इसकी व्याख्या जिस अद्‌भुत ढंग से आर्य विद्वान् करते हैं, उसकी चर्चा हम यहा नही करना चाहते और न हम किसी बहस मे पड़ना चाहते हैं। हम जिस अभिप्राय की ओर संकेत कर रहे हैं, वह स्पष्ट और सन्देह से रहित है। ऋषि का किया हुआ सारा ही वेद भाष्य हमारे अभिप्राय का सोलहो आना समर्थक है। जो व्यक्ति अपने आराध्य देव का राजा, महाराजा, सम्राट् आदि के नामो से स्मरण करता है, वह किसी पराये की पराधीनता कभी स्वप्न मे भी स्वीकार नहीं कर सकता और उसे स्वदेश का पराधीन रहना एक क्षण के लिये भी सहन नहीं हो सकता। ऋषि दयानन्द की ऐसी ही भावना थी। इसी से उनके वेद-भाष्य मे राष्ट्रीय भावना अथ से इति तक ओतप्रोत है। गुरुकुल कागड़ी के सुयोग्य स्नातक पालीरत्न पण्डित चन्द्रमणिजी विद्यालङ्कार ने ऋषि के वेद भाष्य के आधार पर एक छोटी-सी सुन्दर और उपयोगी पुस्तक "स्वामी दयानन्द का वैदिक स्वराज्य" नाम से लिखी है। गुरुकुल मे वेद के उपाध्याय रहने से उनको स्वामीजी के वेद भाष्य के पारायण करने का अवसर सहज ही मे प्राप्त हुआ है। यहा हम वेद भाष्य के

विस्तार मे नहीं जाना चाहते। हम ऋषि की राष्ट्रीय प्रार्थना की ओर केवल एक संकेत कर देना चाहते हैं। वैदिक प्रार्थना की दृष्टि से "आर्याभिविनय" का स्थान स्वामीजी के ग्रन्थों में सब से ऊँचा है। उसके लिखने का एकमात्र उद्देश्य प्रार्थना-पुस्तक तय्यार करना था। यद्यपि उसकी भूमिका में स्वामीजी ने "आर्याभिविनय" के लिखने का तात्पर्य परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान करा कर उसमे प्रेमभक्ति पैदा करना और उसकी स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना तथा धर्मादि विषय का वर्णन करना बताते हुए लिखा है कि "इस 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप में किया गया है, दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता," तो भी वह राष्ट्रीय प्रार्थना से ओतप्रोत है। परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हुए भी ऋषि की राष्ट्रीय भावना जहा-तहा प्रकट हो गई है और इसी से 'आर्याभिविनय' को वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना की पुस्तकों में भी बहुत ऊँचा स्थान मिल गया है। परमात्मा की प्रार्थना स्थान-स्थान पर राजा, साम्राज्य-प्रसारक, राज्यविधायक सम्राट्, महा-राजाधिराज,महाराजाधिराजेश्वर आदि उत्कृष्ट राष्ट्रीय संबोधनों से की गई है। यजुर्वेद के अड़तीसवे अध्याय के चौदहवे मन्त्र के "क्षत्राय पिन्यस्व" का अर्थ करते हुए ऋषि ने लिखा है कि "हे महाराजाधिराज परब्रह्म! 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, परा-क्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हो तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" यजुर्वेद के अध्याय छत्तीस का मन्त्र चौवीस सन्ध्या में रोज दो बार पढ़ा जाता है और ईश्वर से सौ वर्ष की आयु मागते हुए "अदीनाः

स्याम शरदः शतम्" का वर मागा जाता है। इसका अर्थ ऋषि लिखते हैं कि "हम सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें।" यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के उन्नत्तीसवें मन्त्र की व्याख्या में वे परमात्मा से कहते हैं कि "आपकी कृपा से 'स्वरगन्म' हम उत्तम सुख को प्राप्त हों, जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्ती राज्य आदि भोग से सुखी रहें।"

स्वदेशी की भावना

"देखो, अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय (आफिस) और कचहरी में जाने देते हैं, तथा देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने देश के बने जूतों की भी कितनी मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतनी भी अन्य देशस्थ मनुष्यों की नहीं करते । देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आए युरोपियनों को हो गए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं, जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा, और तुम में से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।" "सत्यार्थ-प्रकाश" के खण्डनात्मक प्रकरण के ग्यारहवें सम्मुल्लास में से ही ये पंक्तिया ली गई हैं। इनसे यह प्रगट है कि खण्डनात्मक प्रकरण भी स्वदेश-प्रेम एवं स्वदेशी की भावना से ओत-प्रोत है। स्वामी जी के जो वस्त्र अजमेर में सम्भाल कर आज तक रखे हुए हैं, वे सब शुद्ध खादी के हैं। अमृतवर्षी स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने "श्रीमद्दयानन्द प्रकाश" नाम से स्वामी जी की एक भावना-प्रधान जीवनी, अत्यन्त ओजस्वी शब्दों

में और बहुत ही तेजस्वी शैली में लिखी है। उसमें से एक प्रसंग हम यहा ऋषि की स्वदेशी की भावना को प्रगट करनेके लिए उद्धृत कर रहे हैं। वह यह है कि "एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधोसिंह छावलीनिवासी अपने पिता और ठाकुर भूपालसिंह जी के साथ स्वामी जी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आए। उस दिन ऊधोसिंह जी के वस्त्र नए ढङ्ग के थे और सब के सब विलायती कपड़े के बने थे। ऊधोसिह जी कुछ काल जलेसर की पाठशाला में भी अध्ययन करते रहे थे। इसलिए महाराज उन्हे भली भाति जानते थे। स्वामी जी ने अति प्यार से कहा---"ऊधव! देखो, तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के कपड़े के बने वस्त्र पहनते हैं। उनका जाति बिरादरी में कितना सम्मान है। क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेश से विभूषित होकर अपने पिता जी से अधिक संस्कृत हो गये हो? ऊधव! अपने ही देश के वस्तु-वेश को अपनाने मे शोभा है।" स्वामी जी का यह उपदेश ऊधोसिहजी के हृदय मे घर कर गया। उन्होंने अपने डेरे पर जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।"

जिस व्यक्ति के हृदय में अपने देश के बने हुये जूते के लिये इतना मान-सम्मान हो कि वह उसका विदेशी जूते के मुकाबले में कचहरी या दफ्तर में न जाने देने तक का अपमान सहन न कर सकता हो, उसके हृदय में समाई हुई स्वदेशी की भावना का अनुमान सहज मे किया जा सकता है। स्वामी जी की स्वदेशी की यह भावना सिर्फ कपड़े या वस्त्र तक ही सीमित न थी, बल्कि जीवन के हर अंग-प्रत्यंग में वह समाई हुई थी। विदेशी रंग-ढंग भी उन्हें पसंद न था। ब्राह्मसमाजियो और

प्रार्थनासमाजियो का विदेशियो की नकल करना भी उनकी दृष्टि मे स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के सर्वथा विपरीत था। थियोसोफिस्टो के साथ मिल कर काम न करने के बारे मे उन्होने स्वयं लिखा है कि "जब अपने देश मे सब सत्य विद्या, सत्य धर्म, ठीक ठीक सुधार और परम योग की सब बाते थी और अब भी हैं, तब विचारिये कि थियोसोफिस्टो को एनड्रेशवासियो के मत मे मिलना चाहिये या आर्यावर्तियो को थियो-सोफिस्ट होना चाहिये।" स्वदेशी की यह कितनी प्रबल भावना है ? किसी भी मामले मे विदेशियों के सामने सिर झुकाना या उनकी नकल करना वे सहन नहीं कर सकते थे। स्वदेशी के सम्बन्ध मे उनके लिए जीवन के किसी भी अंग या प्रत्यग मे समझौते की जरा-सी भी और कुछ भी गुंजाइश न थी। आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा और दिल व दिमाग मे जरा-सा भी विदेशीपन आने देना उन्हे सहन नहीं था। वे सोलह आना ऐसे खरे स्वदेशी थे कि उनको विदेशीपन का मैल कहीं छू तक न गया था। उनका भाव, भाषा, संस्कृति, साहित्य आदि सभी कुछ विदेशीपन से सर्वथा अछूत या अलिप्त था और स्फटिक मणि के समान निर्मल एवं विशुद्ध स्वदेशी के रंग मे रंगा हुआ था। कितनी पवित्र, उत्कृष्ट और उन्नत यह भावना थी ? कहीं और इसका उदाहरण मिलना कठिन है।

सत्याग्रह किंवा असहयोग का आदर्श

महात्मा गाधी ने जिस रूप मे सत्याग्रह और असहयोग को देशवासियों के सम्मुख पेश किया है, ठीक उस रूप मे तो ऋषि दयानन्द ने उसे पेश नहीं किया। फिर भी दोनों की भावना अत्यन्त उग्र और स्पष्ट रूप मे ऋषि

के जीवन और लेखों में समाई हुई मिलती है। सत्य के लिये उनका आग्रह उतना ही था, जितना कि गाधी जी का है और अपने जीवन की बाजी लगा कर भी वे अन्याय को मिटा देना ही मनुष्य का धर्म मानते थे। यह जरूर है कि महर्षि के लेखों में अहिंसा का प्रतिपादन उस रूप में नही है, जिसमें कि गाधी जी कर रहे हैं। लेकिन, अपने सारे जीवन में उन्होंने अहिंसा को अपनाया और निभाया है। यहा तक कि आततायी तक से बदला लेने की वृत्ति, प्रवृत्ति या भावना उनमें कभी भी पाई नहीं गई। अपने आततायी के लिये भी उनके जीवन का आदर्श यह था कि मै संसार को बंधनो से मुक्त करने आया हूं, उनमें फंसाने नहीं आया। अपने जीवन पर हमला करने वालो और धोखा देकर जीवन लेने की कोशिश करने वालो को भी उन्होने बार-बार क्षमा प्रदान की और उनके प्रति कोई दुर्भावना तक अपने हृदय मे नहीं आने दी। शाहपुर से जब ऋषि जोधपुर जाने को तैयार हुए, तब लोगो ने उनको रोका और उनसे कहा कि वहा के लोग बहुत निठुर प्रकृति के हैं, तब उन्होने कहा कि "यदि लोग हमारी अंगुलियों को बत्तिया बना कर जला दें, तो भी कोई चिन्ता नही। मैं वहा जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा।' इसी प्रकार का एक प्रसंग अजमेर का है। वहा तीन दिन तक ईसाई पादरियो से ईसाई-मत पर बहस होती रही। किसी बात पर चिढ़ कर पादरी शूलब्रेड ने स्वामी जी से कहा कि ऐसी बातो से आपको कभी कारावास की सजा भुगतनी पड़ जायगी। स्वामी जी ने गम्भीरता से मुसकराते हुए कहा कि "सत्य के लिए जेल जाना कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म-पथ पर आरूढ होकर मैं ऐसी बातो से सर्वथा निर्भय हो गया हूं। प्रतिपक्षी लोग

यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहा कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक का कोई तरंग भी उत्पन्न न होगा, वहा मैं अपने प्रति-पक्षियों की अकल्याण कामना भी कभी नहीं करूंगा। पादरी जी, में लोगो के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फासी पर लटका ही तो दिया था।" काशी मे हुए सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ मे उन पर ईंटो व पत्थरो की वर्षा की गई, वे अविचल भाव से अपने आसन पर विराजे रहे। संसार का कोई भी भय, प्रलोभन, आपत्ति और संकट उन्हें सत्य-पथ से विचलित नही कर सका। अङ्गद के अंगूठे की तरह वे सत्य की चट्टान पर अडिग बने रहे। बड़े-बड़े मंदिरो की गद्दियो का महन्त-पद उन्हें ललचा नहीं सका। मेवाड़ का राज्य जिस नाथद्वारे के आधीन है, उसका अधिकार सौंपने का प्रस्ताव उनके सामने पेश किया गया और महाराणा ने स्वयं उनसे कहा कि "आप मूर्ति पूजा का खण्डन करना छोड़ दे। यह राजनीति के सर्व-संग्रह सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि आप यह स्वीकार कर ले, तो एकलिंग महादेव के महन्त की गद्दी आपकी है। वैसे तो यह राज्य भी उसी मंदिर के समर्पित है, परतु मंदिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी लाखो की आय है। इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जायगा। सारे राज्य के आप गुरु माने जायेंगे।" स्वामी जी ने इस पर झुंझला कर कहा कि "आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखा कर परमात्मदेव से विमुख किया चाहते हैं। उसकी आज्ञा भंग कराना चाहते हैं। राणाजी, आपके जिस छोटे से राज्य और मंदिर से मैं एक दौड़ लगा कर बाहिर जा सकता हूं, वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञा-भंग करने के लिए विवश नही कर सकता। परमात्म देव के परम

प्रेम के सामने, इस मरुभूमि की मायाविनी मरीचिका अति तुच्छ है। लाखों मनुष्यों के विश्वास केवल मेरे भरोसे पर निर्भर हैं। मुझे ऐसे शब्द कहने का फिर कभी साहस न कीजिएगा। मेरे धर्म की ध्रुव धारणा को धरा-धाम और आकाश की कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती।" काश्मीर महाराज की ओर से पण्डित मनफूल साहब के भी ऐसा ही प्रस्ताव करने पर स्वामी जी ने कहा था कि "मैं लोगों को या महाराज साहब काश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञा का पालन करूं।" जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित किए जा सकते हैं। सत्य का यह आग्रह जैसे ऋषि के दिल और दिमाग में समाया हुआ था, वैसे ही उन्होंने आर्यसमाज की आधारशिला भी सत्य की नींव पर डाली थी। आर्यसमाज के दस नियमों में से चार में 'सत्य' का उल्लेख है। चौथा नियम यह है कि "सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।" पांचवा नियम यह है कि "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।"

असहयोग के लिये ऋषि दयानन्द ने अप्रियाचरण के मार्ग का उपदेश या आदेश दिया है। सत्यार्थप्रकाश के अंत में स्वमंतव्या-मंतव्य प्रकाश के प्रकरण में मनुष्य का लक्षण करते हुए और उसका धर्म बताते हुए आप लिखते हैं कि "मनुष्य उसी को कहना, जो मनन-शील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख, हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं अपने सर्व-सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण-रहित ही क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण

करे और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महा बलवान् और गुणवान् भी क्यों न हो, तथापि उनका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहा तक हो सके, वहा तक अन्यायकारियो के बल की हानि और न्यायकारियो के बल की उन्नति सर्वदा किया करे। इस काम मे चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी चले जावें; परंतु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।" इस अप्रियाचरण को कार्य मे परिणत करने के लिये महर्षि ने जो यत्न या उद्योग किया, उसकी चर्चा यथास्थान की जायगी। निसन्देह, यह अप्रियाचरण गाँधीजी के असहयोग से अधिक उग्र और भयानक है। वह 'अहिंसात्मक' भी नही है। लेकिन, दोनो के अभिप्राय मे अधिक अंतर नहीं है।

अदालतो मे जाकर आर्यसमाजी मुकदमाबाजी करे,—इसके तो वे बहुत सख्त विरोधी थे। बम्बई में पहिली बार बनाये गये उपनियमो की उन्तालीसवीं धारा यह थी कि "यदि आर्यसमाज मे किसी का आपस मे झगड़ा हो तो उनको योग्य होगा कि उसको आपस में समझ लें या आर्यसमाज की न्याय उपसभा द्वारा उसका न्याय करा लें।" परोपकारिणी सभा के नाम लिखे गये वसीयतनामे की बारहवीं धारा मे ऋषि ने लिखा है कि "यदि इस स्वीकार-पत्र के विषय मे कोई झगड़ा उठे, तो उसको राजगृह मे न ले जाना चाहिए। जहा तक हो सके, यह सभा अपने-आप उसका निर्णय करे। यदि आपस में किसी प्रकार का निर्णय न हो सके, तो फिर न्यायालय से निर्णय कराना चाहिये।" स्वामीजी की आतरिक भावनाओ का इन से परिचय मिलता है। उपनियमो की उन्नीसवीं धारा में तो यहा तक लिखा है कि "जब तक नौकरी करने और

कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले, तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखे। वे दोनो परस्पर स्वामी-सेवक-भाव से यथावत् वरते।" यह लिखने या बताने की जरूरत नही कि इस समय के आर्यसमाजी ऋषि की इन भावनाओ की किस प्रकार उपेक्षा कर रहे हैं? स्वामीजी की इन भावनाओं को देखते हुए उनके आचार-विचार और जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन होना नितात जरूरी है।

साम्यवाद का विशुद्ध रूप

वर्णाश्रम-व्यवस्था आर्यसमाज का विधायक या रचनात्मक कार्य-क्रम है। मनुष्य की सौ वर्ष की आयु को आश्रमो के चार हिस्सो मे बाट कर उसकी पूर्ण उन्नति एवं विकास की बहुत ही सुंदर एवं व्यावहारिक व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार वर्णों मे समाज को चार विभागो मे बाटकर उसकी प्रगति एवं अभ्युदय की सर्वोत्तम व्यवस्था की गई है। इसकी बहुत सुंदर और व्यावहारिक व्यवस्था आर्यसमाज के चोटी के विद्वान् पण्डित बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार ने अपनी पुस्तक "कायाकल्प" मे की है। वर्णाश्रम व्यवस्था पर की जाने वाली आपत्तियो का निराकरण करते हुए आपने यह सिद्ध किया है कि वर्णव्यवस्था ही साम्यवाद का विशुद्ध रूप है और इस समय जितने भी वाद पैदा हो गये हैं, उन सब मे वर्णाश्रम का वाद ही समाज के अभ्युदय के लिये श्रेयस्कर है। पौराणिक काल में जब वैदिक युग की अन्य सब व्यवस्थाये बिगड़ गईं, तब निस्संदेह वर्णाश्रम व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गई और उसका सौंदर्य नष्ट हो गया। समाज के अभ्युदय और कल्याण का साधन वह नहीं रही। बाल विवाह सरीखी जघन्य एवं घातक कुप्रथाओं ने आश्रम-

व्यवस्था की बुनियाद का नाश कर डाला और जन्ममूलक भावनाओं को प्रधानता मिलने से वर्ण-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धात नष्ट हो गये। केवल रूढ़ि, परम्परा और रिवाज रह गया। उसकी लकीर पीटी जाती रही। उसका आदर्श सर्वथा नष्ट हो गया। आत्मरक्षा के लिये समाज के हाथ में दी गई तलवार से उसने आत्म-हत्या कर ली और अपना सर्वनाश कर लिया। यह सब भी धर्म की भावना से किया गया। स्वामी दयानन्द ने इस विकृत धार्मिक भावना के मूल में ही कुठाराघात किया। वर्णाश्रम व्यवस्था का शुद्ध रूप सब के सामने पेश किया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवे समुल्लासों मे इन्हीं विषयों की चर्चा की गई है। आर्य और अनार्य सिर्फ दो जातिभेद मानकर बाकी सब जातिगत एवं जन्मगत भेदभाव को ऋषि ने कपोलकल्पित, हानिकारक और अनावश्यक बताकर उसको जड़मूल से मिटा देने का आग्रह किया है। वर्ण-व्यवस्था का, ऋषि के स्वीकार किये गये वैदिक मत के अनुसार, जात-पात के साथ परोक्ष रूप में भी कोई सम्बंध नहीं है और न उसका जन्म के साथ ही कोई सम्बंध है। चौथे समुल्लास मे वर्ण-व्यवस्था के बारे में सुविस्तृत विवेचन करते हुए ऋषि ने यह सिद्धात स्थापित किया है कि "वर्ण-व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।" इस सिद्धात के समर्थन मे वैदिक प्रमाणो, तर्कों, युक्तियो और उदाहरणों की झड़ी लगा दी गई है। ऋषि लिखते हैं कि "यदि माता-पिता और कुल पर ही यह वर्ण विभाग हो तो क्यों जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनो श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने मे आते है।" ....

....."जो ऐसा न माने उसको कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से वह धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आखों को फोड़ लेवे ? जिसका पिता कुकर्मी हो, उसका पुत्र भी कुकर्म करे ? जो कोई रज वीर्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से नही, तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़, नीच अंत्यज, कृश्चीन अथवा मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यो नही मानते ? जो कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नही है तो इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण, कर्म, स्वभाव वाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण मे और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे, उसको नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिये।"...."इस व्यवस्था का कार्यभार शिक्षा की समाप्ति के बाद आचार्य पर अथवा राजसभा व धर्मसभा पर डाला गया है।" इसके लाभ बताते हुये ऋषि लिखते हैं कि "जिस जिस पुरुष में जिस जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उस उस वर्ण का उसे अधिकार देना,—ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे संतान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे, तो शूद्र हो जायेंगे। संतान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल--चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा।" इस प्रकार ऋषि ने मनुष्यमात्र के लिए जातपात के सारे भेदभाव तथा ऊंचनीच को एक ओर रखकर, उन्नति-प्रगति-विकास तथा

अभ्युदय का मार्ग खोल दिया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' की कपोलकल्पित व्यवस्थाओं के विरुद्ध विद्रोह कर उन्हे भी समाजमें ऊंचे से ऊचा पद, प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त करने का पूरा अवसर दे दिया। छुवाछूत या अस्पृश्यता मिटाने का भी यही मूलमंत्र है। पूंजीवाद, धर्मवाद अथवा पंचवाद से पैदा हुई सब बुराइयों और बीमारियों का यही रामबाण औषध है। ऋषि ने समाज के शरीर मे व्यापी हुई आधि-व्याधियो एवं विकारों को दूर करके उसे सर्वथा निरोग एवं स्वस्थ बनाने का सफल यत्न किया। सब सामाजिक बुराइयो को जड़मूल से उखाड़ फेकने के लिये ही ऋषि ने ऊंचनीच, भेदभाव और असमानता की जन्म मूलक भावना पर कुठाराघात करके गुण-कर्म-स्वभाव की प्रतिष्ठा की। जन्म एक आकस्मिक घटना है, जिस पर मनुष्य का अपना कोई वस नहीं है। लेकिन गुण कर्म स्वभाव का अर्जन करना मनुष्य के अपने हाथ में है। लड़ाई के मैदान मे कर्ण को सूत-पुत्र कह कर जब भीम ने उसकी भर्त्सना करनी चाही थी, तब उसने उसको सहसा यह जवाब दिया था कि "दैवाधीनं कुले जन्म, ममाधीनं तु पौरुषम्।" किसी खास कुल मे जन्म लेना यह तो दैव के आधीन है, किन्तु पुरुषार्थ करना यह मेरे हाथ की बात है। सनातनधर्म के नाम पर पुराणमतवादियो ने दैव की व्यवस्था को अन्तिम रेखा मान कर पुरुष के लिये पुरुषार्थ के सब दरवाजे बंद कर दिये थे। ऋषि दयानन्द ने उनको सहसा खोल दिया और सबकी उन्नति, प्रगति एवं अभ्युदय के लिये समान अवसर देकर समाज की उन्नति, प्रगति एव अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त बना दिया। ऋषि दयानन्द के साम्यवाद का शुद्ध रूप यही है कि सबको उन्नति के लिये

समान अवसर मिले, सब प्रगति के मार्ग पर बिना रोक-टोक के आगे बढ़ सके और अभ्युदय की ऊंची से ऊंची चोटी पर पहुंचने के लिये सबको समान सुविधा हो। यही आश्रम-व्यवस्था का सारभूत रहस्य है। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत मूलमन्त्र सेवा और त्याग हैं। ब्राह्मण का सम्मान करने का आदेश जहा सारे समाज को दिया गया है, वहा ब्राह्मण के लिये यह आदेश है कि वह मान को विष और अपमान को अमृत के समान समझे। उसमें अभिमान पैदा होने की इस प्रकार जड़ ही काट दी गई है। ब्राह्मण को शिक्षा-दीक्षा का, क्षत्रिय को राज्य के कारभार का और वैश्य को व्यापार-व्यवसाय एवं धन-धान्य का अधिकारी इस लिये नही बनाया गया कि वे उसका उपभोग करें; बल्कि उनको बहुत बड़ी जिम्मेवारी सौंप दी गई है। ब्राह्मण पर समाज, देश अथवा राष्ट्र को शिक्षित बनाने की, क्षत्रिय पर उसकी सब प्रकार की रक्षा करने की और वैश्य पर उसको सब प्रकार से समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने की गुरुतर जिम्मेवारी डाल दी गई है। ये सब अपने कर्तव्य-कर्म का यथावत् पालन करते हुये अपनी जिम्मेवारी को पूरी तरह निभा सकें, तो कोई कारण नही कि समाज, देश अथवा राष्ट्र में मूर्खता, कायरता दरिद्रता रहने पावे। ब्राह्मण अपने ज्ञान से, क्षत्रिय अपने बल-पौरुष से, वैश्य अपने धन-धान्य से और शूद्र अपने शारीरिक श्रम से सेवा करने का व्रत लेता है। वस्तुत: सब के सब सेवक हैं और सेवा की भावना सब मे सर्वोपरि है। तभी तो बाल्मीकी द्वारा किया गया अयोध्या का वर्णन आखों को चुंधिया देता है और कैकेय सरीखे राजा अपने जनपद (राज्य की राजधानी) के सम्बन्ध में यह अभिमान के साथ कह सकते थे

कि "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।" आज कौन यह अभिमान कर सकता है कि उसके राज्य में न कोई चोर है, न कजूस है, न शरावी है, न अधर्मो है और न कोई व्यभिचारी है, न व्यभिचारिणी स्त्री ही है। अपने देश, समाज एवं राष्ट्र के लिये एक बार फिर ऐसा ही अभिमान पैदा करने की उत्कट इच्छा और आकाक्षा ऋषि के हृदय में समाई हुई थी। उसी के लिये उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था की पुरातन व्यवस्था के पुनर्जीवित करने का यत्न किया था। खान पान आदि मे भी ऋषि छुआछूत या अस्पृश्यता को नही मानते थे; बल्कि आर्यों के घरों में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्रीपुरुष ही पाक आदि का काम करे,—इस पर ऋषि ने विशेष जोर दिया है। वे लिखते है कि "जो ब्राह्मण आदि वर्णस्थ स्त्री रसोई बनाने, चौका देने, बर्तन भाड़े माजने आदि बखेड़े मे पड़े रहें, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी न हो सके।" कितनी सुन्दर समाज रचना है? लेकिन आज तो आर्यसमाजी भी जन्म-गत जात-पात के रगड़ो झगड़ो मे उलझे पड़े है। उन्होने समाज-रचना के इस आदर्श को उस रूप मे नहीं अपनाया है, जिसमे ऋषि ने उसका उपदेश या आदेश दिया है

कुछ राजनीतिक सिद्धान्त

"सत्यार्थप्रकाश" के छठे समुल्लास में जिन राजधर्मों की व्याख्या की गई है, उनका पूरा परिचय प्राप्त करनेके लिए पाठकों को एक बार तो उसे पूरा पढ़ ही लेना चाहिए। साधारणतया ऋषि को सिर्फ समाज-सुधारक ही माना जाता है। उनके कुछ राजनीतिक सिद्धातो का उल्लेख उनकी राजनीति का हलका-सा आभास देने के लिए ही यहा किया जा रहा है।

वर्तमान युग प्रजातन्त्र का युग कहा जाता है। १६१४ के महायुद्ध के बाद प्रजातन्त्र का राग विशेष रूप से सुनने में आया है। इस युद्ध में भी प्रजातन्त्र की रक्षा का नारा काफी बुलन्द है। ऋषि दयानन्द ने पश्चिम की राजनीति और अंग्रेजी भाषा से भी सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए राजनीतिक सिद्धातों की जो चर्चा, केवल संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर की है, वह विस्मयजनक है। ऋषि उग्र साम्राज्यवादी और कट्टर राष्ट्रवादी होते हुए भी पूर्णतः प्रजातन्त्रवादी थे। उनका यह निश्चित सिद्धात था कि राज्य का अधिकार या सत्ता अकेले एक राजा के हाथ में नहीं होनी चाहिए। वे लिखते हैं कि "एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए।"...... ......"किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। जैसे सिंह व मासाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते है, वैसे ही स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश कर डालता है।" फिर वे लिखते है कि "विशेष सहायता के विना जो सुगम कर्म है, वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है, तो महान् राज्य कर्म एक कैसे कर सकता है।" वस्तुतः ऋषि दयानन्द का 'राजा' वंशपरम्परागत कोई व्यक्ति नही है; वल्कि प्रजा द्वारा नियुक्त सभा का सभापतिमात्र है। वंश-परम्परा से राजा होने वाला भी उस सभा की अनुमति लेने के लिए बाध्य था। ऋग्वेद के 'बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये' मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं कि "राजा तथा राजपुरुषो! तुम और हम विद्वान् प्रजा को उसी स्वराज्य के लिए यत्न करना चाहिए, जो बहुत पैरो वाला है। अर्थात् जिसका शासन-कार्य अनेक लोग मिल कर करते हैं, अकेला राजा ही नहीं करता।" इसी लिये "त्रीणि राजाना विदथे

पुरूणि परिविश्वानि भूषथ: संदासि" मंत्र की व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं कि "राजा और प्रजा के पुरुष मिल के सुख-प्राप्ति और विज्ञान-वृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बंधरूप व्यवहार मे तीन सभा अर्थात् विद्यार्य सभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समाज प्रजासम्बंधी मनुष्यादि प्राणियो को सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा, धन आदि से अलंकृत करे।" ...... "उस राजधर्म का तीनो सभा मिलकर पालन करें।"

इन सभाओ और राजा के पारस्परिक सम्बंध के विषय मे ऋषि "राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद् राष्ट्री विशं घातुक: " मंत्र का हवाला देते हुए लिखते हैं कि "राजा जो सभापति है, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, प्रजा राजसभा के आधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे, तो प्रजा से स्वतन्त्र, स्वाधीन राजवर्ग राज्य मे प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करेंगे। अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है। अर्थात् वह राजा प्रजा को खा जाता है।" जिस पार्लिमेण्ट की शासनपद्धत्ति को प्रजातन्त्र का सब से उत्तम और श्रेष्ठ रूप बताया जाता है, उसका मूलभूत सिद्धात यही है। राजा, प्रजा और सभा तीनो पर एक दूसरे का अंकुश रहे,—यही पार्लमेण्टरी विधान का सार, आधार या मूलमंत्र है।

राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी ऋषि दयानन्द ने काफी विस्तार के साथ विचार किया है। राज्याधिकारियो की नियुक्ति के बारे मे लिखा है कि " मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान ये चार सब विद्याओं मे पूर्ण विद्वान् होने चाहिये। इन

चारों अधिकारों पर सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण विद्या वाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये।" प्रधान से अभिप्राय 'स्पीकर' से है। मन्त्रियों की नियुक्ति के बारे में ऋषि ने लिखा है कि "स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य एवं विचार निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, सात या आठ उत्तम, धार्मिक, चतुर सचिव अर्थात् मंत्री नियुक्त करें।" स्वराज्य और स्वदेश में पैदा हुए, मंत्रियों की ही नियुक्ति करने का आदेश महत्वपूर्ण है। कार्य विभाग का वर्णन करते हुये ऋषि लिखते हैं कि "अमात्य के आधीन दण्ड अर्थात् कानून एवं व्यवस्था, राजा के आधीन राष्ट्र का कोष तथा राजकार्य, सभा के आधीन सब दूसरे कार्य और दूत के आधीन किसी से मेल या विरोध करना रहना चाहिये।" शासन में सर्वोच्च सत्ता की जिस सुन्दर व्यवस्था का उल्लेख ऋषि ने किया है, वह हिन्दुस्तान के पीछे कायम किये गये फिडरल कोर्ट अथवा अन्य राष्ट्रों में कायम की जाने वाली उच्चतम न्याय सभाओं से मिलती-जुलती व्यवस्था है। उसे ऋषि ने 'त्र्यवरा' और "दशावरा" नाम दिया है। पहिले के तीन और दूसरे के दश सभासद् होने से यह नाम दिया गया है। आप लिखते हैं कि "इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों।

सैनिक प्रकरण को यहाँ उद्धृत करने से यह प्रसंग बहुत बढ़ जायगा। उसमें ऋषि ने अनेक प्रकार की व्यूह-रचना, जल-थल एवं नभ में विचरने वाली सेनाओं, नाना प्रकार के उपकरणों, दुर्गों और

मोर्चाबन्दियो, लड़ाई के जहाजों तथा विमानों का वर्णन किया है और उन्हे देश व राष्ट्र के लिए जरूरी बताया है। आज कल के विनाश और संहार के साधन भी उनका क्या मुकाबला करेंगे? लेकिन, हमारे लिए इससे अधिक महत्व उस कर्तव्य का है, जो ऋषि ने राजा और प्रजा का परस्पर बताया है। ऋषि लिखते हैं कि "जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृषित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बल आदि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं।" फिर ऋषि ने लिखा है कि "राजा प्रजा को अपने संतान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राज पुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका? राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने अपने काम मे स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम मे परतन्त्र रहे। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हो और राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले। यह राजा का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते है, संक्षेप मे कह दिया।" राजा, राज्यव्यवस्था और शासन-विधान के सम्बन्ध में ऋषि के विचारों का परिचय देने के लिए इससे अधिक लिखने की जरूरत नहीं होनी चाहिये। इस पर भी उनको सिर्फ सुधारक या धर्म-प्रचारक मानना उनके साथ घोर अन्याय करना है।

इस प्रसंग के समाप्त करने से पहिले इसी सम्बन्ध मे दो-एक और बातो का उल्लेख कर देना जरूरी प्रतीत होता है। पहली तो यह है कि

प्रजा को ही राजा की नियुक्ति करने का अधिकार है। स्वामी जी प्रजा को आदेश देते हैं कि "हे मनुष्यो! जो इस मनुष्य के समुदाय मे परमैश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को जीत सके, जो शत्रुओं से पराजित न हो, राजाओं में सर्वोपरि विराजमान या प्रकाशमान हो, सभापति होने के अत्यन्त योग्य, प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सत्करणीय, समीप जाने और शरण लेने योग्य सबका माननीय होवे, उसी को सभापति या राजा करो।" फिर वे कहते है कि "तुम इस प्रकार के पुरुष को.......सम्मति कर के सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्ण विद्या विनययुक्त, सब के मित्र, सभापति राजा को सर्वाधीश मान के सब भूगोल शत्रुरहित करो।" प्रजा की सम्मति से ही राजा की नियुक्ति की जाने का सिद्धान्त ऋषि ने असन्दिग्ध शब्दों में व्यक्त किया है। फिर ऋषि ने राजा को भी दण्डनीय बताया है और दूसरों की अपेक्षा उसे अधिक ही दण्डनीय कहा है। जहा दण्ड से सारे शासन की व्यवस्था कायम रखने के लिये राजा को आदेश दिया गया है, वहा यह भी कहा गया है कि लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करने वाला, क्षुद्र, नीच बुद्धि राजा दण्ड से ही मारा जाता है। ऋषि ने लिखा है कि "जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध मे राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये। मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा और उससे न्यून को छः सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर उत्तर अर्थात् एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणा दण्ड से कम न होना चाहिये; क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राजपुरुष प्रजा-

पुरुषों को नष्ट कर देवे। जैसे सिंह अधिक और बकरी छोटे दण्ड से वश में आ जाती है· इस लिये राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिये।" ऋषि की राजनीति में यह सिद्धान्त नहीं है कि 'राजा कोई गलती कर ही नहीं सकता।' वे उसे भी एक मनुष्य मानते है और उसकी जिम्मेवारी को देखते हुये उसे अधिक दण्डनीय मानते हैं। इसी से उस पर इतना कठोर अंकुश रखा गया है।

ऋषि की राष्ट्र-संघ की कल्पना का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। १६१४ के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्र-संघ की स्थापना की गई थी, वह युरोपियन राष्ट्रों की घात-प्रतिघात की नीति की वजह से नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है और अब उसका सिर्फ नाम शेष रह गया है। ऋषि का राष्ट्र-संघ उनके अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य के अन्तर्गत एक आवश्यक व्यवस्था है, जिसकी योजना प्रजातन्त्रीय तत्त्वो के आधार पर की गई है। ऋषि लिखते हैं कि "राजा और राजसभा राज-कार्य की सिद्धि के लिये ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे राज-कार्य यथावत् सिद्ध हो। जो राजा राज्य-पालन मे सब प्रकार तत्पर रहता है, उसका सुख बढ़ता है। इस लिये दो, तीन, पाच और सौ ग्रामो के बीच मे एक राज्यस्थान रखे, जिसमे यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषो को रख कर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे। एक एक ग्राम मे एक एक प्रधान पुरुष को रखे। उन्हीं दश ग्रामो के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सो ग्रामो के ऊपर चौथा, उन्हीं सहस्र ग्रामो के ऊपर पाचवा पुरुष रखे अर्थात् जैसे आज कल एक ग्राम मे एक पटवारी,

उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पाँच थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्रों से राजनीति का प्रकार लिया है। इसी प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्य प्रति जो जो दोष उत्पन्न हों उन उन को गुप्त रूप से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्य प्रति जना देवे। बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्य प्रति निवेदन करे। वैसे सौ सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करे और बीस-बीस ग्राम के पांच अधिपति सौ सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र सहस्र दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति और लाख ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें। वे सब राजसभा, महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज-सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।" इस व्यवस्था को सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की व्यवस्था मानकर उस से तुलना की जा सकती है, जिसका आदर्श सम्मुख रखकर युरोपियन राष्ट्रों ने "राष्ट्र-संघ" की स्थापना की थी।

यह है महर्षि की वह राजनीति, जिससे उनके राष्ट्रवाद का अत्यंत स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐसे उग्र राष्ट्रवादी को केवल समाज-सुधारक और धर्म-प्रचारक मान लेना कहा तक उचित है,—इसका निर्णय इन पंक्तियों के पाठकों को स्वयं कर लेना चाहिये। लोकमान्य तिलक के 'गीता

रहस्य' को लेकर जैसे उनके राजनीतिक जीवन और राजनीति की उपेक्षा करने का दुःसाहस नहीं किया जा सकता, वैसे ही ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद की उपेक्षा करना भी हमारी दृष्टि में एक दुस्साहस-मात्र है। लेकिन, महान् दुर्भाग्य है कि यह दुस्साहस किया गया है और वह कामयाब भी इतना अधिक हुआ है कि आज आर्यसमाज में प्रायः उनका ही बोलबाला है, जो उसे राजनीति से सर्वथा अलिप्त और कोसों दूर रखने में ही अपना और इसी से उसका भी कल्याण माने हुए हैं। इस स्वार्थमयी मोहमाया से, देखें, आर्यसमाज का कब और कैसे उद्धार होता है?

३

सत्यार्थप्रकाश

ऋषि के लिखे हुए ग्रन्थों मे 'सत्यार्थप्रकाश' सब से अधिक लोकप्रिय है। इस समय वह हिन्दी में एक लाख से कहीं अधिक प्रकाशित हो चुका है। परोपकारिणी सभा के संस्करणों के अलावा उसके और भी कई छोटे-बड़े संस्करण प्रकाशित हो चुके है। गैर-आर्यसमाजी तो उसे आर्यसमाज का बाइबिल, कुरान, पुराण या ग्रंथ साहब माने हुए है; लेकिन, वस्तुत: वह वैदिक आदर्श की स्थापना करने वाली ऐसी जीवन-चर्या है, जिसे अपने जीवन की उन्नति चाहने वाला हर व्यक्ति सहज में अपना सकता है। महर्षि ने देशोन्नति का कोई ऐसा सवाल नहीं छोड़ा, जिस पर उसमें प्रकाश नहीं डाला या जिसकी उसमे चर्चा नहीं की गई। उनकी देशोन्नति की इकाई व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन है। वही उनके लिये देश, समाज, राष्ट्र अथवा संसार के कल्याण की पहली सीढ़ी है। इसी से ब्रह्मचर्य पर उन्होंने इतना जोर दिया और पहिले समुल्लास मे ईश्वर के सौ नामो की व्याख्या करने के बाद "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" के वाक्य से दूसरे समुल्लास का प्रारम्भ किया। संतान के जीवन को माता, पिता और आचार्य कैसे बनावें,—इसकी सुंदर और सुविस्तृत व्याख्या करते हुए उस पर काफी जोर दिया। तीसरे में ब्रह्मचर्य, चौथे मे गृहस्थ और पाचवें मे वानप्रस्थ तथा संन्यास की चर्चा की गई है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि "प्रथमे नार्जिता विद्या,

द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति।"
जिसने सौ वर्ष की आयु के पहिले चरण के पच्चीस वर्षो मे ब्रह्मचर्य का
पालन करके यदि विद्या का अर्जन नही किया, दूसरे चरण में यदि धन
नही कमाया और तीसरे चरण मे यदि पुण्य का संचय नही किया, तो
जीवन के अंतिम चरण मे वह क्या करेगा? मनुष्य-जीवन की सफलता
के इस रहस्य को समझते हुए ही ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' के पूर्वार्द्ध का
पूर्वार्द्ध इस रहस्य के उद्घाटन में पूरा किया। आर्य दर्शनशास्त्र से
गहरा मतभेद रखने वाला भी जीवन-चर्या के इस विधान से मतभेद
नहीं रख सकता। छठा समुल्लास राजनीति का है, जिसकी चर्चा पिछले
पृष्ठो मे आ चुकी है। सातवें, आठवें और नौवे समुल्लासो में
वैदिक दर्शन-शास्त्रों के तत्वो का विवेचन किया गया है। दसवे
समुल्लास मे आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था की गई
है। उत्तरार्द्ध के चार समुल्लास खण्डनात्मक हैं। पहिले दस समुल्लासों
को शान्ति, सन्तोष और सहिष्णुता से पढ़ने वाला जब खण्डनात्मक
प्रकरण पढना शुरू करता है, तब सहसा काप उठता हैं। महर्षि की
तीक्ष्ण आलोचना देख कर वह सहसा विस्मय मे पड़ जाता है। इसी
की वजह से उनको 'असहिष्णु' तक कहा जाने लगा है और यह राय
भी प्रगट की जाने लगी है कि 'सत्यार्थप्रकाश' मे से अन्तिम चार
समुल्लास निकाल देने चाहियें। ऐसे लोग ऋषि दयानन्द की भावना
और उन समुल्लासो के सौन्दर्य को जानने और समझने की कोशिश
नहीं करते। अपनी धारणा जो उन्होंने सम्भवतः आर्यसमाजी उपदेशकों
और भजनीकों के आवेशपूर्ण खण्डन-मण्डन से बना ली है, उसी से

वे स्वामी दयानन्द और 'सत्यार्थप्रकाश' को भी देखने के आदी हो गये हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है। किसी भी महापुरुष के प्रति उसके अनुयायियों से कोई धारणा बना लेना दोष से रहित नहीं हो सकता। जैसे आजकल के मुसलमानों से मुहम्मद या कुरानशरीफ, ईसाइयों से ईसामसीह या इंजील और सिक्खों से गुरुओं या ग्रन्थसाहब के बारे में कोई धारणा बना लेना सोलह आना सही नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही आजकल के आर्यसमाजियों से, खास कर खण्डन-मण्डन के ही काम में लगे हुए उपदेशकों या भजनीकों से, स्वामी दयानन्द या 'सत्यार्थ-प्रकाश' के बारे में कोई राय कायम कर लेना सही नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द के बारे में बड़े बड़े लोगों ने जो सम्मत्तियाँ कायम की या प्रगट की हैं, उसमें उनकी प्रधानतः वही धारणा प्रगट होती है, जो उन्होंने आजकल के आर्यसमाजियों को देख कर कायम कर ली है।

स्वामी दयानन्द को समझने के लिये जरूरी है कि जिज्ञासु भाव से एक बार उनके लेखों व ग्रन्थों का पूरा पारायण किया जाय और उनकी जीवनी से पूरा परिचय प्राप्त किया जाय। किसी भी ग्रन्थ की परीक्षा व समीक्षा उसके दो-चार हिस्सों को देख कर नहीं की जा सकती। लोक-मान्य तिलक ने अपने महान् ग्रन्थ 'गीतारहस्य' में गीता की समीक्षा करने और उसका अभिप्राय प्रगट करने के लिये मीमाँसकों के जिस सर्वमान्य मत को स्वीकार किया है, उसी की कसौटी पर 'सत्यार्थप्रकाश' की समीक्षा और परीक्षा करनी युक्ति-संगत होगी। वह मत यह है कि:—

"उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ति च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥"

किसी ग्रन्थ का तात्पर्य जानने के लिये इस प्रकार सात कसौटियां नियत की गई है। पहिली और दूसरी यह कि ग्रन्थ का प्रारम्भ और अन्त किस भावना से किया गया है। तीसरी अभ्यास अथवा पुनरुक्ति है। ग्रन्थकार ग्रन्थ मे बार-बार अपने अभिप्राय को यत्र-तत्र व्यक्त करता है। चौथी अपूर्वता अर्थात् वह नवीनता है, जिससे प्रेरित होकर वह ग्रन्थ लिखता है। पॉचवी फल अर्थात् वह निष्कर्ष है, जिस पर वह अपने पाठक को पहुंचाना चाहता है। छठी अर्थवाद और सातवीं उपपत्ति है। अर्थवाद से अभिप्राय उन विषयों से है, जिनका ग्रन्थ मे मुख्य विषय को स्पष्ट करने के लिये गौण रूप से वर्णन किया जाता है। यदि कोई इन गौण विषयो को ही मुख्य मान लेता है, तो वह ग्रन्थकार के अभिप्राय को ठीक ठीक न समझ कर उससे बहुत दूर चला जाता है। इस प्रकार जिज्ञासु जिस परिणाम पर पहुंचता है और जिस विषय का तारतम्य सारे ग्रन्थ में उसको दीख पड़ता है, उसको उपपत्ति कहा गया है। ऋषि ने स्वयं भी लिखा है कि "जो कोई इस ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य के विरुद्ध मत से इसे देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा, क्योंकि वाक्यार्थ बोध में चार कारण होते हैं; आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है।" 'सत्यार्थप्रकाश' का अभिप्राय जानने के लिये इन्हीं कसौटियों को अपनाना चाहिये।

'सत्यार्थप्रकाश' नाम से ही महर्षि का अभिप्राय प्रगट है। सत्य अर्थ का प्रकाश करना उनका एकमात्र अभिप्राय या प्रयोजन है। भूमिका

में ऋषि ने लिखा है कि "मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है।" फिर वे लिखते हैं कि "अर्थात् ज सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करन सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान मे सत्य का प्रकाश किया जाय; किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानन सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने मे प्रवृत्त होता है। इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नही हो सकता। विद्वान आप्तो का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यो के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदे। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द मे रहे। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़कर असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ मे ऐसी बात नहीं रक्खी हैं और न किसी का मन दुःखाना, न किसी की हानि पर तात्पर्य है; किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो: सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करे, क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" इस प्रकार सत्य की सर्वसम्मत व्याख्या करते हुए महर्षि ने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन "सत्य मत प्रगट करते हुए मनुष्य जाति की उन्नति" करना बताया है। ग्रन्थ के आदि से अन्त तक जिस विषय का तार-

ताम्य बंधा हुआ है, वह यही विषय है। शुरू की भूमिका के साथ ग्रन्थ के अन्त का 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' मिलाकर पढ़ने से महर्षि के ग्रन्थ का उपक्रम और उपसंहार जान पड़ते हैं। भूमिका से जैसा उद्धरण ऊपर दिया गया है, वैसा ही उद्धरण 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' से भी दिया जा सकता है। मनुष्य के धर्म और सत्य की व्याख्या दोनो लेखों मे एक सी है। ग्रन्थ के आद्योपान्त विलोडन से भी सहज मे यह सब प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। प्रथम समुल्लास मे परमेश्वर के सौ नामो की व्याख्या इस लिये की गई कि आर्यावर्त मे प्रचलित मतमतान्तरों के आराध्य देवों की एकरूपता दिखाई जाय। पुराणों एवं दूसरे पौराणिक ग्रन्थो के अध्ययन से जाना जा सकता है कि किस प्रकार परमात्मा के एक नाम को लेकर उसी को सर्वस्व मानते हुए एक-एक मत प्रवर्तित कर दिया गया है। शैव लोगों ने शिव, वैष्णव लोगो ने विष्णु एवं दूसरे साम्प्रदायिक लोगों ने एक ही परमेश्वर के दूसरे नामों को लेकर दूसरे सम्प्रदाय चला दिये। महर्षि ने यही आशय इन शब्दो में दिया है कि "जैसा एक गुरु की सेवा मे चेलाओं ने लीला की, इसी प्रकार जो एक अखण्ड सच्चिदानन्दानन्त स्वरूप परमात्मा के विष्णु रुद्रादि अनेक नाम हैं। इन नामो का अर्थ जैसा कि प्रथम समुल्लास मे प्रकाश कर आये है, उस सत्यार्थ को न जानकर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि लोग परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हैं। मन्दमति तनिक भी अपनी बुद्धि को फैलाकर नही विचारते कि ये सब विष्णु, रुद्र, शिव आदि नाम एक अद्वितीय, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वर के अनेक गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं।" ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तीनों नाम एक ही परमात्मा के हैं। सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक होने से ब्रह्मा,

रक्षक होने से विष्णु और संहारक होने से रुद्र एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने उनके एक-एक अंश की, एक-एक नाम से प्रार्थना, उपासना भक्ति शुरू कर दी। यह भेद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि वह पारस्परिक निन्दा, विरोध एवं द्वेष में परिणत हो गया। इस पारस्परिक निन्दा, विरोध व द्वेष के मूल कारण भेदभावों को दूर करने के लिये ही महर्षि ने परमात्मा के सब नामों की एकरूपता सौ नामो की व्याख्या से प्रथम समुल्लास में प्रगट की।

महर्षि के इस तात्पर्य को समझते हुए ग्यारहवा, बारहवा, तेरहवा और चौदहवा समुल्लास पढ़ा जाना चाहिए। तब उनके खण्डनात्मक लेखो का ठीक-ठीक अभिप्राय समझा जा सकता है। सम्भव है उनके सभी विचारो से कोई सहमत न हो और किसी को उनकी भाषा बहुत कठोर या तीखी जान पड़ती हो; लेकिन, उनका अभिप्राय इससे जरूर स्पष्ट हो जायगा। इन समुल्लासों की अनुभूमिका से लम्बे उद्धरण देकर इस प्रसंग को लम्बा करने की जरूरत न होते हुए भी उन्हे इसलिये दिया जा रहा है कि इस सम्बन्ध में अत्यन्त उदार और राष्ट्रीय विचार रखने वाले भी महर्षि के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझने में भूल कर जाते हैं। ग्यारहवे समुल्लास की अनुभूमिका में ऋषि ने लिखा है कि "इन सब मतवादियो, इनके चेलों और अन्य सब को परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये यह ग्रन्थ बनाया है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सब को विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी अपनी समझ से सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना

सहज होगा।" फिर वे लिखते है कि "इस मेरे कर्म से यदि उपकार न माने, तो विरोध भी न करें क्योकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि व विरोध करने मे नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने कराने का है। ...... मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय कराने के लिये है, न कि वाद-विवाद व विरोध करने कराने के लिये। ......यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिये यह सब असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोध-जाल मे फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन मे न फंस कर सब के प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्य मत हो जावे।" इसी प्रकार बारहवे समुल्लास की अनुभूमिका म आपने लिखा है कि "जो जो जैनियों के मत-विषय में लिखा गया है, सो सो उनके ग्रन्थो के मत पूर्वक लिखा है। इसमे जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिए, क्योंकि जो जो हमने इनके मत के विषय में लिखा है, वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध व हानि के करने अर्थ। इस लेख को जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेगे, तब सब को सत्यासत्य के निर्णय मे विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा। जब तक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाय, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वानो में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महा अन्धकार मे पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये सत्य की जय और असत्य की क्षय के अर्थ मित्रता से वाद व लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न

हो, तो मनुष्यो की उन्नति कभी न हो।" तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका मे भी अपने इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये ऋषि ने लिखा है कि "यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये लिखा है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।" चौदहवे समुल्लास मे इस्लाम की आलोचना की गई है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दृष्टि से उसे काफी आपत्तिजनक माना गया है। लेकिन, ऋषि लिखते हैं कि "न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर, झूठ मूठ बुराई या भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सब को विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह माने वा न माने; किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता। यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ। क्योंकि एक दूसरे की हानि करने से पृथक् रह, परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है।" इसी समुल्लास के अन्त में भी आपने लिखा है कि "परमात्मा सब मनुष्यो पर कृपा करे कि सब से सब प्रीति, परस्पर मेल, और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने मे प्रसन्न हो। जैसे मैं अपना या दूसरे मतमतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूं, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् करे, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो।" इन उद्धरणों को पढ़ने के बाद महर्षि पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे असहिष्णु थे। दूसरे के धार्मिक मत अथवा विचारो को

वे सहन नही कर सकते थे अथवा किसी भी प्रकार उनका खण्डन करना उनका एकमात्र कार्य था । 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्तिम प्रकरण 'स्वमन्ताव्यामन्तव्य' में भी ऋषि ने लिखा है कि "मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल मे सबको एकसा मानने योग्य है । मेरा कोई नवीन कल्पना व मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नही है; किन्तु जो सत्य है, उसको मानना मनवाना और जो जो असत्य है, उसको छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है । यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त मे से प्रचलित मतो मे से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो जो आर्यावर्त वा अन्य देशो मे अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नही करता और न करना चाहता हूं, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है ।" यह है ऋषि के 'सत्यार्थप्रकाश' का अभिप्राय, जिसका तारतम्य सारे ग्रन्थ मे आदि से अन्त तक बंधा हुआ है । मीमासकों की कसौटी पर इस प्रकार उसकी परख करने पर ऋषि दयानन्द का अभिप्राय और 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखने का उनका प्रयोजन असन्दिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता है । इसको जानने और समझने की दृष्टि से ही 'सत्यार्थप्रकाश' का अध्ययन करना पाठकों के लिए कुछ उपयोगी हो सकता है और वे उसके ठीक अभिप्राय तक पहुंच सकते हैं ।

राष्ट्रीय कसौटी

ऋषि दयानन्द से पहिले की देश की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था के विस्तार मे हम नही जाना चाहते । उस ओर केवल एक संकेत कर देना पर्याप्त होना चाहिये । व्यक्तियों के धर्म-कर्म और समाज की सामाजिक

व्यवस्था पर पण्डितों, पुरोहितों और पंचों ने एकाधिपत्य किया हुआ था। राजा लोग उनकी मार्फत प्रजा पर अपना एकाधिपत्य कायम किये हुये थे। ऐसा जान पड़ता है, जैसे कि पण्डितो, पुराहितो और पंचो के साथ मिलकर राज्याधिकारियो ने प्रजा के विरुद्ध 'कोई षडयन्त्र रचा हो। यह षड़यन्त्र अन्त में सभी को ले डूबा। न केवल हमारा देश इस दुरवस्था में फँसा हुआ था, बल्कि सारा ही संसार इसका शिकार हो रहा था। युरोप में पोप की, टर्की में खलीफा की और अन्य देशों में वहा के धर्म गुरुओ की तूती बोलती थी। राजा से अधिक शक्ति इन लोगो के हाथो में थी। राजदण्ड मे तो अधिक से अधिक मनुष्य के एक ही जन्म या जीवन को लेने की क्षमता थी; लेकिन, भगवान् के अवतार तो इतने सर्वशक्तिसम्पन्न थे कि वे मनुष्य के अगले पिछले सभी जन्मो को बिगाड़कर उनको कई पीढ़ियो तक नरक में डाले रखने की क्षमता रखते थे। जन्म की आकस्मिक घटना को इतना महत्व दे दिया गया था कि उसके सामने मनुष्य की योग्यता, क्षमता और परिश्रम आदि को बिल्कुल तुच्छ माना जाता था। फिर इसको बनाने और बिगाड़ने की करामात भी उन्होंने अपने हाथों में पैदा कर ली। मनुष्य मनुष्य के बीच जन्मगत जातपात और छूतछात की ही नही; परन्तु धर्म-कर्म की ऐसी दीवारे खड़ी कर दी गई कि उन्होंने इस समय की राष्ट्रीय दीवारों से भी कहीं अधिक भयानक स्थिति पैदा कर दी। मनुष्य मनुष्य का दुश्मन बन बैठा। धर्म के नाम पर खून की नदिया बहाई जाने लगीं। ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, विरोध और विनाश की सृष्टि धर्म की नीव पर की गई। अभ्युदय और निश्रेयस् का साधक धर्म सर्वनाश, विनाश और चहुमुखी पतन का कारण बना लिया गया। व्यक्ति

और समाज की जिन दुर्भावनाओं और दुर्गुणों को दबाने के लिये धर्म की व्यवस्था की गई थी, उन सब को धर्म के नाम पर उत्तेजन दिया जाने लगा। ईश्वर के जितने भी नाम मिल सके, उतने ही देवी-देवताओं की कल्पना कर न मालूम कितने मत व सम्प्रदाय इस देश मे चला दिये गये। 'सत्यार्थप्रकाश' के उत्तरार्ध की अनुभूमिका मे ऋषि ने इनकी संख्या एक हजार से अधिक बताई है। इस प्रकार देश मे फैले हुए हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, विरोध एवं स्पर्धा और असहिष्णुता से देश की एकता इतनी छिन्न-भिन्न हो गई कि राष्ट्रीयता का पनपना सम्भव नही रहा। जैनियो के बारे मे यह व्यवस्था दी गई कि हाथी के पैर तले कुचले जाने का संकट पैदा होने पर भी आत्म-रक्षा तक के लिये जैन-मन्दिर मे नही जाना चाहिये। जैनियों ने यह उपदेश देना शुरू किया कि गंगा आदि तीर्थों और काशी आदि क्षेत्रो के सेवन से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नही होता और गिरनार, पालीताना तथा आबू आदि तीर्थ क्षेत्र मुक्ति देने वाले हैं। शिव, विष्णु आदि की मूर्तियो की पूजा करनी बहुत बुरी है अर्थात् नरक का साधन है। पुराणो की समीक्षा करते हुए ऋषि ने लिखा है कि किस प्रकार अनेक मतमतान्तरो के कारण परस्पर विरोध फैला। वे लिखते हैं कि "शिव पुराण मे शैवों ने शिव को परमेश्वर मान के विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, गणेश और सूर्य आदि को उनका दास ठहराया। वैष्णवों ने विष्णु पुराण आदि मे विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि को विष्णु के दास। देवी भागवत मे देवी को परमेश्वरी और शिव-विष्णु आदि को उसके किंकर बनाया। गणेश खण्ड मे गणेश को ईश्वर और शेष सब को दास बनाया। शिव पुराण वाले शिव से, विष्णु पुराण वाले विष्णु से, देवी पुराण वाले

देवी से, गणेश खण्ड वाले गणेश से, सूर्य पुराण वाले सूर्य से और वायु पुराण वाले वायु से सृष्टि की उत्पत्ति और उसी से प्रलय मानते हैं। अब, सोचिये, इन सब में परस्पर एकमत, एकता, मेल-मिलाप या सद्भाव होगा कि परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई-झगड़ा।" यह है वह भावना और कल्पना, जिससे प्रेरित होकर ऋषि दयानन्द को खण्डन के कठोर एवं अप्रिय कार्य करने के लिये मजबूर होना पड़ा। इस भेदभाव के रहते राष्ट्रीय एकता कदापि संभव न थी। उसके अनुकूल भूमि तय्यार करने के लिये इस भेदभाव की जड़ मे ही ऋषि ने कुठाराघात किया। ऋषि के अपने एक वाक्य मे उनका आशय कहना हो, तो वह यह है कि "यदि ऐसे पाखण्ड न चलते, तो आर्यावर्त देश की दुर्दशा क्यों होती?"

खण्डनात्मक प्रकरणों मे मूर्तिपूजा का खण्डन साधारणतया लोगों को बहुत अखरता है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिये इस्लाम के खण्डन को कुछ कठोर बताकर जहां कुछ लोग आर्यसमाज के चौदहवे समुल्लास को 'सत्यार्थप्रकाश' मे से निकाल देने तक की सलाह दे देते हैं, वहां ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो हिन्दुओं तथा आर्यों को एक बनाने के लिये और उनके दिल को न दुःखाने के लिये यहां तक कहने मे संकोच नहीं करते कि आर्यसमाज को श्राद्ध व मूर्तिपूजा आदि के खण्डन पर अब अधिक जोर नहीं देना चाहिये। लेकिन, इस प्रकार सोचने व कहने वाले दोनों ही तरह के लोग ऋषि के अभिप्राय को समझने की कोशिश नहीं करते। मूर्तिपूजा के खण्डन में ऋषि ने सोलह कारण दिये हैं। उनमे अधिकांश कारण राष्ट्रीय किंवा सार्वजनिक हैं। वे लिखते हैं कि "नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप-नाम-चरित्र-युक्त मूर्तियों के पूजारियों का ऐक्यमत

नष्ट होके विरुद्ध मत मे चलकर आपस मे फूट बढा के देश का नाश करते हैं। ....मूर्ति के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान कर बैठे रहते है। उनका पराजय होकर राज्य-स्वातन्त्र्य और उनका सुख उनके शत्रुओ के स्वाधीन होता है और आप पराधीन, भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश मे होकर अनेक विध दुःख पाते हैं। "द्वारिकाजी के रणछोड़जी" के सम्बन्ध मे ऋषि ने कितने सन्तप्त हृदय से लिखा है? वे लिखते है कि "सम्वत् १६१४ के वर्ष मे तोपो के मारे मन्दिर मूर्तिया अंग्रेजो ने उजाड़ दी थी, तब मूर्ति कहा गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगो ने कितनी वीरता दिखाई और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता, तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाय, उसके शरणागत क्यो न पीटे जाय।" इसी प्रकार सोमनाथ मन्दिर की लूट का उल्लेख करते हुए तो ऋषि का हृदय मानो रो ही दिया है। वे कितनी वेदना के साथ लिखते हैं कि "क्यो पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? देखो! जितनी मूर्तिया हैं, उनके स्थान मे शूरवीरो की पूजा करते, तो भी कितनी रक्षा होती? पुजारियो ने इन पाषाणो की इतनी भक्ति की, परन्तु मूर्ति एक भी उन शत्रुओं के सिर पर उड़के न लगी। जो एक शूरवीर पुरुष की मूर्ति के सदृश सेवा करते, तो वह अपने सेवको को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओ को मारता।" फिर वे लिखते हैं कि मूर्तियों और मन्दिरो आदि मे "करोड़ो रुपए व्यय करके लोग दरिद्र होते हैं और उसमे प्रमाद होता है। स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई, बखेड़ा और रोग आदि उत्पन्न

होते हैं। उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थ-रहित होकर मनुष्य-जन्म व्यर्थ गमाते हैं। भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर, देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म-संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोर आदि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं। दुष्ट पुजारियो को धन देते हैं। वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्य-मासाहार, लड़ाई, बखेड़ो मे व्यय करते हैं।" यह है वह भावना, जिससे ऋषि दयानन्द ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया है।

इसी प्रकार ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की समीक्षा के प्रकरण में भी ऋषि की उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना का अत्यन्त स्पष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने उनमे सबसे पहिला और बड़ा दोष यह बताया है कि "इन लोगो में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं।"...... "अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजो की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान मे भरपेट निन्दा करते हैं। व्याख्यानो में ईसाई आदि अंग्रेजो की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियो का नाम भी नहीं लेते; प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजो के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। उनकी उन्नति कभी नहीं हुई।" ...."वेदादिको की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य के पुस्तक मे साधुओ की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्य लिखे हैं; किसी ऋषि-महर्षि का नाम नहीं लिखा।" फिर ऋषि लिखते हैं कि "भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुये हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते पीते हैं, तब अपने माता-पिता-पितामह आदि के मार्ग को छोड़ कर दूसरे

विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?" कितना प्रबल स्वाभिमान और कितना उत्कट स्वदेशाभिमान है ? इसी से प्रेरित होकर ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' के वे खण्डनात्मक प्रकरण लिखे हैं, जो साधारण दृष्टि से विचार करने वालों को कठोर एवं अप्रिय जान पड़ते हैं और जिनकी वजह से वे ऋषि दयानन्द को 'असहिष्णु' तक कहने में सकोच नहीं करते। लेकिन, मुमुक्षु के लिये ऋषि दयानन्द का अभिप्राय समझना कठिन नहीं है और उनकी उस उत्कट, प्रबल एवं उज्ज्वल राष्ट्रीय भावना तथा कल्पना को जानना भी कठिन नहीं है, जो 'सत्यार्थप्रकाश' और उसके खण्डनात्मक प्रकरणों में भी यत्र-तत्र-सर्वत्र ओतप्रोत है।

सच तो यह है कि ऋषि दयानन्द ने उस नींव को तय्यार किया है, जिस पर राष्ट्रीय मन्दिर की स्थापना की जा रही है। लूथर ने यूरोप में ईसाई पादरियों के, साम्यवादियों ने जारशाही के हस्तक बने हुये रूस के पादरियों के, मुस्तफा कमाल पाशा ने खलीफा की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने वाले तुर्की के मुल्ला-मौलवियों के विरुद्ध जो भीषण सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति करके अपने अपने देशों में राष्ट्रवाद के लिये अनुकूल भूमि तय्यार करने का जो महान् कार्य किया है, वही ऋषि दयानन्द ने इस देश में अपने इस कठोर एवं अप्रिय कार्य द्वारा किया है। जब मत-मतान्तर के अंध पक्षपात, सामाजिक रूढ़ियों के मायाजाल, धार्मिक मूढ़

विश्वासो के जंजाल और जन्मगत जातपात एवं छूतछात के भेदभाव से ऊपर उठ कर हम सब एक दिल और एक दिमाग से राष्ट्रदेवी की आराधना करने मे लगेगे, तब सबसे पहिले इस युग मे राष्ट्रीयता का सन्देश लाने और सुनाने वाले राष्ट्र-देवदूत ऋषि के चरणो मे निस्सन्देह सहसा हम सभी के हृदय और मस्तक झुक जायेगे।

'सत्यार्थ प्रकाश' को सहसा हर हिटलर के 'मीन कैम्फ' —'मेरा संघर्ष' से उपमा दी जा सकती है। लेकिन, उनमे उतना ही अन्तर है, जितना कि दोनो ग्रन्थो के नामो में है। एक तो देश, जाति, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण की सात्विक भावना से लिखा गया हैं और दूसरा संघर्ष विनाश और महायुद्ध की आसुरी भावना से। लेकिन, जहा तक राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद और देशप्रेम एवं देशभक्ति का सम्बन्ध है, दोनो में कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि कहीं आर्यसमाज राष्ट्रवाद से विमुख न हो गया होता, तो इसमें सन्देह नहीं कि 'सत्यार्थ प्रकाश' भी इस देश मे अद्भुत चमत्कार दिखाता। लेकिन, भावनाये अजर और अमर हैं। वे कभी कभी कालान्तर मे भी अपना दिव्य चमत्कार दिखा जाती हैं। इस लिये निराश होने का कोई कारण नहीं है। ऋषि दयानन्द का मिशन जाकर पूरा होगा और उनकी भावनाये अपना प्रभाव एवं चमत्कार दिखाये बिना न रहेंगी। तब लोग आश्चर्यसे देखेंगे कि जिस महापुरुष को उन्होने सिर्फ धर्म प्रचारक और समाज सुधारक मान लिया था, वह कितना बड़ा देशभक्त और कैसा महान् राष्ट्रवादी था।

———

४
आर्यसमाज

"आर्यसमाज के साथ मिल कर उसके उद्देश्य के अनुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नही तो कुछ हाथ न लगेगा; क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें। इस लिये जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।" —महर्षि ने ये शब्द 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास मे प्रार्थनासमाजियों और ब्राह्मसमाजियो मे स्वदेशभक्ति, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमानकी कमी बताने के बाद लिखे हैं। जो लोग आर्यसमाज को सार्वभौम बता कर और उसके छठे नियम के 'संसार के उपकार करने' के शब्दो को लेकर आर्यसमाज को अपने देश की एकदेशीय राजनीति से दूर रखना चाहते हैं, उनको ये शब्द जरा ध्यान से पढ़ने चाहिये और इनसे प्रगट होने वाली राष्ट्रीय भावना को हृदयंगम करने का यत्न करना चाहिये। ऋषि ने 'आर्य' शब्द का प्रयोग 'आर्यसमाज' के नाम में जिस भावना या अभिप्राय से किया है, उसकी स्फूर्ति उनके हृदय मे निस्सन्देह अपने देश के पुरातन नाम 'आर्यावर्त' से हुई है। आज जैसे 'इन्डिया' नाम से उसके स्वराज्य, स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता के लिये यत्न करने वाली संस्था का नाम "आल इन्डियन नेशनल कॉंग्रेस" रख दिया गया है, ठीक वैसे

ही आर्यावर्त्त के निवासी आर्य लोगो की चहुमुखी और सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये कायम की गई संस्था का नामकरण-संस्कार ऋषि ने 'आर्यसमाज' किया। आर्यसमाज के छठे नियम का अभिप्राय इसका विरोधी नहीं; बल्कि पोषक है। उस नियम का पहिला भाग यह है कि 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।' इस उद्देश्य की पूर्ति का उपाय ऋषि ने उसी नियम के दूसरे भाग मे बताया। वह यह कि "अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" शारीरिक एवं आत्मिक उन्नति से अभिप्राय व्यक्तिगत उन्नति से और सामाजिक से अभिप्राय समष्टिगत उन्नति से है। इसी को जब हम सारे संसार पर घटाते हैं, तब हमारा देश उसकी ईकाई या व्यक्ति कहा जायगा और संसार की उन्नति का प्रारम्भ हमें अपने देश की उन्नति से करना होगा। अपने को कंगाल बनाये रखने वाला दूसरे को क्या दे सकता है? जो स्वयं मूर्ख है, वह दूसरो को क्या सिखा सकता है? जो स्वयं अवनति के गड्ढे में औंधे मुंह गिरा पड़ा है, वह दूसरों को उन्नति के शिखर पर ले जाकर खड़ा नहीं कर सकता। हम स्वयं गुलामी, पराधीनता, पददलित अवस्था और दीनता-हीनता में जब तक पड़े हुये हैं, तब तक दूसरो को क्या उन्नत बना सकते हैं? ऋषि दयानन्द की आँखों से यह सचाई छिपी हुई नहीं थी। वे इसके मर्म को भली प्रकार जानते और समझते थे। इसी लिये उनका यह दावा था कि "जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण हो सकता है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।"

महर्षि के इस दावे की परीक्षा यदि उस समय की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को सामने रख कर की जा सके, तो आर्यसमाज की स्थापना का

महत्व असन्दिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता हैं। सन् १७५७ की प्लासी की लड़ाई के बाद आर्यावर्त की बची-खुची स्वतन्त्रता का भी अन्त होकर अंग्रेजो की हकूमत का यहा सूत्रपात हो चुका था। ईसाई राष्ट्र अपने शासन को पराधीन देश मे सुदृढ बनाने के लिये जिन उपायो को काम में लाते हैं, उनका श्रीगणेश इस देश में भी किया जा चुका था। लार्ड क्लाइव ने इस देश मे अंग्रेजी हकूमत को कायम किया और लार्ड मैकाले ने उसकी जड़ों को पाताल तक पहुंचाने का सफल उपक्रम बॉधा। लार्ड क्लाइव द्वारा किये गये यत्नों की चर्चा हम सिर्फ इस लिये करना चाहते हैं कि इससे जहा अंग्रेज-शासकों की दुर्नीति पर पूरा प्रकाश पड़ता है, वहॉ उसको विफल बनाने के लिये किये गये ऋषि दयानन्द के महान् प्रयत्न भी प्रकाश में आ जाते हैं। सन् १८३४-३५ के लगभग यहॉ के अंग्रेज अधिकारियों के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि यहा वे किस शिक्षा-पद्धति को अपनावे या किसका श्रीगणेश करे। लार्ड मैकाले ने इस सवाल को हल करते हुए एक लेख लिखा था, जिसमें उसने किसी कूट नीति से काम न लेते हुये खुले ही शब्दो में अपना दिल खोल कर रख दिया था। उसने लिखा था कि "*We must do our best to form a class, who may be interpreters between us and the millions whome we govern; a class of persons Indian in blood and colour but in English in taste in opinions, words and intellect.*" अर्थात् "हमे इस-देश में एक ऐसी जमात पैदा करने में अपने सब यत्न लगा देने चाहियें, जो हमारे और उन करोड़ों के बीच मध्यस्थ का काम कर सके, जिन पर हमें

शासन करना है। यह जमात भले ही हाड़-मास और रुधिर में हिन्दुस्तानी रहे; पर आचार-विचार, रहन-सहन और दिल-दिमाग से अंग्रेज बन जाय।" अपने इस यत्न में अंग्रेज राजनीतिज्ञों को प्राप्त हुई सफलता का परिचय भी लार्ड मैकाले के ही शब्दों से मिल जाता है। १८३६ में अपने पिता को उसने एक पत्र लिखा था। जिसमें उसने बहुत अभिमान के साथ यह लिखा था कि *"No Hindu, who has received an English education, ever remains sincerely attached to his religion, some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure Diests and same embrace Christianity. It is m y firm belief that if our plans of education are follwed up, there will not be a single idolater among the respactable classes in Bengal thirty years hence."* अर्थात् "जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म में सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के लिये उसे मानते हैं। अधिकतर सिर्फ एकेश्वरवादी बन जाते हैं या ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा पक्का और निश्चित विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना पूरी तरह काम में लाई गई, तो अब से तीस वर्ष में बंगाल के अच्छे घरानों में एक भी मूर्तिपूजक अथवा हिन्दू न रहेगा।" जिस काम की शुरुआत बंगाल में इस अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का श्रीगणेश करके लार्ड मैकाले ने की थी, उसी का सूत्रपात ईसाई पादरियों ने मद्रास में किया था और उन्होंने भी उसके लिये अंग्रेजी

शिक्षा पद्धति का ही सहारा लिया था। ईसाय्यत का प्रचार करना दोनों का उद्देश्य था, क्योंकि दोनो यह भली प्रकार जानते थे कि बिना इसके भारत मे अंग्रेजी साम्राज्य की जड़े पाताल तक न पहुंच सकेगी। मद्रास मे आने वाले पादरियों के पहिले गिरोह की योजना तो यह थी कि सिर्फ बीस ही वर्षों मे सारे देश को ईसाय्यत के रंग मे रंग दिया जाय। किसी देश के लोगों के स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान को सर्वथा मिटा कर वहा अपनी हकूमत को चिरस्थायी बनाने के लिये न सिर्फ अंग्रेजों ने वल्कि सभी युरोपियन राष्ट्रों ने ईसाय्यत के प्रचार को अपना मुख्य साधन बनाया है। ईसामसीह के सार्वभौम भ्रातृभाव और अहिंसा के ऊंचे आदर्शों को इन लोगो ने उठा कर ताक पर धर दिया है। उसके बदले अपने सार्वभोम साम्राज्य की स्थापना को इन्होने अपना आदर्श बना लिया है। लार्ड मैकाले के जिस लेख मे से ऊपर कुछ पंक्तिया उद्धृत की गई हैं, उससे हमारे इस कथन का पूरी तरह समर्थन हो जाता है।

लार्ड मैकाले का वह लेख आर्यावर्त या हिन्दुस्तान के प्रति अंग्रेज राजनीतिज्ञो की बदली हुई मनोवृत्ति का द्योतक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ आये हुए अंग्रेज इस देश के वैभव को देखकर दंग रह गये। यहा की समृद्धि ने उनको चकाचौंध मे डाल दिया। यहा के कला-कौशल ने उनको मोह लिया। यहा के गावों मे कायम हुआ हुआ 'स्वराज्य' उनके लिये एक अद्भुत और विलक्षण चीज थी। इस सब की सराहना उनमें से अनेको ने मुक्तकण्ठ से की है। श्री० रमेशचन्द्र दत्त का लिखा हुआ उन दिनो का इतिहास ऐसे अंग्रेज-लेखको के लेखो से भरा पड़ा है। बंगाल से पंजाब तक और मद्रास से सूरत तक जहा भी कही अंग्रेज गये, वहा

की उन्नत, समृद्ध और वैभवशाली अवस्था देखकर वे चकित रह गये। लार्ड मैकाले सरीखे अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि कहीं हमारे मुख से अपने बड़प्पन की कहानी सुनकर हिन्दुस्तानियों के हृदयों मे स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान की भावना न जाग उठे और इस देश में हमारे साम्राज्य की नींव कच्ची न रह जाय। बस, यह अनुभव करते ही उन्होने एकाएक रुख पलट लिया। हिन्दुस्तान को जंगलियों, अशिक्षितों और असभ्य लोगों का देश बताकर ये लोग उसे सभ्य, शिक्षित और उन्नत बनाने के ठेकेदार बन बैठे। लार्ड मैकाले ने अपने लेख में इस मनोवृत्ति का खासा प्रदर्शन किया है। उसने यहा के साहित्य, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, धर्म और सभ्यता आदि का खूब मजाक उड़ाया है। उसने लिखा है कि यहा का सारा साहित्य, जिसमें वह वैदिक और अरबी दोनों साहित्यो को शामिल करता है, अंग्रेजी साहित्य के पुस्तकालय की अलमारी के एक खाने में रखे गये साहित्य का भी मुकाबला नहीं कर सकता। उसने पौराणिक गाथाओं के अलंकारों को ठीकतरह न समझते हुए इतिहास और भूगोल का मजाक उड़ाया है। सनातन धर्म में जिन विविध प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गई है, उनका उल्लेख करके उसने धर्म की विडम्बना की है। हिन्दुस्तानियो को जंगली बता कर वेदो की ऋचाओ को जंगलियों के गीत कहने मे भी संकोच नहीं किया। साराश यह है कि जिस किसी भी चीज को लेकर हिन्दुस्तानियों में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना पैदा होकर स्वराज्य की आकाक्षा पैदा होने की सम्भावना हो सकती थी, उस सभी का उपहास करते हुए उसे इतना तुच्छ ठहरा दिया गया कि उस पर से स्वयं हिन्दुतानियों की ही श्रद्धा उठ गई,

विश्वास मिट गया और वे उसे अंग्रेजो से भी अधिक अर्थहीन मानने लग गये।

हिन्दुस्तानियोको इस प्रकार नैतिक और राजनैतिकदोनों ही दृष्टियो से सर्वथा दीन, हीन, पराधीन, पतित और असहाय बना देने वाली पश्चिम से उठी हुई ईसाय्यत की लहर की पृष्ठ-भूमि को सामने रख कर ही आर्य-समाज और उसके संस्थापक के गौरव एवं महत्व को समझा जा सकता है। यदि कही ऋषि दयानन्द ने भारतीय साहित्य, विज्ञान, धर्म, इतिहास, भूगोल, सभ्यता आदि की सर्वश्रेष्ठ विभूति को देशवासियों के सम्मुख पेश न किया होता, तो आज हमारा देश सही मानों मे इंग्लैएड का एक उप-निवेश बन चुका होता। उपनिवेश वह प्रदेश है, जिसे नये सिरे से आबाद, शिक्षित और सभ्य बनाया जाता है। युरोपियन राष्ट्रो के अन्य उपनिवेश इसी प्रकार उन द्वारा आबाद, शिक्षित और सभ्य बनाये गये हैं। इसलिये वे उनका आभार और उपकार मानकर उनकी आधीनता मे रह सकते हैं। हिन्दुस्तान को भी इसी प्रकार नये सिरे से आबाद, शिक्षित और सभ्य बनाने के लिये लार्ड मैकाले और उसके साथियो द्वारा रचे गये षड्-यन्त्र का ऋषि दयानन्द ने भाण्डाफोड़ कर दिया। ऋषि दयानन्द सिवा संस्कृत, हिन्दी और गुजराती के कोई और भाषा नही जानते थे। अंग्रेजी से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसी लिये उनकी सारी भावनाओ, कल्पनाओ, आकाक्षाओ और आदर्शों का एकमात्र स्रोत सिर्फ वह वैदिक भारतीय साहित्य था, जिसे लार्ड मैकाले एण्ड ईसाई कम्पनी के लोग इस देश के लोगो की आखो से सर्वथा ओझल कर देना चाहते थे। ऋषि दयानन्द को अपने देश पर होने वाले एक प्रबल आक्रमण का मुकाबला करना

था। इसी से उनके सारे ही साधन सोलह आना भारतीय रंग में रंगे हुए थे। जब इस देश के लोगों को जंगली, असभ्य और अशिक्षित बताया जा रहा था, तब ऋषि ने उनके हृदयों में सर्वश्रेष्ठ होने की भावना पैदा करने के निमित्त से उनके लिये 'आर्य' शब्द का प्रयोग कर उनके देश के लिये भी उसके पुरातन नाम 'आर्यावर्त' शब्द का प्रयोग किया और उनको मनु का प्रमाण देकर यह बताया कि "इसी देश में जन्म लेने वाले हमारे पूर्वजों ने ही सारे संसार को आबाद, शिक्षित एवं सभ्य बनाकर उनको आचार-विचार और चरित्र की शिक्षा-दीक्षा दी थी।" वेद को संसार मे सब से पुराना साहित्य बताकर सब सत्य विद्याओं का उसे ग्रन्थ बताया। आर्यावर्त के लिये अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य का दावा पेश करते हुए उसको पूरा करने के लिये उन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। यह है वस्तुस्थिति, जिसे सामने रख कर ऋषि दयानन्द के महान् मिशन और आर्यसमाज के महान् कार्य को जानने और समझने का यत्न किया जाना चाहिये।

अपने देश पर आने वाले इस महान् संकट की कल्पना ऋषि दयानंद से पहिले भी की जा चुकी थी। राजा राममोहन राय ने उसके विरोध में आवाज भी उठाई थी। लेकिन, वे उस संकट का सामना न कर सके। विलायत जाकर सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनवाने के लिये किये गये यत्न ने उनको पथ-भ्रष्ट कर दिया। अंग्रेजी शिक्षा से वे कुछ अधिक प्रभावित हो गये थे। इसी लिये ब्राह्मसमाज के लिये ऋषि दयानन्द को यह कहने के लिये मजबूर होना पड़ गया कि उनमें देशभक्ति बहुत कम है। पश्चिम में प्रार्थनासमाज के रूप में उठी हुई लहर भी पूर्व की ब्राह्मसमाज की

लहर के समान ईसाय्यत के भीषण आक्रमण का मुकाबला न कर सकी। आर्यसमाज के समान इनके सामने न तो भारतीयता का कोई ऊंचा आदर्श था और न कोई ऊँची कल्पना या भावना ही थी। वैदिक भारतीय साहित्य का भी उनको इतना ज्ञान न था। फिर वे कैसे ईसाय्यत का सामना करते?

एक बात और है। विरोधी जब आक्रमण करता है, तब वह आक्राता की कमजोरियों से ही लाभ उठाता है। ईसाय्यत ने हमारी कमजोरियों से लाभ उठाने मे कोई कोर-कसर बाकी न रखी। हमारे धार्मिक कुसंस्कार, सामाजिक रूढ़िये, जातिगत बन्धन और परम्परागत भेदभाव आदि वे कमजोरिया थी, जिनसे ईसाय्यत को साधन बना कर हमारे देश पर आक्रमण करने वाले विदेशी लाभ उठाते थे। ऋषि दयानन्द ने इस आक्रमण को विफल बनाने का जब बीड़ा उठाया, तब उनके लिये यह जरूरी हो गया कि वे चुन-चुन कर इन कमजोरियों को दूर कर डालते। उनके खण्डनात्मक कार्य का यही हेतु और यही सौन्दर्य था। इसे समझने का हम यत्न ही नही करते। परस्पर के जिस विवाद, बहस और शास्त्रार्थ आदि ने वितण्डा का रूप धारण कर लिया है,उसके पीछे हम इस सौन्दर्य को आखों से ओझल कर जाते हैं। आज गाधी जी के पुण्य प्रताप से हिन्दू समाज को हरिजनो के साथ मनुष्योचित व्यवहार करने और उन्हे मन्दिरो में देव-दर्शन तक के अधिकार देने का राजनीतिक महत्व भी मालूम हो गया है। इसी से वह आर्यसमाज के दलितोद्धार के कार्य को भी अब सहानुभूति की दृष्टि से देखने लग गया है। आर्यसमाज के ऐसे ही अन्य कार्यों का महत्व भी धीरे-धीरे प्रगट होता जा रहा है और वह समय दूर नहीं है, जब ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के खण्डनात्मक कार्य की

राष्ट्रीयता को भी स्वीकार किया जायगा और यह माना जायगा कि बिना इसके राष्ट्र-निर्माण का महान् कार्य होना सम्भव न था। यह बात दूसरी है कि आर्यसमाज के इस समय के उपदेशको और भजनीको का प्रचार राष्ट्रीयता से एकदम रहित होने से सिर्फ वितण्डावाद को पैदा कर रहा है और वह राष्ट्र-निर्माण में सहायक न होकर विघातक साबित हो रहा है। यह ऋषि दयानन्द का नहीं, उनके अनुयायियों का दोष है। किस महा-पुरुष के अनुयायी उसके बताये हुए मार्ग से विरुद्ध जाकर उसकी निन्दा का कारण नहीं बन जाते? ऐसे साधारण लोगो की तरह ही आर्यसमाजियो का भी ऋषि दयानन्द के अधकचरे अनुयायी बन जाना उन्हें शोभा नहीं दे सकता और न इस प्रकार वे ऋषि के महान् मिशन को ही पूरा कर सकते हैं?

५

जीवन की झांकी

भारत में अंग्रेजी राज को कायम करने मे जैसा प्रमुख भाग लार्ड क्लाइव और लार्ड मैकाले का है, वैसा ही देशवासियो के हृदयो में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की उज्ज्वल भावना को जगा कर उनमे स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता के लिये उत्कण्ठा पैदा करने मे ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जी का है। अंग्रेजी राज द्वारा किये गये इन दो कूटनीतिज्ञों के मुकाबले मे आर्यसमाज ने इन दो महापुरुषों को जन्म दिया है। महात्मा या महापुरुष का लक्षण नीतिकारों ने मन-वचन-कर्म मे एक होना बताया है। ऊंचे आदर्शों, विशाल भावनाओं और महान् कल्पनाओं को यदि जीवन मे पूरा नही उतारा जा सकता और उनके लिये कुछ भी त्याग, तपस्या एवं कष्ट सहन नही किया जा सकता, तो वे सर्वथा निरर्थक हैं और दूसरों को अपनी ओर खीचने की उनकी आकर्षण शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। बाल्यावस्था मे ही ऋषि दयानन्द मे जो अद्भुत परिवर्तन हुआ था, उसी का यह परिणाम था कि उन्होंने दूसरों के सामने जो भी कुछ पेश किया, उसकी उन्होंने अपने जीवन मे पूरी तरह समीक्षा और परीक्षा की। अध्ययन से उनको जो कुछ भी मिला, उसकी उन्होंने जीवन की कसौटी पर परख की और उस परख मे जो चीज पूरी उतरी, उसको उन्होंने जनता के सामने पेश किया। इसी लिये उनके मन, वचन और कर्म मे अपूर्व और अलौकिक सामंजस्य पाया

जाता है। उनकी देशभक्ति और राष्ट्रीयता का पीछे जो बखान किया गया है, उनका जीवन उसके सोलह आना अनुरूप था।

अमृतवर्षी स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने ऋषि की राष्ट्रीयता के सरोवर में गोता लगा कर कुछ उज्ज्वल रत्न प्राप्त किये हैं और उनको उन्हों ने "श्रीमद्दयानन्दप्रकाश" नाम से लिखी गई ऋषि की जीवनी की माला मे बहुत सुन्दर और आकर्षक ढंग से पिरोया है। वे उसमें एक जगह लिखते हैं कि "वे देश और जाति की उन्नति के विषयो पर भी ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणों को सुन कर श्रोताओं में ऊष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ आता था, हृदय उछलने लगता था, अंग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खौलने लग जाता था; किन्तु किसी मनुष्य या जाति के लिये मन मे घृणा और द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र-सुधार के विचार सिद्धान्त-रूप में प्रकाशित होते थे। वे दार्शनिक भाव लिये होते थे और सब पर घट जाते थे। महाराज ने स्वराज्य और स्वतन्त्र शासन के सार मर्म के कुछ एक सूत्र और अति स्पष्ट सूत्र "सत्यार्थप्रकाश" में उस समय लिखे थे, जब यहां जातीय महासभा "कांग्रेस" का जातकर्म भी न हुआ था और शासन-सुधारवादियो ने स्वराज्य का अभी स्वप्न भी नहीं देखा था। महाराज के समय भारतीयो की राष्ट्र-नीति अभी नवजात बालिका थी, दुधमुंही बच्ची थी, पालने में पड़ी अगूंठा चूस रही थी। नीति-निपुण मुसलमान सज्जन उसे अछूत समझ उससे बड़े अन्तर पर रहते थे। थोड़े से आर्य लोग थे, जो कभी कभी दो एक बार उसे व्याख्यान-भवनो के हिण्डोले में

डाल कर अपने धुआंदार भाषणों के दो-चार हिलोड़े दे छोड़ा करते थे। उनके भाई-बन्धु भी बहुतेरे ऐसे थे, जो मीठी मीठी लोरियों और कोमल थपकियों से उसे सुलाये रखने मे ही तत्पर थे। राष्ट्र-जागृति और जातीय जीवन के ऐसे बाल-काल मे भी स्वामी जी का बलाढ्य शब्दो मे, ओज और ऊष्मापूर्ण भाषा मे, स्वायत्त शासन का समर्थन करना, उसे परम सुखदायक बताना इस बात का उज्ज्वल और ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके राष्ट्रनीतिसम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगति को पाये हुये थे; परम और चरम लक्ष्य को परिलक्षित कर चुके थे। उनके विशाल हृदय मे भारत की प्रजा का हित कूट कूट कर भरा हुआ था। उनके अन्तःकरण मे, मस्तक मे, अस्थि मे, मज्जा मे, एक एक रक्तबिन्दु और नाड़ी-नस मे भारत के कल्याण की निष्कलंक कामना उत्कृष्ट उत्कर्ष को पहुंच चुकी थी। समय आयगा, जब भारत की भावी सन्तति, अपने जातीय मन्दिरों मे स्वायत्त-शासन की देवी का पूजन करने से पूर्व, उसे पहिले-पहिल आह्वान करने वाले देवस्वरूप दयानन्द का प्रथम अर्चन किया करेगी।"

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग मे उन्होंने लिखा है कि "अमृत की खोज मे जंगल, पहाड़ और नदियों के स्रोतो को खोज डालना और अपनी आयु को घोर तपस्या में बिताना उनके जीवन को श्रीराम के बनवास से भी बढ़कर बना देता है। आत्मा को अजर, अमर और अविनाशी मान कर हमेशा लोकसेवा के मैदान में डटे रहना कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण महाराज को आंखो के सामने ला खड़ा करता है। भगिनी और चाचा की मृत्यु से प्रभावित होकर विवाह की तय्यारियों व समारोह में से भाग निकलना और अपने जीवन को ब्रह्म-समाधि मे लगा

कर मृत्युंजय पद को पाने के लिये अमृत की खोज करना भगवान् बुद्ध की बोधी वृक्ष के नीचे की समाधि को सहसा याद दिलाता है। दीन, दुःखियों, अपाहजों और अनाथो के लिये आसू बहाते हुए महर्षि क्राइस्ट जान पड़ते हैं। शास्त्रार्थ की वेदी पर खड़े हुए और धुंआधार भाषण करते हुए वे आचार्य शंकर दीख पड़ते हैं। एकेश्वरवाद और वैदिक सार्वभौम भ्रातृ-भाव का उपदेश करते हुए मुहम्मद साहब प्रतीत होते हैं। भक्ति और ध्यान में मग्न उनमें सन्तवर रामदास, कबीर, दादू, चैतन्य, तुकाराम आदि सभी भक्तों की प्रतीति होने लगती है। देश की दुर्दशा से सताये हुए जब वे राजनीति का उपदेश करते हुए स्वराज्य, साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्य की चर्चा करते हैं और अपने देशी नरेशो व रईसो के पतन व अवनति मे सन्तप्त हुए वे उनके सुधार की चेष्टा करते हैं, तब आर्यवर्त के संरक्षक, आर्य-संस्कृति के उद्दीपक और आर्यत्व के पालक वे प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह, गुरु गोविन्दसिंह और छत्रपति शिवाजी महाराज मालूम होते हैं।"

महर्षि के चहुमुखी और व्यापक जीवन के जिस स्वरूप का चित्र ऊपर की अन्तिम पंक्तियों में खींचा गया है, उसी की एक झांकी हमें यहा दिखानी है। आर्यसमाजी उपदेशको, भजनीको और प्रचारको ने ऋषि की चहुमुखी प्रवृत्तियों पर कुछ ऐसा परदा डाला है कि सर्वसाधारण के सामने उनका स्वरूप केवल एक धर्म-प्रचारक और समाज-सुधारक का रह गया है। बड़े-बड़े लोग भी उनको सिर्फ धर्म-संशोधक के रूप में देखते हैं। उनके शास्त्रार्थों और धर्म-प्रचार को उनके महान् जीवन का सार मान कर उसे ही जनता के सामने पेश किया जाता है। यह सर्वथा भुला दिया

जाना है कि उनके जीवन की महान् आकांक्षा, महान् उद्देश्य, महान् आदर्श और महान् स्वप्न तो अपने देश को स्वतन्त्र देखकर सारे संसार मे उसी के अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम स्वराज्य की स्थापना हुई देखना था। एक बार उनसे एक कलैक्टर ने उनका भाषण सुनने के बाद बिलकुल ठीक ही कहा था कि "यदि आपके भाषण पर लोग चलने लग जाय, तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि हमे अपना बंधना-बोरिया बाधना पड़ेगा।"

देश की दुर्दशा और अपने देसी नरेशों तथा रईसो के पतन व अवनति को देखकर उनके हृदय मे जो सन्ताप पैदा होता था, उसको यदि अनुभव किया जा सके, तो सहसा ऋषि के महान् जीवन के राष्ट्रीय स्वरूप की एक स्पष्ट झाकी देखी जा सकती है। बड़े सन्ताप के साथ ऋषि ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' मे यह लिखा है कि "अन्य देशो में राज्य करने की तो कथा ही क्या कहना, किन्तु आर्यवर्त मे भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियो के पादाक्रात हो रहा है।" अपने इसी सन्ताप को मिटाने के लिये ऋषि ने राजस्थान की खाक छानते हुए एक देसी नरेश के जीवन को सुधारने के पीछे अपने जीवन का उत्सर्ग राजस्थान मे ही किया। जैसे स्वामी रामदास ने छत्रपति शिवाजी की खोज मे अपने को लगा दिया था या जैसे पंजाब से निराश हो दक्षिण की यात्रा करते हुए बंदा बैरागी गुरु गोविन्दसिहजी महाराज को मिल गया था, ठीक वैसे ही ऋषि ने इसी आशा से अपने देश के, खासकर राजस्थान के सभी नरेशों के दरवाजे खटखटाये थे; लेकिन, उनको महाराणा प्रताप की विभूति के कहीं भी दर्शन न हुए। वीरभूमि मेवाड़ से

उनको बहुत आशाये थी। मारवाड़ से भी वे काफी आशाये बांधे हुए थे। अपना मुख्य कार्यक्षेत्र इसी से उन्होंने राजस्थान को बनाया था। मेवाड़-उदयपुर मे बैठकर उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा। देसी नरेशों का नैतिक पतन देखकर वे इसी लिये ज्वालामुखी की तरह सन्तप्त या उत्तप्त हो जाते थे कि देश को स्वतन्त्र देखने की उनकी सारी आशाओ पर सहसा तुषारपात हो जाता था। जोधपुर महाराज को जब उन्होंने नन्ही जान वेश्या की पालकी मे हाथ लगाते देखा, तो वहा ही सब की उपस्थिति में उनको कहा कि "राजन्! राजा लोग सिंह समान समझे जाते थे। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है। आर्य-जाति की कुल-मर्यादा के यह सर्वथा विपरीत है। केसरी की कंदरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्करी के आगमन का क्या काम? इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म नष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पाप-सोपान पर पैर रखते ही पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन आप ही आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलाजली दे देनी चाहिये।" इसी प्रसंग मे महाराज प्रतापसिंह को आषाढ बदी तृतीया १९४० को ऋषि ने एक पत्र लिखा था। वह पत्र अत्यन्त भावपूर्ण है। हम उसको ज्यों का त्यों नीचे देते हैं :—

"श्री मान्यवर शूर महाराजा श्री प्रतापसिंह जी,—

आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टिगोचर भी करा दीजियेगा। मुझे इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान हैं और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर

वाले हैं। इस राज्य मे सोलह लाख से अधिक मनुष्य बसते हैं। उनके रक्षण तथा कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। उनका सुधार या विगाड़ भी आप तीन महाशयो पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर की रोग से रक्षा करने और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत अल्प ध्यान देते हैं। यह बात कितनी शोचनीय है।

मैं चाहता हूं कि आप अपनी दिनचर्या मुझ से सुधार लें; जिससे मारवाड़ का तो क्या, अपने आर्यावर्त देशभर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जाय। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत थोड़े जन्मते हैं और जन्म कर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं।

इसके हुये बिना देश का सुधार कभी नहीं होगा। आप जैसे पुरुष जितना अधिक जियें, उतनी ही अधिक देशोन्नति होती है,—इस पर आप लोगों को ध्यान अवश्य देना चाहिये। आगे जैसे आप लोगों की इच्छा हो।"

पत्र की भाषा और भाव इतने स्पष्ट हैं कि उन पर कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है। देसी राज्यो मे देसी नरेशो को सुधारने के प्रयत्नो पर भी इस पत्र से काफी प्रकाश पड़ता है। जोधपुर-नरेश के सुधार मे वे केवल मारवाड़ का ही नही, बल्कि सारे ही आर्यावर्त के कल्याण का स्वप्न देखा करते थे और यही था वह स्वप्न, जिसकी पूर्ति के लिये उन्होंने मारवाड़ के समान मेवाड़, जयपुर, शाहपुर, भरतपुर, रीवा, ग्वालियर, धौलपुर, करौली और इन्दौर आदि सभी राज्यो मे दौरा कर वहा के नरेशो तक अपना सन्देश पहुँचाने का यत्न किया। काशी-शास्त्रार्थ तो हमें याद रहता है, किन्तु हम यह नही जानना चाहते कि उन्होंने किस आन्तरिक भावना से प्रेरित होकर बार बार काशी-नरेश का द्वार खटखटाया। १८८७ के दिल्ली

दरबार के समय इन्दौर के महाराज तथा कुछ अन्य नरेशो ने मिलकर यह यत्न किया कि सब देसी नरेशो को इकट्ठा करके उनके सामने स्वामी जी का क्षात्र-धर्म पर उपदेश कराया जाय।

बम्बई में अपने एक भाषण में ऋषि ने सिंह गर्जना करते हुये एक बार कहा था कि "इस देश के राजाओ की अवनति और दुःख का कारण उनके मूर्ख और दुष्ट मन्त्री हैं। यदि हमारे राजाओं की ऐसी दशा और बुद्धि न होती तो आज हमारी और हमारे देश की भी यह दीन और हीन दशा न होती। वास्तव मे इस देश की अवनति और पतन का कारण ऐसे ही राजे और रईस हैं, जो दिन-रात प्रजा के धन को नाच-तमाशों और व्यर्थ के कामों में उड़ाते रहते हैं। वे अपनी शारीरिक शक्ति और मानसिक स्मृति को खो कर किसी काम के नहीं रहते। इनके प्रमाद और अनभिज्ञता से राज्य के प्रबन्ध मे बड़ी अव्यवस्था हो जाती है। फिर नये नये बखेड़े पैदा होते रहते हैं।" वे प्रायः कहा करते थे कि "हिन्दू राज्यों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वे कभी के नष्ट-भ्रष्ट हो गये होते, परन्तु जितने या जो कुछ भी बचे हुये हैं, वे उनकी रानियों के पतिव्रत धर्म से बचे हुये हैं। यदि राजाओ के कर्म पर निर्भर होता, तो कभी का बेड़ा डूब गया होता।" देसी नरेशो को आधार मान कर अपने देश का राजनीतिक कायाकल्प होने की आशा कर उनके सुधार, उद्धार और उन्नति के लिये सक्रिय प्रयत्न करने वाले पहिले महापुरुष ऋषि दयानन्द ही थे। उन्होंने अपने जीवन के कार्य मे जितना महत्व देसी राज्यो को दिया, उतना आज भी देश के सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में उनको प्राप्त नहीं हुआ है। अजमेर उनके कार्य का केन्द्र था। परोपकारिणी सभा की स्थापना उन्होंने उदयपुर

मे ही की थी और उदयपुर-नरेश को उसका सभापति बनाकर अन्य कई नरेशो को भी उसका सभासद् बनाया। उदयपुर में हिन्दी और देवनागरी को जो महत्व प्राप्त हुआ, वह ऋषि की प्रेरणा का परिणाम था। वे देसी नरेशो की सन्तानो को शास्त्र और शस्त्र दोनो की पूर्ण शिक्षा देने के प्रबल पक्षपाती थे।

अपने इस महान् मिशन से ऋषि को विचलित करने के लिये देसी नरेशों की ओर से काफी यत्न किया गया, उनको बड़े से बड़े प्रलोभन दिये गये और धमकिया भी दी गई। लेकिन, वे अपने ध्येय पर स्थिर और अविचलित बने रहे। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह जी और काश्मीर के पं० मनफूलसिंह साहेब द्वारा दिये गये प्रलोभन की चर्चा हम पीछे कर आये हैं।

अपने देश को स्वतन्त्र और स्वाधीन देखना ही उनके लिए ईश्वरीय आदेश था, जिसके पालन करने मे उन्होने किसी भी भय, प्रलोभन या संकट की परवा नहीं की और अन्त मे उसी के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग कर दिया। बड़े दु.ख के साथ यह मानना होगा कि ऋषि के विश्वास पर देसी नरेश पूरे नही उतरे, उनकी आशाओ को उन्होंने पूरा नहीं किया और उनके भरोसे अपने देश की स्वतन्त्रता का जो स्वप्न वे देखा करते थे, वह सत्य सिद्ध नही हुआ। विदेशियो की कूटनीतिक चालो के मायाजाल मे वे पूरी तरह उलझ गये और अपने देश के विरुद्ध वे उनके हाथ का खिलौना बन गये। वे अपने देश की आजादी के मार्ग मे आज काटा बने हुए हैं और अंग्रेजों के लिये अपने राष्ट्र के विरुद्ध वे श्री शैलवेंकर के कथन के अनुसार "पाचवां कालम" बने हुये हैं। लेकिन,

इससे ऋषि के जीवन और उनके जीवन के महान् राजनीतिक मिशन का गौरव कुछ भी कम नही होता। आज देश का ध्यान बरबस देसी राज्यों की ओर जा रहा है। देश को एक और अखण्ड मानकर राजनीतिक आन्दोलन का संचालन किया जा रहा है। देसी राज्यो के प्रति ऋषि की जो भावना थी, वह जोर पकड़ती जा रही है और उनमें जीवन, जागृति एवं प्रगति पैदा करने के विशेष यत्न किये जा रहे है ।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुये दो-एक और प्रसंगो का उल्लेख कर देना भी उचित और आवश्यक प्रतीत होता है। १८८७ के दिल्ली दरबार के अवसर पर आपने उस समय के बड़े बड़े नेताओ का सम्मेलन करने का आयोजन किया था। उनके सामने आपने यह विचार पेश किया कि परस्पर के भेद भाव, द्वेष और कुटिलता को दूर करना चाहिए और धार्मिक विरोध को दूर कर के उपद्रव व अशान्ति की जड़ ही काट डालनी चाहिए,जिससे सब एक लक्ष्य होकर और मिलकर देश के सुधार और कल्याण मे लग सके। सम्मेलन मे अन्तिम निर्णय कुछ भी न हुआ। सम्मेलन में निमन्त्रित किये गये कुछ महानुभावों के नाम ये थे :—मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, बाबू केशवचन्द्र सेन, मुन्शी इन्द्रमणि, सर सैय्यद अहमद खा और बाबू हरिश्चन्द्र ।

उदयपुर का एक और प्रसंग है। एक दिन श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने ऋषि से पूछा कि "भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहा जातीय उन्नति कब होगी?" ऋषि ने उत्तर दिया कि "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारतका पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियो का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहा भाषा,

भाव और भावना मे एकता आ जाय, वहा सागर मे नदियो की भांति, सारे सुख एक एक करके प्रवेश करने लगते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करे। अपने राज्य मे धर्म, भाषा और भावो मे एकता पैदा करें। फिर भारतभर मे आप ही आप सुधार हो जायगा।" फिर पड्या जी ने कहा कि "जब आपका उद्देश्य और आदर्श एकता का सम्पादन करना है, तो आप मतमतान्तरों का कठोर खण्डन क्यो करते हैं? इससे तो उलटा वैर, विरोध और वैमनस्य बढता है।" ऋषि ने उनका समाधान करते हुये कहा कि "एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे संकुचित नही किया जा सकता। दूसरे भारतवासी लम्बी तानकर ऐसी गहरी नींद सो रहे हैं कि मीठे शब्दो से ता आख तक खोलने को तय्यार नहीं होते। सुधार का ये नाम तक नहीं लेते। कुरीतियो और कुनीतियो के खण्डन रूप कड़े कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से यदि ये जाग जावें, तो ईश्वरका कोटि-कोटि धन्यवाद करूंगा।" ऋषिने आगे कहा कि "धर्म गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिन्ह बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार बिगड़ जाते हैं। रहन-सहन के ढंगों मे भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय इस देश पर उपस्थित है। यदि इसे संभाला न गया, तो आर्य जाति परिवर्तन के चंचल-चक्र में पड़कर अतिशय उतावली से अपने पूर्व पवित्र स्वरूप को बिगाड़ डालेगी। इसके पिछले प्रमाद के कारण करोड़ो मुसलमान बन गये। अब प्रति दिन ईसाई बनते जा रहे हैं। ऐसे समय मे तो कड़े हाथों से उनकी चोटिया पकड़ कर जगाना होगा। मैं इस कटु कर्तव्य का पालन कुछ अपने स्वार्थ से तो नहीं कर रहा।

मुझे तो इसके लिये अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट, पत्थर और विष स्थान स्थान पर मिलता है। लेकिन, बन्धुवात्सल्य की भावना मुझे विपत्तियों के जटिल और विकट जाल में समाज-सुधार के लिये प्रोत्साहित कर रही है।" परड्या जी ने हाथ जोड़कर कहा कि "यदि दो-चार धर्माचार्य भी आपके विचार के हो जाय, तो थोड़े समय में ही आर्य जाति का बेड़ा पार हो सकता है।" लेकिन, दुर्भाग्य है आर्य जाति का कि उसका बेड़ापार करने के लिये प्रगट हुये महापुरुष को विष का प्याला पिला कर उसने उसका ही जीवन हर लिया।

ईसाई जिन कुरीतियों और कुनीतियों से लाभ उठा रहे थे, उनका खण्डन करने में जिस कठोरता से ऋषि ने काम लिया, उसकी वजह से साधारण लोग उनको 'असहिष्णु' कहने लग जाते हैं। सत्यार्थप्रकाश के खण्डनात्मक प्रकरण में ऋषि ने एक जगह लिखा है कि "यह लेख इस लिये लिखा है कि जो जो भलाई है वही भलाई और जो जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे, न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह माने या न माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।" उनके सारे लेखो और सारे जीवन में यही भावना ओतप्रोत है। इसके रहते उनको असहिष्णु नहीं कहा जा सकता। बुराई के प्रति असहिष्णु होना दूषण नहीं, भूषण है। आज जैसे गान्धीजी के लिये हिन्दुओं की छूतछात और हरिजनों के प्रति नीच व्यवहार असह्य हो गया है, वैसे ही ऋषि के लिये अपने देश एवं समाज की सभी धार्मिक, सामाजिक एवं परम्परागत बुराइयाँ असह्य थीं। वे उनको एक क्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकते थे। उनको दूर

करने के लिये उन्होंने यही आदेश और उपदेश दिया कि "यही सज्जनो की रीति है कि अपने व पराये के दोषों को दोष और गुणों को गुण जान कर गुणो को ग्रहण और दोषों का त्याग करे।" दूसरी जगह 'सत्यार्थ-प्रकाश' मे फिर उन्होंने लिखा है कि "प्रथम अपने दोष देख और निकालने के पश्चात् दूसरे के दोषो पर दृष्टि देके निकाले।" अन्यत्र वे लिखते हैं कि "जब तक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाय, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता।" "सब सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कार्यों में अर्थात् जो निज के काम हैं, उनमे स्वतन्त्र रहे।" आर्यसमाज का दसवा नियम सहिष्णुता की व्यापक भावना का ही द्योतक है। वह यह है कि "सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन मे परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतन्त्र रहें।" समाज, जाति, देश और राष्ट्र के काम मे मनुष्य को उनके आधीन रख कर निज कार्यों में पूर्ण स्वाधीनता देना ही सहिष्णुता है। यही ऋषि के जीवन, मिशन, आन्दोलन और सगठन का आधार है। दूसरों के प्रति अपनी भावना को ऋषि ने इन शब्दों मे प्रगट किया है कि "जैसा मैं पुराण, जैनियो के ग्रन्थ, बाईबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमे गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा समस्त जाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूं, वैसे सबको करना चाहिए।" सच तो यह है कि वे अपने अध्ययन, अनुभव और अनुशीलन के बाद इस परिणाम पर पहुँचे थे कि "विदेशियो के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना व बाल्या-

वस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषण आदि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" इन कुकर्मों का सहन कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था। यही असहिष्णुता उनके जीवन की उत्कृष्टता है। इन कुकर्मों का त्याग, इन बुराइयों का बिना किसी शर्त के प्रतिवाद और असत्य का बिना किसी समझौते के तिरस्कार ही उनके जीवन की असहिष्णुता है, जो सभी महापुरुषों में पाई जाती है।

ऋषि के जीवन की एक विशेषता और है। वह यह कि इतने दृढ़ क्रान्तिकारी समाज-सुधारक होते हुये भी उन्होंने सरकारी कानून बनवा कर अथवा किसी और रूप मे सरकार की सहायता लेकर किसी भी सुधार को कार्य में परिणत करने का कभी विचार तक नहीं किया। राजा राम-मोहन राय ने जैसे सती प्रथा को बंद कराने और श्री ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर ने विधवा विवाह को जारी कराने के लिये सरकार या सरकारी कानून का सहारा लिया, वैसा ऋषि दयानन्द ने नहीं किया। अपने जीवन पर संकट आने पर भी किसी को पुलिस के आधीन करने या कराने की इच्छा तक प्रगट नहीं की, बल्कि यही कहा कि मैं दुनिया को बंधन मे डालने नहीं, मुक्त कराने के लिये आया हूं।

यह है ऋषि का वह जीवन, जिसने दीपक की तरह जल कर, इस देश मे चहुमुखी जाग्रति एवं प्रगति का प्रकाश फैलाया है। राष्ट्रवाद उस दीपक की अन्तर्ज्योति है। हम चाहते हैं कि हमारे पाठक ऋषि की उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना एवं उज्ज्वल देशप्रेम को हृदयंगम करने के उद्देश्य से उनके महान् जीवन को जानने का यत्न करे।

६

सरकार की वक्र दृष्टि

जहां जहां आर्यसमाज का जोर है, वहां वहां राजद्रोह प्रबल है। आर्यसमाज का विकास हठात् सिख-सम्प्रदाय की याद दिलाता है, जो सोलहवीं शताब्दि के शुरू में नानक द्वारा प्रारम्भ किये जाने पर सिर्फ धार्मिक एवं नैतिक सुधार का आन्दोलन था और पचास ही वर्षों मे हरगोविन्द की आधीनता में शक्तिशाली राजनीतिक और सैनिक संगठन बन गया।"—ये शब्द वैलेण्टाइन शिरोल ने "अनरैस्ट इन इण्डिया" नाम की अपनी उस पुस्तक मे लिखे हैं, जिसमे उसने आर्यसमाज के प्रति सरकार की वक्र दृष्टि का पूरा पूरा चित्र खींच दिया है। सन् १६०७ में रावलपिण्डी मे हुये दंगों में आर्यसमाजियो के निरपराध छूट जाने पर भी उसने लिखा था कि "पंजाब और संयुक्त प्रांत के राजद्रोही आन्दोलनों मे आर्यों ने प्रमुख भाग लिया है। रावलपिण्डी के सन् १६०७ के दंगो में आर्य प्रमुख नेता थे और पिछले दो वर्षों के उस भयानक आन्दोलन के, जिसके परिणामस्वरूप वास्तव मे उपद्रव हुये, लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह दोनों नेता आर्यसमाजी है।" वह समय था, जब कि सरकार और सरकारी अधिकारी और सरकार के समर्थक लोग 'आर्यसमाजी' उन्हें कहा करते थे, जो अंग्रेज सरकार के विरुद्ध असन्तोष पैदा कर अपने देश मे अपना राज्य स्थापित हुआ देखना चाहते थे। कोमागातामारू के सुप्रसिद्ध नेता बाबा गुरुदत्तसिंह जी को भी आर्यसमाजी कह कर सिख-

समाज से बहिष्कृत कराने की कोशिशें की गईं। सरकारी प्रकोप और उसकी वक्र दृष्टि से अपनी जान बचाने के लिये सिख और सनातनी अपनी बिरादरी के ऐसे लोगों के आर्यसमाजी होने का फतवा देने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो देश में पैदा होने वाली राजनीतिक जागृति और असन्तोष के पाप का सारा ठीकरा आर्यसमाज के सिर फोड़ा करते थे। 'आर्यसमाज' को राजद्रोही संस्था और 'सत्यार्थ-प्रकाश' को राजद्रोही ग्रन्थ बताने वाले ऐसे लोगों को 'गोकरुणानिधि' सरीखे विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से लिखे गये सर्वथा निर्दोष पुस्तक में भी राजद्रोह की गन्ध आने लगी। ऐसे लोगों के कुचक्र और षड्यन्त्र के फलस्वरूप 'सत्यार्थप्रकाश' और आर्यसमाज के विरुद्ध कई बार मुकद्दमे भी दायर किये गये। १६०२ में इलाहाबाद मे,१६०५ में कराची में और १६०६ में पटियाला में ऐसे ही मुकद्दमे चलाये गये थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी (तब के महात्मा मुंशीरामजी) के शब्दो मे कहा जाय, तो आर्यसमाजी 'आउट ला' ठहरा दिये गये थे। राजदण्ड की सारी व्यवस्था का प्रयोग या उपयोग तब सिर्फ आर्यसमाज या आर्यसमाजियो के ही विरुद्ध किया जाता था। उन पर निशाना साधने वालों को पूरा अभयदान मिला हुआ था।

ऐसा होना अकारण ही न था। ऋषि दयानन्द की आन्तरिक भावना के वह सर्वथा अनुकूल था। आर्यसमाज को राजद्रोही बताना उसके लिये गौरवास्पद था। १६०८ के लगभग सम्वत् १६६५ में स्वामी श्रद्धानन्दजी ने लिखा था कि "क्या हवा का रुख यह नहीं बता रहा कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है। फिर यदि

सरकारी कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठे दोषारोपण करें, तो आश्चर्य ही क्या है ?" वस्तुत: आर्यसमाज देश में उठती हुई उस प्रबल शक्ति और प्रचण्ड जागृति का प्रतीक था, जो भारत में कायम हुए अंग्रेजी राज के लिये एक भीषण खतरा थी। जिस ईसाय्यत और अंग्रेजी शिक्षा को अंग्रेजी राज की जड़े पाताल तक पहुँचाने का प्रधान साधन बनाया गया था, उसके विरुद्ध सक्रिय विद्रोह आर्यसमाज ने ही किया था। महान् सिकन्दर की सेनाओं को भारत-विजय की अपनी महत्वाकाक्षाओं को सतलुज मे तिलाजलि देकर उसके उस पार से वापिस लौट जाना पड़ा था, तो अंग्रेज सरकार की ईसाइयों की सेनाओ को आर्यसमाज के साथ टकरा कर उसके इस पार से वापिस लौटने को बाध्य होना पड़ा और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कि उनकी महत्वाकाक्षाओं की लुटिया सतलुज के गहरे पेट मे डूब जायगी। आर्यसमाज चीन की दीवार साबित हुआ। मद्रास और बंगाल की तरह उत्तर भारत मे वे इतनी आसानी से प्रवेश नहीं पा सके। इस लिये उन्होने १८८३ मे ही आर्यसमाज के विरुद्ध विष उगलना शुरू कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने उनकी हरकतो के बारे मे उसी समय यह लिखा था कि "आर्यसमाज के पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियो के दिलो मे डाला था। गरीब हिन्दुओ को वाग्युद्ध मे सदा ही पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज मे पले बालकों तक से पटकनी पर पटकनी मिलने लगी, तब वे ओछी करतूतो पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियो को विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्मेण्ट को है।"

आर्यसमाज में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के विकास को और भी अधिक सन्देह से देखा गया। आर्यसमाज के प्रति किये जाने वाले सारे सन्देह का केन्द्र कभी गुरुकुल को बना दिया गया था। आर्यसमाज की शक्ति को कुण्ठित बनाने के लिये उसके प्रति भी भेदभाव की उस नीति से अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने काम लिया, जिसकी आधार-शिला पर इस देश में अंग्रेजी राज की नींव रखी गई है। उसी के फलस्वरूप आर्यसमाज में १८६२ से १८६६ तक भीषण गृह-कलह बनी रही और उसने यादव-कुल की तरह आर्यसमाज का सर्वनाश तो नही किया, किन्तु उसकी महान शक्ति को अत्यन्त क्षीण जरूर बना दिया। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने उस खोई हुई शक्ति का फिर से संग्रह करने के लिये ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का सूत्र-पात किया था। इस लिये उसके प्रति सरकार का सशंक होना और तिरछी नजर रखना बिलकुल स्वाभाविक था। स्वर्गीय रैम्जे मैकडानैल्ड, जो वर्षों तक इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री भी रहे, १६१२ मे गुरुकुल-कागड़ी पधारे थे। स्वदेश लौटने पर इंग्लैण्ड के "डेली क्रानिकल" मे उन्होने गुरुकुल के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होने उसके प्रति सरकारी अधिकारियो के सन्देह की चर्चा करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप का चित्र अङ्कित किया था। उस लम्बे लेख में से एक लम्बे उद्धरण को यहा देने के लोभ को हम नही दबा सकते। उन्होने लिखा था कि "भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध मे जिन्होने कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा है, उन्होंने 'गुरुकुल' का नाम अवश्य सुना होगा, जहा कि आर्यसमाजियो के बालक शिक्षा पाते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धान्तो का यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के

सम्बन्ध में जितने भी सन्देह किये जाते हैं, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिये गये हैं। इसी लिये सरकार पर इसकी तिरछी नजर है, पुलिस आफीसरों ने इसके सम्बन्ध मे गुप्त रिपोर्टें की हैं और अधिकाश एंग्लो इण्डियन लोगों ने इसकी निन्दा की है।" गुरुकुल के स्वरूप का सुन्दर चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं कि "सरकारी लोगो के लिये गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापको मे एक भी अंग्रेज नही हैं। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिये पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी वहा काम मे नहीं लाई जाती, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये यहा से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियों को विद्यालय से अपनी ही उपाधिया दी जाती हैं। सचमुच, यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुए किसी भी सरकारी अधिकारी के मुँह से पहली बात यही निकलती है कि यह स्पष्ट ही राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नही हो सकती। सन् १८३५ के अपने प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के बारे में लार्ड मैकाले के सम्मति प्रगट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र मे यह पहिला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहा तक मुझे मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुये शिक्षा के क्षेत्र मे नया परीक्षण नहीं किया है।" स्वामी श्रद्धानन्दजी के गुरुकुल की स्थापना के महान् कार्य को देखते हुए ही हमने यह लिखा है कि भारत में अंग्रेजी राज ने यदि लार्ड क्लाइव और लार्ड मैकाले को जन्म दिया है, तो उनके मुकाबले में आर्यसमाज ने ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द को जन्म दिया। लार्ड मैकाले

ने अंग्रेजी शिक्षा द्वारा जो मायाजाल इस देश में फैलाया था, उसको छिन्न-भिन्न करने का सफल प्रयत्न स्वामी श्रद्धानन्दजी ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश कर के किया। यही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की राष्ट्रीयता है, जिसे अनेक आर्यसमाजी नेता तक आज भी समझने में असमर्थ हैं।

स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपने पत्र "लिबरेटर" में गुप्त सरकारी कागजों से कुछ उद्धरण देकर गुरुकुल के प्रति सरकार की मनोवृत्ति को प्रकट किया था। उस लेख मे आर्यसमाज में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के विकास होने पर विशेष भय प्रगट किया गया था। उसमें लिखा गया था कि "आर्यसमाज के संगठन मे अभी जो 'गुरुकुल शिक्षा प्रणाली' का महत्वपूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव मे सरकार के लिए बहुत बड़े संकट का स्रोत है। इस प्रान्त में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा; किन्तु आर्यसमाज की धार्मिक संस्थाके रूप मे आलोचना करते हुए भी उसकी ओर निर्देश करना जरूरी है। इस प्रणाली मे चाहे कितने ही दोष क्यों न हो: किन्तु भक्तिभाव और बलि-दान की उच्च भावना से प्रेरित हुए जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियो का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है। यहा आठ वर्ष की ही आयु मे बालकों को माता पिता के प्रभाव से बिलकुल दूर रख कर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायु-मण्डल मे उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ढाला जाता है। इससे उनके रग-रग मे श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की देख-रेख में बालकों की आयु में निरन्तर सत्रह वर्ष तक चलता रहा, जो कि मनुष्य

के जीवन में सब से अधिक प्रभावशाली समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तय्यार होंगे, वे सरकार के लिए अत्यन्त भयानक साबित होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं है। उनमें पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास और अपने सिद्धान्त के लिए कष्ट-सहन करने की भावना, अपितु समय आने पर प्राणों तक को न्योछावर कर देने की तय्यारी साधारण जनता पर बहुत गहरा असर डालेगी। इससे उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे, जो उनके मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य सारे देश में एक ऐसे राष्ट्रीय धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिन्दू भ्रातृभाव की एक शृंखला में बंध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास के इस आदेश का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन-मन-धन सर्वस्व को देशहित के लिए अर्पण कर दो।"

गुरुकुल कांगड़ी को लक्ष्य करके इस लेख में लिखा गया था कि "सरकार के लिए सब से अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय आर्यसमाज के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख होगा? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढांचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा होगी, जिसका जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके प्रचार में मक्कारी, सन्देह, समझौते या भय की छाया तक न होगी और उसका सर्वसाधारण के हृदय पर सीधा असर पड़ेगा।" गुरुकुल की बुनियाद जिस

भावना पर रखी गई थी, उसको प्रगट करने के लिए स्वामी श्रद्धानन्दजी (तब के महात्मा मुंशीराम जी) के उन दिनो के दौरो का इस लेख में उल्लेख किया गया है, जब वे गुरुकुल के लिए तीस हजार जमा करने को गले में झोली डाल कर घर से निकले थे। उसमे लिखा गया है कि "पंजाब की पुलिस की रिपोर्टों में यह दर्ज है कि सन् १८६६ मे जब लाला मुन्शीराम अमृतसर के पण्डित रामभजदत्त के साथ गुजरात,सियालकोट और गुजरावाला का दौरा करते हुए धन-संग्रह कर रहे थे, तब उन्होने सरकार की निन्दा शरारत भरे शब्दो मे अन्य बातो के साथ यह कहते हुए की थी कि "सिपाही कितने मूर्ख हैं, जो सत्रह-सत्रह अठारह-अठारह रुपयो पर भरती होकर अपना सिर कटवाते हैं। गुरुकुल में शिक्षित होने के बाद ऐसे आदमी सरकार को नहीं मिलेंगे।" इसी लेख में आगे लिखा गया था कि "कागड़ी मे मनाये जाने वाले गुरुकुल के वार्षिक-उत्सव पर कोई साठ-सत्तर हजार आदमी प्रति वर्ष इकट्ठा होते हैं। कई दिनो तक यह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थ्य और सफाई का सारा प्रबन्ध गुरुकुल वाले स्वयं करते है। बंगाल में मेलों पर जैसे सारा प्रबन्ध स्वयंसेवक स्वयं करते है, वैसे ही यहा ब्रह्मचारी स्वयंसेवकों का सारा काम करते हैं। संगठन और प्रबन्ध की दृष्टि से यह काम सर्वथा त्रुटि-रहित होता है। उत्सव पर इकट्ठे होने वालों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी-बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं। बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियां आभूषण तक देती हैं।" गुरुकुल के उद्देश्य और वहा के तपस्वी, कठोर, संयमी और निर्भीक जीवन की चर्चा करते हुए फिर लिखा गया है कि "विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए

इन संन्यासियो का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध होगा ? इस सम्बन्ध मे गुरुकुल की महाशय रामदेव की लिखी हुई एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उसके अन्त मे लिखा गया है कि गुरुकुल मे दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियो का बाईबिल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओतप्रोत है। गुरुकुल मे इतिहास इस ढंग से पढाया जाता है कि उससे ब्रह्मचारियो मे देशभक्ति की भावना उद्दीप्त होती है। उनमे उपदेश और आचरण दोनो से देश के लिये उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमे कुछ भी सन्देह नही कि गुरुकुल मे यत्नपूर्वक ऐसे संन्यासियो का दल तय्यार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के लिये भीषण संकट पैदा कर देगा।" वस्तुत: आर्यसमाज का सारा मिशन ही सरकार के लिये संकट पैदा करने वाला है। इसी लिये आर्यसमाज और गुरुकुल दोनो पर सरकार की चिरकाल तक वक्र दृष्टि बनी रही। एक गुप्तचर ने अपनी डायरी मे गुरुकुल के बारे मे कभी यह लिखा था कि "गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुये हैं, जिनमें अंग्रेजी राज से पहिले के भारत की अवस्था और अंग्रेजों के कलकत्ता मे आने के दिनों की अवस्था दिखाई गई है। सन् १८५७ के राजविद्रोह के दिनो की लखनऊ की घटनाओ के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के जिला मजिस्ट्रेट मि० ऐफ० फोर्ड ने जॉन आफ आर्क का वह बड़ा चित्र भी गुरुकुल में लगा हुआ देखा था, जिसमें वह अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।" इस प्रकार गुरुकुल का अस्तित्व सरकार के लिये भारी आशंका और भय का कारण बना हुआ था।

आर्यसमाज के प्रति सरकार की आशंका और भय ने इतना भयानक रूप धारण किया कि १९०० से लेकर १९११-१२ तक के वर्षों में आर्यसमाज के लिये सरकार ने बहुत ही भीषण स्थिति पैदा कर दी। सरकार का कोप या प्रकोप चरम सीमा को पहुँच गया। आर्यसमाजी होने से ही लोगो को सरकारी नौकरियो के सर्वथा अयोग्य माना जाने लगा। अनेको को सरकारी नौकरियो से हाथ धोना पड़ गया। सिख रेजीमेंट के एक क्लर्क गुलाबचन्द का आर्यसमाजी होना ही एक अपराध ठहरा कर उसको नौकरी से अलग कर दिया गया। करनाल जिले के एक जेलदार की डायरी पर उसके अफसर ने यह नोट लिखा कि "जेलदार तो बहुत अच्छा है। लेकिन, आर्यसमाजी है। इस लिये इस पर निगरानी रखी जानी चाहिये।" सेनाओं की राजभक्ति में खलल पड़ने के भय से उनका कभी छावनियों में जाना आर्डर निकाल कर रोका गया था। झासी में श्री दौलतराम आर्योपदेशक पर इस लिये १०९ धारा में मुकदमा चलाया गया था कि उस पर अपने भाषण से कुछ सिपाहियो पर राजद्रोही प्रभाव डालने का आरोप लगाया गया था। पंजाब के एक ब्रिगेड के कमांडिंग अफसर ने जब सिपाहियों के लिये किसी भी राजनीतिक संस्था में शामिल न होने का हुक्म जारी किया था, तब आर्य-समाज का विशेष रूप से उल्लेख किया गया था। एक बार सेना के एक अस्पताल एसिस्टेण्ट को उसके अफसर ने आर्यसमाजी होने से ही स्तीफा देने को मजबूर किया और उसको स्वयं स्तीफा तक लिख कर दे दिया। सरकार के धार्मिक मामलो में निरपेक्ष रहने की उसने दुहाई दी। पर, बेकार गई। रोहतक मे आर्यसमाज की पुस्तको के जब्त करने की डुग-

डुगी पीटी गई थी। मुलतान छावनी के आर्यसमाज के मन्त्री की धार्मिक संस्था पर से टैक्स माफ करने की दरखास्त यह कह कर नामंजूर की गई थी कि "आर्यसमाज धार्मिक संस्था नही है। चर्च, चैपल, मन्दिर या मसजिद के समान उसका टैक्स माफ नही किया जा सकता।" इन्दौर की स्टेट पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल के आफिस के हैड एकाउण्टेण्ट श्री लक्ष्मणराम शर्मा को स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान-पद से अलग न होने के कारण अपनी नौकरी से अलग होने को बाध्य किया गया। जोधपुर मे वायसराय की सवारी के रास्ते में आर्यसमाज-मन्दिर आने से 'ओ३म्' का झण्डा और साइन बोर्ड उतरवा दिये गये। संयुक्त प्रान्तीय जाट सभा के विरोध करने पर भी कुछ जाटो को आर्यसमाजी होने से सेना से अलग कर दिया गया। १६०६ के सितम्बर मास मे पटियाला मे आर्यसमाज के विरुद्ध चलाया गया मुकदमा सरकार की वक्र दृष्टि का सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण है। वहा सभी आर्यसमाजियो को एक साथ गिरफ्तार करके उनके कागज-पत्र और पुस्तकें आदि सब जब्त कर लिये गये थे। रियासत की ऊंची नौकरियों मे लगे हुये आर्य-समाजियों को भी बाद नही दिया गया था। समाज-मन्दिर पर भी पुलिस तैनात कर दी गई थी। १२४ अ, १५३ अ और १२१ अ की संगीन धाराओ में उनके विरुद्ध मुकदमा चलाने के लिये एक खास ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की गई थी। उन दिनो के क्रान्तिकारी और षड्यन्त्र के सुप्रसिद्ध दक्षिणेश्वर बम केस के समान इस मुकदमे की भी सरकार की ओर से तय्यारी की गई थी। सरकार ने इसे बतौर एक टैस्ट केस के चलाया था। इसको अधिक से अधिक भीषण रूप दिया गया। महीनो

कदमे का नाटक होता रहा। अन्त में सरकार की नीति में काएक परिवर्तन हो जाने से मुकद्दमा उठा लिया गया। लेकिन, सरकार ो ऊंची नाक कायम रखने के लिये आर्यसमाजियों को रियासत छोड़ ने का हुक्म दिया गया। अन्य अनेक स्थानो पर तो ऐसा कोई नाटक चने की भी जरूरत महसूस नही की गई। आर्यसमाज के रजिस्टरो से ार्य सभासदों की सूची से दस नम्बर के लोगों की लिस्ट तय्यार की ाती थी। उनके आगे-पीछे खुफिया पुलिस लगी रहती थी। यह वस्तुत: ार्यसमाज के लिये संकट का समय था। उसे कड़ी परीक्षा की कसौटी र कसा गया।' स्वामी श्रद्धानन्द जी ने तब लिखा था कि "यह बात ्रपी हुई नहीं हैं कि पंजाब के सब डिपुटी कमिश्नरो ने अपने आधीन तथा राधीन सब कर्मचारियों को समझा दिया है "कि यदि वे आर्यसमाज के ाधिवेशन मे सम्मिलित होगे, तो उनको अपनी आजीविका से हाथ ोना होगा।......... राजपुरुषों ने एक ओर नौकरी को रख कर स्पष्ट कह देया है कि यदि टको से हाथ न धोना हो, तो आर्यसमाज को छोड़ दो।"

स्वामी श्रद्धानन्द जी (उस समय के महात्मा मुंशीराम जी) ने आर्य-ामाज की नैतिकता की रक्षा करने में कुछ भी उठा न रक्खा था। ाकिन, अफसोस कि उनके यत्न और उनका व्यक्तित्व भी आर्यसमाज को ैतिक पतन से बचा न सका।

७
नैतिक पतन

"यदि तुमसे यह कहा जाय कि अपने परमात्मा और उसकी पवित्र वाणी वेद से विमुख होकर ही प्रजा-धर्म का पालन हो सकता है, तो तुम स्पष्ट उत्तर दो कि जिस आत्मा पर संसार के चक्रवर्ती राजा का भी अधिकार नही हो सकता, उसको सासारिक ऐश्वर्य पर न्यौछावर करने के लिये तुम उद्यत नहीं हो।" "आर्य पुरुषो! क्या तुमको परमात्मा पर सच्चा विश्वास है? यदि है, तो फिर दो हाथ वालो की खातिर सहस्रबाहु वाले का क्यो अनादर करते हो? दो भुजा वाला जिस रोजी को छीन सकता है, क्या सहस्रबाहु उससे बढ़ कर तुमको रोजी नही दे सकते?" "संसार का सुख क्षणिक है, धर्म सदा रहने वाला है। इस लिये संसार को धम पर न्यौछावर करना ही आर्यत्व है।" "जो सरकारी नौकर वैदिक धर्म के गौरव को नहीं समझते, उनको अपनी निर्बलता मान कर आर्यसमाज से जुदा हो जाना चाहिये। जहा वेद और इण्डियन पीनल कोड का विरोध हो, वहा श्रुति को धर्म का मूल मानना तथा जहा परमात्मा की आज्ञा का सासारिक राजा की आज्ञा से विरोध हो, वहा परमात्मा की शरण लेना यदि अभीष्ट न हो, तो फिर आर्यसमाज में रह कर भी क्या लाभ होगा।" "इसी जन्मभूमि के लिये कष्ट सहन करना, इसी की सेवा मे सारा पुरुषार्थ लगाना और इसी पर सर्वस्व न्यौछावर करना यदि एक एक भारतवासी अपना धर्म समझ ले, तो परमात्मा की भी उन पर असीम कृपा हो

जाय; किन्तु यहा यही तो कमी है। सच्चाई की वेदी पर विश्वास से सिर रखने वाले कहा दिखाई देते हैं? क्या आर्यावर्त की पवित्र भूमि धर्मवीरो से शून्य हो गई है?"—ये पंक्तिया उन कुछ लेखो में से हैं, जो १९०० से १९१२ तक के वर्षों में महात्मा मुंशीराम जी (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने अपने पत्र "सद्धर्मप्रचारक" में आर्यसमाजियों की नैतिकता की रक्षा करने के लिये उनको सम्बोधन करते हुये लिखे थे। उन लेखों में से कई लेख आज भी उतने ही उपयोगी हैं, जितने कि वे तब थे, जब कि लिखे गये थे। "क्या आर्यसमाज वेद प्रचारिणी सभा है या पोलिटिकल सोसाइटी?" "आर्यसमाज और स्वराज्य", "अब क्या करना चाहिये?" "आर्यसमाज और बृटिश गवर्नमेएट" इत्यादि शीर्षको से उन दिनों मे महात्मा जी ने सैकड़ों ही लेख लिखे थे और आर्यसमाज तथा आर्यसमाजियों को अपनी नैतिकता पर कायम रहने के लिये उन्होंने निरन्तर साहस, बल और धैर्य प्रदान किया था। आर्यसमाज का धर्म और राजनीति दो भिन्न भिन्न चीजे नही थीं। दोनों एक दूसरे की पूरक और सहायक थी। शरीर और आत्मा की तरह दोनो अन्योन्याश्रित थी, एक देह के वे दो फेफड़े थे। आर्यसमाज के शुरू दिनो के साधारण गीत भी इसके प्रमाण और साक्षी हैं। लेकिन, यह मानना होगा कि इस संकट काल में आर्यसमाज राजनीति से विचलित हो गया। अन्य साम्प्रदायिक संस्थाओ के समान आर्यसमाज में भी अपने को कोरी धार्मिक संस्था सिद्ध करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ गई। सरकारी नौकरियो और सरकारी नौकरो की अधिकता आर्यसमाज को ले डूबी। महारानी विक्टोरिया की धार्मिक निरपेक्षता की घोषणा की आड़ ली जाने लगी। आत्म-रक्षा के लिये

दूसरा कोई उपाय आर्यसमाज को इस समय दीख न पड़ा। संयुक्त-प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का १० सितम्बर १६०७ का सरक्युलर नं० ४ उसके पतन और पराजय का घोषणा-पत्र था, जिसे पढ़ कर आज भी लज्जा अनुभव होती है। झासी के आर्योपदेशक श्री दौलतराम के मुकद्दमे की पैरवी के लिये कोई आर्य वकील मिलना मुश्किल हो गया था। वहा की समाज के प्रधान वकील थे; लेकिन, एक आर्यसमाजी भाई का मुकद्दमा लड़ने का साहस उनको भी नही हुआ। महात्मा मुंशीराम जी ने जब महाशय विष्णुदत्त जी वकील को मुकद्दमा लड़ने के लिये वहाँ भेजा, तब वहा के समाज के मन्त्री ने उन पर यह नोटिस तामिल किया कि "मालूम हुआ है आप दौलतराम के मुकद्दमे के मुतल्लिक तशरीफ लाये हैं। इसलिये आपको समाज-मन्दिर में ठहरने की इजाजत नही है। आप किसी दूसरी जगह ठहरें।" जब सभाओ से आर्य सभासदो की सूची मागी जाने लगी, तब कितनों ही ने आर्यसमाज की सभासदी को तिलाजली दे दी। पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द जी को आर्यसमाज का सभासद् तक मानने से इन्कार किया जाने लगा। माडले से वापिस लौटने पर लाला जी का व्याख्यान कराने का अनारकली आर्यसमाज को साहस नही हुआ। ऋषि दयानन्द के लेखों का विपर्यास कर उनको भी राजभक्त सिद्ध करने की कोशिशें की गई। बड़े बड़े नामी आर्यसमाजी नेता भी पटियाला में पैरवी करने के लिये जाने का साहस न दिखा सके। ५०० रुपये रोजाना की फीस पर भी जाने का उनको साहस न हुआ। महात्मा मुंशीराम जी ने इस सारी कहानी को बहुत दर्दभरे शब्दों में लिखते हुये लिखा है कि "केवल जालन्धर

के राय बद्रीदास और लाहौर के लाला द्वारकादास ने हमारा साथ दिया।"
आर्यसमाज में पहिली कोटि के वकीलों और बैरिस्टरो की कमी नहीं थी। पटियाला के मुकदमे के लिये बनाई गई डिफेंस कमेटी तक का उन्होंने साथ नही दिया।

इस प्रकार आर्यसमाज अपने नैतिक आदर्श से स्पष्ट ही गिर गया और अब तो उस पर "भवति विनिपात: शतमुख:" की उक्ति चरितार्थ हो रही है। उस समय के आर्यसमाजियो की इन हरकतो पर उसका सदा ही विरोध करने वाले बम्बई के "श्री बैंकटेश्वर समाचार पत्र" तक ने यह लिखा था कि "आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटो ने विचलित नहीं किया था, किन्तु पंजाबी अफसरो के टूट पड़ने पर वह विचलित हो गया है। उसने सफाई के इजहार देने शुरू किये हैं कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नहीं है, किन्तु धार्मिक संस्था है। आर्यसमाज नाहक में फटफटा रहा है। वह अपने सिद्धान्तो में लगा रहे। उसका पक्ष सत्य है, तो उसके लिये घबराने का कोई कारण नहीं। कर नहीं, तो डर क्या?"
महात्मा मुन्शीरामजी ने आर्यसमाजियों की नैतिकता की रक्षा करने मे कुछ भी उठा न रखा। आपने १९६४ के आषाढ़ मास के 'सद्धर्मप्रचारक' में लिखा था कि "मुझ से पूछा जाता है कि अब हम क्या करे? जिलो के हाकिम हमें तंग कर रहे हैं। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनो मे सम्मिलित होने से सरकारी नौकरो को जबरदस्ती रोका जाता है। कायर पुरुषों ने इस डर से कई स्थानो में आर्यसमाज की सभासदी से स्तीफा दे दिया है। वैदिक धर्म का प्रचार सर्वथा बंद होता दीखता है। इसका इलाज क्या करे?" "मेरे पास उत्तर एक ही है कि कायरों का वैदिक धर्म की

सेवा के लिय उद्यत होने का क्या काम है ?" जोधपुर के समाज के मन्त्री को आपने सलाह दी थी कि वह झण्डा और साइन बोर्ड उतारने की आज्ञा का पालन नहीं करे। यदि पुलिस पाशविक शक्ति का प्रदर्शन करती हुई वैसा करे, तो उसका प्रतिकार भी न किया जाय। दौलतराम के मुकद्दमे को लेकर आपने न केवल झासी की आर्यसमाज को, बल्कि संयुक्तप्रान्त की प्रतिनिधि सभा को भी फटकार बताई थी और उसे मुकद्दमा अपने हाथ में लेने को मजबूर किया था। ऐबटाबाद (सीमा प्रान्त) के प्रधान श्री धनीरामजी के अदालत मे निर्दोष साबित हो जाने पर भी उनको जब एक वर्ष के लिये प्रान्त से निर्वासित किया गया, तो आपने प्रचण्ड आन्दोलन उठाया। आर्यसमाज के सभासदो की सूची मॉगी जाने पर आपने लिखा था कि "वही पुलिस और तहसील वाले, जो अपनी रिश्वतखोरी और स्याहकारी के कारण स्पष्ट वक्ता आर्यसमाजियो से कापा करते थे, आज जगह-जगह पर उनको धमकाने की चेष्टा करते है। जब और बस नहीं चलता, तब सभासदों की सूची मागने लगते हैं। मेरी सम्मति मे आर्यसमाज के किसी भी मन्त्री को सभासदों की सूची नही देनी चाहिए।" कराची केस के लिये आप की प्रेरणा पर एक डिफैंस फण्ड कायम किया गया था। जब बिना बुलाये सरकार के पास डेपुटेशन ले जाने का सवाल उठाया गया, तब उसका आपने सख्त विरोध किया। ऐसे महान्, निर्भीक और तेजस्वी नेता को पाकर भी आर्यसमाज अपने मार्ग से विचलित हो गया। उसकी नैतिकता का आसन डोल गया। राजनीति से उसने मुँह मोड़ लिया। अपने को सिर्फ धार्मिक सस्था बताने और सिद्ध करने मे अपना सारा पुरुषार्थ लगा दिया। राजनीति का फेफड़ा निकम्मा पड़ गया और

दूसरा भी क्षय रोग से पीड़ित हो गया। उस क्षय-पीड़ित फेफड़े के सहारे आर्यसमाज को जीवित रखने की कोशिश की जा रही है। लेकिन, ऐसे कब तक गुजारा चलेगा ?

स्वर्गीय पंजाबकेसरी लाला लाजपतरायजी के लिखने के अनुसार सरकार द्वारा पैदा की गई वर्षों की गृह-कलह या भेदनीति और उसके बाद वर्षों तक अमल में लाई गई दमन की कठोर नीति जिस आर्यसमाज का बाल बांका न कर सकी, उसको सरकार की सामनीति ने कुछ ही दिनों में मुर्झा दिया। विष की गोली जिस पर कुछ भी असर न कर सकी, उसको मीठे की गोली ने सुला दिया। सरकार की नीति मे सहसा परिवर्तन हुआ। लार्ड हार्डिङ्ग ने भारत मे पैर धरते ही जिस नीति से काम लेना शुरू किया, आर्यसमाज सहसा उसके जाल मे उलझ गया। महात्मा मुन्शीरामजी सरीखा तेजस्वी नेता भी उस उलझन से बच न सका। बिना बुलाये सरकार के पास डेपुटेशन ले जाने के आप विरुद्ध थे, लेकिन, राजर्षि गोखले और सर विलियम वैडरबर्न की मार्फत आपने सरकारी लोगो, खास कर तत्कालीन वायसराय से मिलने की पूरी कोशिश की। कूटनीतिज्ञ अंग्रेज अधिकारियों ने आर्य नेताओ की इस कमजोरी से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक संस्था है और उसका राजनीति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है। आर्यसमाज को इससे सन्तोष हो गया। सरकार को और क्या चाहिए था ? जो वह चाहती थी, सो हो गया। महात्मा मुंशीरामजी ने स्वयं लिखा था कि "लार्ड मिण्टो एक बार आर्यसमाज के आदमियो को बुला कर उन से खुली बातचीत करे। तब उनको पता लगेगा कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का शत्रु कौन है

और किस प्रकार उससे उसकी रक्षा हो सकती है ?" अपने को सरकार का मित्र सिद्ध करने की इच्छा आर्यसमाज के गले की फासी बन गई। लार्ड मिण्टो तो आर्यसमाजियो की इस इच्छा को पूरा न कर सके। राजर्षि गोखले की प्रेरणा पर सर विलियम वैडरबर्न ने नये वायसराय हार्डिङ्ग तक आर्यसमाज की इस पुकार को पहुँचाया। २४ मार्च १९११ को महात्मा मुन्शीरामजी को लिखे गये पत्र में राजर्षि गोखले ने लिखा था कि "आर्य-समाज के बारे में सरकारी अधिकारियों को जो सन्देह है, उस पर सर विलियम वैडरबर्न की नये वायसराय के साथ बहुत-सी बाते हुई हैं। मैं आपके मिलने पर उनका साराश आपको बताना चाहता था। आप आ नही सके। फिर भी मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि सर विलियम ने वायसराय पर बहुत जोर डाला है कि सन्देह के कारण सारे देश के आर्य-समाजियों को जो शिकायते हैं, वे अवश्य दूर की जानी चाहिये। वायसराय ने बड़े ध्यान से सब बाते सुनी और प्रतिज्ञा की है कि वे शीघ्र ही जैसा उनको सुझाया गया है, वैसी कार्यवाही करेंगे। इस लिये मेरा यह लिखना है कि यदि आर्यसमाज की ओर से वायसराय के सामने सब बात रखी जा सके, तो अच्छा होगा।" सर विलियम वैडरबर्न १९११ में इलाहाबाद में हुई कांग्रेस के राष्ट्रपति थे। दीनबन्धु एण्डरूज से भी महात्माजी ने काफी काम लिया।

सरकार और आर्यसमाज के बीच का सन्देह दूर होकर दोनों ही ओर से जिस नयी नीति से काम लिया जाने लगा, वह आर्यसमाज के लिये बहुत मंहगी पड़ी। दिल्ली में लार्ड हार्डिङ्ग ने जब प्रवेश किया था, तब आर्यसमाज की ओर से अपनी निष्कलंक राजभक्ति का प्रदर्शन करने के

लिये एक महान् आयोजन किया गया था, जो आज हास्यास्पद प्रतीत होता है। आर्यसमाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का दफ्तर तब परेड के मैदान के सामने था। सड़क पार मैदान मे बृहद् यज्ञ की व्यवस्था की गई। स्वस्तिवाचन एवं शान्तिप्रकरण आदि का पाठ वायसराय के लिये किया गया और जब उनकी सवारी वहा से गुजरी, तब सब आर्य नेताओं ने खड़े होकर, हाथ जोड़ कर, माथा नवा कर "नमस्ते ऽस्तु भगवन्" के नारे लगाये। मालूम नहीं कि वायसराय तक वह आवाज पहुंची भी होगी कि नही ? इस आयोजन मे पंजाब और युक्त-प्रान्त के सभी आर्य नेता सम्मिलित हुये थे। इस प्रकार सरकार और सरकारी अधिकारियों का विश्वास सम्पादन किया गया। लार्ड हार्डिंग तो गुरुकुल कागड़ी न आ सके; किन्तु लार्ड चैम्सफोर्ड गुरुकुल पधारे और युक्तप्रान्त के तत्कालीन लैफ्टिनैण्ट गवर्नर सर जेम्स मैस्टन तो (जो बाद मे 'लार्ड' बने) कई बार गुरुकुल कागड़ी पधारे और गुरुकुल बृन्दावन भी गये। आर्यसमाजियो को इससे जो सन्तोष मिला, उसकी ध्वनि तब युक्तप्रान्तीय धारा सभा मे सुन पड़ी थी। लखनऊ के "एडवोकेट" पत्र के सञ्चालक स्वर्गीय रायबहादुर बाबू गंगाप्रसाद जी वर्मा ने १६१३ के अप्रैल मास मे प्रान्तीय धारा सभा मे भाषण करते हुये लैफ्टिनेण्ट गवर्नर को लक्ष्य करते हुये कहा था कि "मैं श्रीमान् को उस राजनीतिपूर्ण और साहसपूर्ण कार्य के लिये बधाई देना चाहता हू, जो आपने उन देशभक्त शिक्षको को दर्शन देकर किया है, जो महात्मा मुंशीराम जी के नेतृत्व एवं संरक्षण मे राष्ट्रीय ढंग पर शिक्षा के क्षेत्र में अलौकिक परीक्षण कर रहे हैं; जिन्होंने पश्चिम की अच्छाइयो को पूर्वीय आदर्शों के साथ एक कर

दिया है। मैं श्रीमानो के गुरुकुल पधारने को इस लिये साहसपूर्ण कार्य कहता हूं, क्योकि मुझको मालूम है कि इस प्रान्त के अधिकतर अफसर झूठी और स्वार्थपूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आपके हृदय मे यह सन्देह पैदा कर रहे थे कि गुरुकुल भारत के शान्त विकास मे विघ्न पैदा करने वाले लोगों को उत्पन्न करने मे लगा हुआ है। आपके गुरुकुल पधारने और वहा की गई घोषणा से आशा है कि ऐसे लोगों के विचार गुरुकुल के सम्बन्ध में बदल जायेंगे। आपने उन लोगो को सचमुच प्रोत्साहन दिया है, जो जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति मे लगे हुये हैं। इससे वे लोग सरकार के अधिक नजदीक आ जायेंगे, जिनके हृदय मातृभूमि को फिर से पुरातन गौरव प्राप्त किया हुआ देखने को उतावले हो रहे हैं।" सर जेम्स मैस्टन ने गुरुकुल मे यह घोषणा की थी कि "न केवल इस प्रान्त मे, किन्तु समस्त भारत मे गुरुकुल एक सर्वथा मौलिक और कुतुहलपूर्ण परीक्षण है। मैं यहा आकर उन लोगो से भी मिलना चाहता था, जिनको सरकारी रिपोर्टों मे निस्सीम, अज्ञात और भीषण विपत्ति का स्रोत बताया गया है।.... एक आदर्श विश्वविद्यालय के लिये मेरा आदर्श गुरुकुल है।" लार्ड चैम्सफोर्ड ने भी इसी प्रकार गुरुकुल की तारीफ के पुल बाधे थे। 'सरकार के अधिक नजदीक आने' की आर्यसमाजियो की इच्छा को सरकार ने पूरा किया और उनको अपनी नौकरियों तथा खिताबो आदि के मायाजाल मे उलझा लिया। गुरुकुल और आर्यसमाज की सरकारी लोगो से तारीफ सुन-सुन कर आर्यसमाजी फूले न समाते थे। इसका परिणाम वही हुआ, जो आज हमारे सामने है। स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज (तब के महात्मा मुन्शीरामजी) सरकार की इस व्यूह रचना को ताड़ गये थे और

वे चाहते थे कि आर्यसमाज उससे बचा रहे। उन्होंने लिखा था कि "गुरुकुल अपने जन्म-दिन से अब तक, नौकरशाही के जाल से बचा हुआ, अपना काम करता आ रहा है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये? जिन सुनहरी जंजीरों को जातीयता का अभिमान करने वाले अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहिन लिया, मन लुभाने वाली वे जंजीरें न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गईं। परमेश्वर ने उनको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी।" लेकिन, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आर्यसमाजियों ने व्यक्तिगत रूप से और राजनीति से संन्यास लेकर आर्यसमाज ने सामूहिक रूप से दासता की इन सुनहरी जंजीरों में अपने हाथों अपने को जकड़ लिया। आज तो गुरुकुल के संचालकों और कार्यकर्त्ताओं में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो इस दासता और सुनहरी जंजीरों के लिये लालायित हैं। युक्तप्रान्त में कांग्रेसी सरकार की स्थापना से उनकी भी जीभ में सहसा पानी आ गया और अपनी तपस्या से वे एकाएक विचलित हो गये। आज कांग्रेसी सरकार का पदात्तेप हो जाने के बाद भी उनके विचारों का न बदलना आश्चर्य-जनक है। लार्ड मैकाले द्वारा जारी की गई अंग्रेजी-शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह के रूप में जिस गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ था, उसके संचालकों और कार्यकर्त्ताओं की मनोवृत्ति में हुआ यह परिवर्तन खेदजनक है। गुरुकुल और आर्यसमाज दोनों ही अपने क्रान्तिकारी स्वरूप, विप्लवकारी कार्यक्रम और विद्रोहकारी मिशन को भुलाकर, महाराणा प्रताप के संकटाकीर्ण मार्ग से विचलित होकर, मानसिंह के सुखोपभोग के सरल, निश्चिन्त एवं निर्विघ्न मार्ग पर आकर खड़े हो गये हैं।

इस नैतिक पतन का सब से भयानक परिणाम यह हुआ है कि देश के सार्वजनिक जीवन का नेतृत्व प्रायः सभी क्षेत्रों मे आर्यसमाज के हाथों से छिन गया है । प्रकृति अत्यन्त निठुर और कठोर है । वह किसी के साथ भी रियायत नहीं करती । उसके नियमों की मार से कोई भी बच नही सकता । रोगी की सेवा के शुभ कार्य तक के लिये रात को जागरण करने वाला भी रात के जागने के दुष्परिणामो से बच नही सकता । जीवन की चोटी से विनाश की खाई की ओर एक पग भी जिसका फिसला कि उसका मृत्यु के मुख से बचना मुश्किल हो जाता है । "भवति विनिपातः शतमुखः" के प्रकृति के कठोर नियम से अपने को बचा सकना उसके लिये सम्भव नही रहता । वही स्थिति आर्यसमाज की हुई । देश मे राष्ट्रीय जीवन की ज्योति जगाने वालों में इस युग मे पहिला स्थान ऋषि दयानन्द का है । जो भूमि ऋषि ने तय्यार की थी, उसी मे लोकमान्य तिलक ने बीज बखेरे थे और उसी की रखवारी आज महात्मा गाँधी कर रहे है । लेकिन, लोकमान्य के अनुयायियो के हाथो से जैसे उनकी करतूतो से देश के सार्वजनिक जीवन के नेतृत्व की बागडोर छिन गई और आज उनके प्रभाव का दीपक बुझ-सा गया, ठीक वैसी ही-सी स्थिति आर्यसमाज एव आर्यसमाजियो की हुई और होती जा रही है । निस्सन्देह, आर्यसमाज ने दलितोद्धार के क्षेत्र मे अद्भुत कार्य किया है, दलित कहे जाने वाले भाइयो को अपनाने के पीछे नाना प्रकार के सामाजिक अत्याचारो को झेला है और उनके लिये जाति-बहिष्कार तक की यातनाये सहन की हैं; लेकिन, आज इस निर्दोष सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व भी आर्यसमाज के हाथों से छिन कर उनके हाथों मे चला गया है, जिन्होंने 'दलितो के

उद्धार' की अहम्मन्यता का परित्याग कर अपने को 'हरिजनो की सेवा' में लगा दिया है। आर्यसमाज की गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली विद्रोह के रूप में प्रगट हुई, गुरुकुल के राष्ट्रीय शिक्षा के महान् परीक्षण को उसने सफलता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया और गुरुकुल के अलावा भी उसने शिक्षा के क्षेत्र में चमत्कार कर दिखाया; लेकिन, इधर शिक्षा के सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र मे किये जाने वाले परीक्षणो से यह प्रगट है कि शिक्षा के नेतृत्व की बागडोर भी आर्यसमाज के हाथो से निकल गई है। कालेजो और हाई स्कूलों आदि को व्यर्थ बता कर उनकी निन्दा करने वाले गुरुकुल के समर्थक भी आज बहती गंगा मे ही हाथ धोने में लगे हुए हैं। सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सनातनी और आर्यसमाजी में आज अधिक अन्तर नही रहा। जात-बिरादरी और शादी-गमी आदि के सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठानो मे भी दोनो मे विशेष अन्तर नही रह गया है। इसीसे सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रो मे भी आर्यसमाज के नेतृत्व की ज्योति क्षीण पड़ गई है। शुद्धि एवं संगठन के दिनो मे आर्यसमाज का नेतृत्व एक बार फिर चमका था। लेकिन, गुण-कर्म-स्वभाव की वर्ण-व्यवस्था को अपनाये बिना और जन्मगत जात-पात को दिल, दिमाग एवं व्यवहार में से मिटाये बिना उसमे सफल होना सम्भव नहीं था। इस लिये इस अवसर मे भी आर्यसमाज यथेच्छ लाभ न उठा सका। न तो शुद्धि एवं संगठन का आन्दोलन सफल हो सका और न आर्यसमाज अपने खोये हुए नेतृत्व की फिर से स्थापना करने मे सफल हो सका। हिन्दी को सामूहिक रूप से अपनाने वाली पहिली संस्था आर्यसमाज है। उसके संस्थापक ऋषि दयानन्द ने गुजरात मे जन्म लेकर और संस्कृत

मे महापाण्डित्य का सम्पादन करने के बाद भी हिन्दी को अपना कर जिस आदर्श की स्थापना की, उसको स्वामी श्रद्धानन्दजी और उनके साथियो ने यहा तक अपनाया कि हिन्दी में ऊँची से ऊँची शिक्षा देने का महान् और सफल परीक्षण सबसे पहिले उन्होंने ही करके दिखाया। दक्षिण मे सब से पहिले हिन्दी की पताका को फहराने का श्रेय भी स्वामी श्रद्धानन्दजी और उनके शिष्यों को है। लेकिन, आज इस क्षेत्र मे भी आर्यसमाज नेता नही रहा। दक्षिण की बात तो क्या की जाय, उत्तर और पंजाब तक में आर्यसमाजी हिन्दी के प्रचार मे पिछड़ चुके हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी नेता के रूप मे आर्यसमाज को न देख कर मर्मान्तक वेदना होती है। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपने पत्र 'सद्धर्मप्रचारक' को, तब एकाएक उर्दू से हिन्दी और देवनागरी में निकालना शुरू किया था, जब पंजाब से हिन्दी मे समाचार-पत्र प्रकाशित करने की किसी को कल्पना तक न थी। लेकिन, आज हिन्दी के लिये इतना शोर मचाये जाने पर भी आर्य नेताओ के पत्र बराबर उर्दू मे निकल रहे हैं। तब कैसे आर्यसमाज का नेतृत्व हिन्दी के क्षेत्र मे कायम रह सकता था? इस प्रकार प्राय: सभी क्षेत्रो मे से और सारे ही सार्वजनिक जीवन मे से आर्यसमाज का प्रभाव मिट-सा गया और सार्वजनिक नेतृत्व भी उसके हाथो से छिन गया।

आज आर्यसमाज में आकर्षण न रहने की शिकायत आम तौर पर सुनने मे आ रही है। किसी नवीन कार्यक्रम की चारो ही ओर खोज की जा रही है। जिस संस्था के पास विश्वव्यापी कार्यक्रम हो और जिसके सार्वभौम होने का दावा किया जाता हो, उसकी ऐसी स्थिति निश्चय ही खेद पैदा करने वाली है। लेकिन, इसका कारण भी राजनीति से मुंह

मोड़ लेने के बाद हुआ नैतिक पतन है। पहिये के फट जाने से उसकी हवा निकल जाने के बाद मोटर की जो हालत हो जाती है, वही हालत राजनीति से मुंह मोड़ लेने के बाद आर्यसमाज की हो गई। राजनीति इस युग की आत्मा है। इस चेतना को खोने के बाद जैसे देह का काम नहीं चल सकता, ठीक वैसे ही राजनीति को त्यागने के बाद सार्वजनिक संस्थाओं और उनके कार्यक्रम की भी चुम्बक-शक्ति नष्ट हो जाती है। उनका सार्वजनिक स्वरूप मिट जाता है। वे अन्य अनेक साम्प्रदायिक संस्थाओं के समान रह जाती है। लकीर को पीटते रहना उनका कार्यक्रम बन जाता है। भावनाओं को भुला कर वे कोरे कर्मकाण्ड के विधि-विधान में अपने को सीमित कर लेती हैं। उदार, प्रगतिशील एवं व्यापक प्रवृत्तियो से मुंह मोड़ कर वे साम्प्रदायिक, संकुचित एवं अनुदार प्रवृत्तियो मे उलझ जाती हैं। जीवन, ज्योति एवं जागृति का उनको अभाव-सा प्रतीत होने लगता है। आर्यसमाजी भाई हृदय पर हाथ धरकर स्वयं ही निर्णय करे कि आर्यसमाज को हमने आज इसी स्थिति में पहुंचा दिया है कि नही?

सबसे बड़ी हानि इससे आर्यसमाज को यह उठानी पड़ रही है कि उसमे नया खून आना प्रायः बंद-सा हो गया है। सार्वजनिक भावना वाले नौजवान दूसरी ओर बह जाते हैं। धर्म अथवा सम्प्रदाय की अपेक्षा राष्ट्र अथवा देश की भावना अधिक उदार और व्यापक है। उसमे अधिक आकर्षण रहता है। जहा धर्म के नाम पर जीवन न्यौछावर करने वाले इने-गिने लोग मुश्किल से मिलते हैं, वहा देश व राष्ट्र के नाम पर कटने-मरने वालो की फौज की फौज तय्यार कर ली जाती है। राष्ट्रीय संस्थाओं का प्रभाव इसी से धार्मिक संस्थाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होता

है। उनका संगठन सहसा चारों ओर फैल जाता है। नवयुवक उनकी ओर स्वयं ही आकर्षित होते चले जाते हैं। आर्यसमाज मे भी शुरू दिनो मे यह आकर्षण विलक्षण रूप में बना हुआ था। आज भी जहा आर्य-समाज जाता है, वहा शुरू शुरू में उसके लिये आश्चर्यजनक प्रेम, श्रद्धा और आकर्षण दीख पड़ता है। लेकिन, उसके क्षीण पड़ने मे अधिक समय नही लगता। निजाम हैदराबाद में किये गये सत्याग्रह से सारे ही दक्षिण मे आर्यसमाज के लिये पैदा हुआ प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और आकर्षण अलौ-किक एवं चमत्कारपूर्ण था। लेकिन, उससे उचित लाभ नही उठाया गया और वह दिन पर दिन क्षीण हो रहा है। नये खून के प्रवाह का जारी न रहना ही उसका एकमात्र कारण है। ऋषि के राष्ट्रवाद और साम्राज्य-वाद की जिन महान्, विशाल और व्यापक भावनाओं के सहारे इस प्रवाह को जारी रखा जा सकता था, उनकी उपेक्षा करने या भुला देने का यह अवश्यम्भावी और अनिवार्य परिणाम है। इन सब दुष्परिणामो को अपनी आखों से देखते और भोगते हुये भी हम सचेत, सावधान एवं तत्पर न हो, तो इससे बढ कर हमारा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ?

इसमे सन्देह नहीं कि जिन दिनों मे आर्यसमाज का नैतिक पतन हुआ, वह राजभक्ति का जमाना था। युरोप मे महायुद्ध छिड जाने पर सर्व-साधारण के लिये राजभक्ति का प्रदर्शन करना और भी जरूरी हो गया। लोकमान्य तिलक और उनके साथियो की संख्या अधिक नही थी। सशर्त राजभक्ति का प्रदर्शन करने मे उनको भी तब कोई विशेष आपत्ति नही थी। गान्धीजी तब निर्मल और निष्कलंक राजभक्ति का प्रदर्शन करने के पक्के पक्षपाती थे। महायुद्ध के बाद भी उनकी यही राय रही। भारत मे

अंग्रेजी राज को ईश्वर की देन मान कर भगवान् की तरह उसकी स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना करने वालों मे तब वे लोग भी शामिल थे, जो बाद मे राष्ट्र के महान् और यशस्वी नेता के रूप मे प्रगट हुये। इससे भी आर्य-समाजियों को राजनीति का परित्याग कर राजभक्ति की ओर जाने मे प्रेरणा मिली और परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज राजनीति से सदा के लिये ही विमुख हो गया। महायुद्ध के बाद राष्ट्रीयता ने जोर पकड़ा, देश मे राष्ट्रवाद का नया जन्म हुआ, स्वराज्य की भावना प्रबल रूप मे जाग उठी और कांग्रेस का भी राष्ट्रीय दृष्टि से कायाकल्प हो गया। लेकिन, आर्यसमाज पर सामूहिक रूप से इसका कुछ भी असर न पड़ा। राष्ट्रीय वृत्ति के आर्यसमाजी, यहा तक कि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज तक, राष्ट्रीय क्षेत्र में उतर पड़े, लेकिन, आर्यसमाज एकान्त भाव से धर्म-कर्म की उपासना मे ही लगा रहा। महायुद्ध के बाद हिन्दुस्तान के प्रति किये गये विश्वासघात, पंजाब में फौजी शासन की तह मे किये गये भीषण अत्याचार एवं वीभत्स अनाचार और अमृतसर के जलियान-वाला बाग मे किये गये भयानक हत्याकाण्ड ने राष्ट्र की आत्मा मे जो महान् विप्लव पैदा किया, उसकी प्रत्यक्ष साक्षी स्वामी श्रद्धानन्द जी के दिव्य जीवन से मिलने पर भी आर्यसमाज मे कुछ भी परिवर्तन नही हुआ। तब अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाना एकाकी उनके ही महान् प्रयत्न का शुभ परिणाम था। फिर दिल्ली मे घण्टाघर के नीचे गुरखो की नंगी किरचो के सामने छाती तान कर खड़े होना, जामा मसजिद के मिम्बर पर से हिन्दू-मुस्लिम-एकता का अमर सन्देश सुनाना और गुरुका बाग सत्याग्रह मे अकालियों के लिये जेल तक जाना न

केवल स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के जीवन की महान् घटनायें है, वल्कि हमारे राष्ट्र के जीवन की भी वे ऐसी ज्वलन्त घटनाये है, जो प्रकाशस्तम्भ के समान सदा उज्ज्वल रहेगी। इन घटनाओं का आर्य-समाज पर प्रभाव पड़ना तो दूर रहा, उनका मजाक करने वालो और आर्यसमाज के लिए उनको घातक एवं हानिकारक मानने वालो की भी उस समय आर्यसमाज मे कमी नही थी। 'प्रकाश' के कालमो तक में तब ऐसे ही विचार प्रगट किये गये थे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज ने राजनीति की ओर और देश की आजादी एवं स्वराज्य के लिए होने वाले महान् आन्दोलन की ओर पीठ मोड़कर कभी देखा ही नही। देश मे पूरे वेग के साथ पनपने वाले राष्ट्रवाद मे सहयोग देना दूर रहा, उसको भय एवं आशंका की दृष्टि से देखा गया और आर्यसमाज उसका विरोधी बन गया। धर्म और राजनीति को परस्पर सहायक और एक-दूसरे का पूरक न मान कर सर्वथा विरोधी माना जाने लगा। स्थिति कितनी निराशाजनक थी, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी के २५ सितम्बर १६२० को गुरुकुल-कागड़ी से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तब के प्रधान लाला रामकृष्णजी के नाम लिखे गये एक पत्र से पता चलता है। स्वामी जी ने लिखा था कि "इस समय मेरी सम्मति मे "असहयोग" की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गाधी को सहायता न मिली, तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न पचास वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है। इस लिए मैं इस काम मे शीघ्र ही लग जाऊंगा। यदि आपकी सम्मति मे इस काम मे लगने

के लिये मुझे गुरुकुल व आर्यसमाज के अन्य कामो से अलग हो जाना चाहिए, तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे, मैं पब्लिक में भेज दूंगा। मैं इस कार्य से रुक नही सकता । मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है।" जब स्वामी श्रद्धानन्द जी सरीखे माने हुए नेता और महान् व्यक्ति की यह स्थिति थी, तब दूसरो का तो कहना ही क्या था ? राष्ट्र-वाद की लहर से अपने को अलग रख कर आर्यसमाज ने जो हानि उठाई है, उसका कुछ अनुमान स्वामी जी के इस पत्र से लगाया जा सकता है। कितने ही युवक, जो आर्यसमाज के लिए शक्ति का पुंज साबित हो सकते थे, उससे उदासीन हो गये। उनकी शक्ति का लाभ दूसरी संस्थाओ को मिला। आर्यसमाज की शक्ति, तेज, बल और वीर्य मंदा पड़ गया। किसी भी संस्था के नवयुवक ही तो उसके प्राण और शक्ति होते हैं। आर्यसमाज इस प्रकार उनसे वंचित रहने लग गया। उसका दुष्परिणाम आज हम सबके सामने है। उसको भोगते हुए भी यदि हम सचेत न हो सके, तो फिर जीवन की आशा किस भरोसे की जा सकती है ?

"अदीनाः स्याम शरदः शतम्" की दिन मे बार बार प्रार्थना करने वाले आर्यसमाजियो के एकमात्र संगठन आर्यसमाज की स्थिति आज यह है कि देश की स्वाधीनता, स्वराज्य और राजनीतिक उत्कर्ष मे उसकी कुछ भी दिलचस्पी नहीं है। मानो, उससे उसका कोई सरोकार ही नहीं है।

विद्रोह की आवश्यकता

"मुझ को एक आग दिखाई पड़ती है, जो सर्वत्र फैल रही है और प्रत्येक वस्तु को जला कर भस्म कर रही है। अमेरिका के विस्तीर्ण मैदानों, अफ्रीका के बीहड़ जंगलों, एशिया की ऊंची पर्वत चोटियो और युरोप के महान् राज्यो पर मुझे उसकी.लपटे सुलगती हुई दिखाई दे रही हैं। इस अपरिमित आग को देख कर,जो निस्सन्देह राज्यो, साम्राज्यों और समस्त संसार की नीति तथा व्यवस्था के सब दोषों को भस्म कर डालेगी, मैं अत्यन्त आनन्दित होकर हर्षमय जीवन बिता रहा हू। आकाश-चुम्बी पहाड़ो की चोटिया जल उठेगी, घाटियों के सुन्दर और चमकीले नगर भुन जायेंगे, प्यारे घर और उनमे बेसुध हो प्रेममय जीवन बिताने वाले हृदय मोम की तरह गल जायेंगे। पाप ऐसे अन्तर्हित हो जायगा, जैसे कि सूर्य की सुनहरी किरणों के सामने ओस के बिन्दू अदृश्य हो जाते हैं। असीम उन्नति की आशा-विद्युत् से मनुष्य का हृदय चमक रहा है। उस की चिगारिया आकाश की ओर उड़ती दीख पड़ती हैं। वक्ताओं, कवियों और ग्रन्थ निर्माताओ की शिक्षाओं मे भी कभी कभी उसकी लपटो की चमक दीख जाती है। आर्यसमाज की भट्टी मे यह आग सनातन व पुरातन आर्य धर्म को स्वाभाविक पवित्र रूप मे लाने के लिये सुलगाई गई है। भारत के एक परम योगी ऋषि दयानन्द सरस्वती के हृदय मे यह प्रगट हुई थी। हिन्दु और मुसलमान उस प्रचण्ड आग को बुझाने के लिये चारो ओर से

पूरे वेग के साथ दौड़े, परन्तु वह उत्तरोत्तर ऐसी तेजी के साथ बढ़ती और फैलती गई कि उसको प्रगट करने वाले दयानन्द को भी उसकी कल्पना न हुई होगी। ईसाइयों ने एशिया की इस प्रचंड ज्योति को बुझाने में हिन्दुओं और मुसलमानों का साथ दिया, परन्तु वह ईश्वरीय ज्योति और भी अधिक प्रज्वलित हो चारों ओर फैल गई। सम्पूर्ण विरोध एवं विघ्न-बाधाओं की घटा इस आग के सामने न टिक सकी। रोग के स्थान में आरोग्यता, झूठे विश्वास के स्थान में तर्क, पाप के स्थान में पुण्य, अविश्वास के स्थान में विश्वास, द्वेष के स्थान में सद्भाव, वैर के स्थान में समता, नरक के स्थान में स्वर्ग, दुःख के स्थान में सुख, भूत-प्रेतों के स्थान में परमेश्वर एवं प्रकृति का राज्य हो जायेगा। मैं इस आग को परम मांगलिक मानता हूं। जब यह आग सुन्दर भूतल पर नवजीवन का निर्माण करेगी, तो सर्वत्र सुख, शान्ति और सन्तोष छा जायगा।"——अमेरिका में बैठे हुये ऐण्डरो जैकसन डैविस ने आर्यसमाज के इस वास्तविक स्वरूप को समझा था। लेकिन, आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद भी हम उसके इस स्वरूप का दर्शन नहीं कर सके। आर्यसमाज के स्वरूप का यही वास्तविक चित्र है। भट्टी से उपमा देकर आर्यसमाज के मिशन का यथार्थ चित्र श्री डैविस ने अङ्कित कर दिया है। देश, समाज अथवा राष्ट्र का कायाकल्प करने के लिये महापुरुष जिस विद्रोह, विप्लव या क्रान्ति की आग सुलगाते हैं, उसे 'भट्टी' ही कहा जा सकता है। आर्यसमाज के रूप में ऋषि दयानन्द ने इस देश में विप्लव और महा क्रान्ति की यही भट्टी सुलगाई थी।

ऋषि अपने देश, समाज और राष्ट्र का जैसा कायाकल्प करना चाहते थे, उसका उदाहरण सिक्खों के इतिहास में तब मिलता है, जब गुरु

गोविन्दसिंह जी महाराज ने अकाली पंथ की नींव डाली थी। तब गुरुजी ने क्या किया था? पंच प्यारों को उपदेश देते हुये गुरुजी ने कहा था कि:—

" गुरु घर जन्म तुम्हारे होए।
पिछले जाति वरण सब खोए॥
जन्म कैसगढ़ वासि आनन्दपुर।
होए पूत जाति तुम सत गुर॥
चार वरण के एको भाई।
धर्म खालसा पदवी पाई॥
हिन्दू तुर्क ते आदि निआरा।
सिंह मजब अब तुमने धारा॥
सिंह नाम परमेश्वर को है।
बड़े दबदबे वारो सो है॥
राखहु कच्छ केश कृपान।
सिंह नाम को इहै निशान॥",

यह था गुरु गोविन्दसिंहजी का नया पन्थ, जिसके बारे में आज भी यह कहा जाता है कि "धर्म स्थापवै को, पापन के खापवै को, गुरु जापवै को, नई रीति यों चलाई है।" वह नई रीति क्या थी? गुरु ने पंच प्यारों का घर बदल दिया, इसलिये कि उनको घर का मोह न रहे। उनके जाति और वर्ण भी सब मिटा दिये, जिससे उनमे किसी भी प्रकार की कोई सामाजिक संकीर्णता शेष न रह जाय। सतगुरु की सिर्फ एक ही जाति रहने दी और गुरुजी के जन्म-स्थान एवं निवास-स्थान को ही उनके जन्म एवं निवास का स्थान बना दिया गया। चारों वर्णों के उस भेदभाव को

भी उन्होंने मिटा दिया, जिसका आधार सिर्फ जन्म की आकस्मिक घटना रह गया था। 'खालसा' धर्म और 'सिंह' मजहब जो उनको धारण कराया गया, वह हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों ही से न्यारा था। कड़ा, कच्छ, केश, कृपाण व कंघा धारण करा कर उनकी वेशभूषा और 'सिंह' नाम धर कर उनका नाम तक बदल दिया गया। कितना बड़ा यह परिवर्तन था? 'अमृत' छका कर, 'अकाली' नाम देकर, उनको 'सिंह' बना कर उनमें कभी न मरने की भावना पैदा किये बिना गुरु वह महान् क्रान्ति करने में सफल नहीं हो सकते थे, जिसने कि पंजाब में अदम्य राष्ट्रीयता को जन्म दिया और जिसकी वजह से वहा सिख-साम्राज्य की स्थापना हुई। यही चहुँमुखी परिवर्तन ऋषि दयानन्द को अभीष्ट था। महा क्रान्ति का यही बिगुल ऋषि दयानन्द ने फूँका था। इसी राष्ट्रीयता को जन्म देने के महान् उद्योग मे ऋषि ने अपने को खपा दिया था। ऋषि ने भी पवित्रता के द्योतक अत्यन्त विशुद्ध शब्द 'आर्य' को अपनाया। इस देश या राष्ट्र का नाम 'आर्यावर्त' होने से 'आर्य' शब्द का सौन्दर्य और सार्थकता कई गुना बढ़ गई। आर्यों को 'अमृत-पुत्र' बता कर निर्भयता का अवतार बनाने का उन्होंने महान् यत्न किया। घर की मोह-माया, जात-बिरादरी की संकीर्ण ममता, जन्मपरम्परागत वर्णों के बंधन और अन्धविश्वास पर कायम हुई मतमतान्तर की साम्प्रदायिक अनुदारता एवं असहिष्णुता को जड़-मूल से मिटाने में ऋषि ने अपना सारा जीवन लगा दिया, क्योंकि वे जानते थे कि बिना इसके राष्ट्रीयता किंवा राष्ट्रवाद पनप ही नही सकता। समाज की परम्परागत रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर आश्रित सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को झकझोर

कर बदल देने वाली जिस महान् और भीषण सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति की उस समय जरूरत थी, उसके देवदूत और अग्रदूत बन कर ऋषि दयानन्द प्रगट हुए थे। बिना इसके राष्ट्रीय क्रान्ति के लिये अनुकूल भूमि तय्यार नहीं हो सकती थी। लेकिन, आज क्या स्थिति है? उस भट्टी मे धाय-धाय करके धधकने वाली आग की लपटे कहाँ है? उस महान् क्रान्ति की भीषण ज्वाला-शिखाये कहाँ दीख पड़ती हैं? वह परिवर्तन केवल शब्दो तक रह गया। हृदय के भीतर की तह तक वह नहीं पहुँच पाया। जब सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति का ही क्रम पूरा न हो पाया, तब राष्ट्रीय क्रान्ति कहाँ से और कैसे प्रगट होती? इसी लिये जान पड़ता है कि ऋषि का मिशन अधर मे लटकता रह गया।

वह कैसे पूरा हो? जवाब इस सवाल का केवल एक है। वह यह कि इसके लिये फिर से उस विद्रोह को जगाने की आवश्यकता है, जिसे ऋषि ने जगाया था। उस भट्टी मे फिर से भीषण आग सुलगाने की जरूरत है, जिससे हमारी सारी सामाजिक संकीर्णता एवं सारे ही धार्मिक अन्धविश्वास जल कर राख हो जाय, क्रान्ति की भीषण ज्वाला-शिखाये सारे ही समाज मे चारों ओर व्याप जाय और राष्ट्रवाद के लिये वह अनुकूल भूमि तय्यार हो जाय, जिसे ऋषि तय्यार करना चाहते थे। आर्यसमाज को कठोर हाथो में पकड़ कर एक बार वैसे ही झकझोर देने की आवश्यकता है, जैसे कि ऋषि दयानन्द ने गहरी नींद मे सोये हुए अपने देशवासियों को झकझोर दिया था। स्वामी श्रद्धानन्दजी के बाद आज आर्यसमाज मे ऐसा शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्तित्व कहीं दीख नहीं पड़ता, जिसके हाथो मे इतना बल हो और जिसके हृदय में

इतनी सामर्थ्य हो कि वह आर्यसमाज का कायाकल्प कर सके। लेकिन, भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये इस कायाकल्प का किया जाना उतना ही जरूरी है, जितना कि ऋषि को समूचे देश का कायाकल्प करना जरूरी प्रतीत होता था। यह निश्चित है कि इस कायाकल्प के लिये हम मे से हर एक को अपना ही कायाकल्प करना चाहिए। आत्मिक अर्थात् व्यक्तिगत उन्नति ही समाज एवं संसार के उपकार की ईकाई है। "प्रथम अपने दोष देख निकाल के पश्चात् दूसरे के दोषों को दृष्टि देके निकाले" —यह ऋषि का स्पष्ट आदेश है। व्यक्तिगत रूप से हम सब उस भट्टी के लिये ईंधन हैं। इसलिये अपने को जलाये और तपाये बिना उस भट्टी को प्रज्वलित करने की हमारी आशा पूरी नहीं हो सकती। अपने जलाने एवं तपाने का सीधा व स्पष्ट मतलब यही है कि हम ऋषि के दिखाये हुए मार्ग पर आरूढ हो जाय, उसके निमित्त समस्त कष्टो को झेलने के लिये तय्यार हो जाय और हजारो विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी उससे विचलित न हों। हमें अपने को परखना चाहिए, अपने जीवन की जॉच-पड़ताल करनी चाहिए और अपने सारे व्यवहार को ऋषि के आदेश की कसौटी पर कसना चाहिए। हम में से हर एक के जीवन की छाया हमारे संगठन व संस्था पर पड़ती है। उसी से उसका निर्माण होता है। हमारे व्यक्तिगत जीवन के सामूहिक संचय का नाम ही तो समाज, संगठन एवं संस्था है। अपने को 'नास्तिक' बनाये रखकर हम समाज को 'आस्तिक' नहीं वना सकते। अपने को सामाजिक कमजोरियो का पुंज वनाये रखकर हम समाज को बलवान् नहीं वना सकते। अपने को धार्मिक अन्ध-विश्वासों में उलझाये रख कर हम समाज को उनसे छुटकारा नही दिला सकते।

अपने को परम्परागत रूढ़ियो मे फंसाये रख कर हम समाज को उनसे मुक्त नहीं कर सकते। जात-बिरादरी की मोह-माया मे स्वयं पड़े रह कर हम गुण-कर्म-स्वभाव को वर्ण-व्यवस्था का आधार नही बना सकते। इस प्रकार हमारा सारा ही कार्यक्रम और ऋषि का सारा ही मिशन खटाई मे पड़ गया है।

लेकिन, इस व्यक्तिगत उन्नति का क्रम कैसे शुरू हो? हम तो उस भीषण आत्मवचना के व्यापार मे पड़ गये हैं, जिसमे पड़ने के बाद मनुष्य के लिये उन्नति करना कठिन हो जाता है। हमे श्रेष्ठ, पवित्र और उच्च बनाने के लिये ऋषि ने उस 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया था, जिसका सम्बन्ध भले कर्मो एवं सद्गुणो के साथ है, लेकिन, हमने उसे भी जातिपरक मान कर अपने को श्रेष्ठता, पवित्रता और उच्चता का अवतार मान लिया है। सब सत्य विद्याओं का पुस्तक वेद हमे इस लिए दिया गया था कि हम उसके पढने-पढाने और सुनने-सुनाने का परम धर्म पालन करें लेकिन, हमे तो उस सचाई का इतना अभिमान हो गया कि हम यह भी भूल गये कि सत्यासत्य का अनुसंधान एवं विचार करते हुये सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहने का हमे आदेश दिया गया है। अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि के लिए कोई विशेष उद्योग किये बिना ही हमने अपने को विद्या का पुंज मान लिया है। वैदिक धर्म को सबसे श्रेष्ठ, सबसे पुरातन और सबसे पवित्र मानते हुए हमने उसको अपने आचार-विचार मे लाने का विशेष यत्न किये बिना ही उसका अभिमान करना शुरू कर दिया है। इस शाब्दिक अभिमान की पूंजी के बल-बूते पर हम 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'

के नारे को सार्थक बनाना चाहते हैं। यह कोरी आत्मवंचना है। इससे न तो हमें कुछ व्यक्तिगत लाभ मिल सकता है और न हम सामूहिक रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। इस लिए आत्मवंचना के इस मायाजाल से अपने को बाहर निकालने मे हमे तुरन्त ही लग जाना चाहिये। व्यक्तिगत विद्रोह की यह प्रबल भावना हममे से हर एक के हृदय मे प्रबल वेग के साथ पैदा होनी चाहिये। अपने सारे आचार-विचार और व्यवहार को हमे एक बार फिर नये सिरे से नये ढाचे मे ढालने का उद्योग करना चाहिये। अपनी सारी वृत्तियों और प्रवृत्तियो को राष्ट्रोन्मुखी बना कर आर्यसमाज मे ऋषि के राष्ट्रवाद की स्थापना कर अपने देश में अपना राज्य और सारे संसार में अपने देश का 'अखण्ड सार्वभोम चक्रवर्ती साम्राज्य' स्थापित करने का महान् स्वप्न देखना चाहिए।

मुश्किल तो यह है कि हम भी ऐसे ही मनुष्यों मे शामिल हो गये हैं, जिनके लिये ऋषि ने यह लिखा है कि "जो हो परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं, जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते; किन्तु दूसरो के दोष देखने मे अत्युद्युक्त रहते हैं।" ऋषि ने कहा है कि "यह न्याय की बात नहीं।" पिछले चार समुल्लासो के खण्डनात्मक प्रकरण में उलझ कर हमने सिर्फ प्रचार के उस धर्म को अपना लिया है, जिसमें न्याय का अंश इसलिये नहीं रहा कि हमने पहले दस समुल्लासो के आचार-प्रधान धर्म को प्राय: सर्वथा भुला दिया है। आचार के बिना प्रचार में अपने को लगाना वैसा ही है जैसे कि कोई बिना पुख्ता नींव बनाये ऊँचा शानदार महल खड़ा करना चाहे। इस लिये सामूहिक दृष्टि से हमे प्रचार-प्रधान धर्म से मुँह मोड़कर आचार-प्रधान धर्म को अपनाना चाहिए। जैसा हम समाज

को बनाना चाहते हैं, ठीक उसका माडल या आदर्श हमें अपने को और अपने घर को बना कर समाज के सामने पेश करना चाहिये। अन्य सब सद्गुणों और अच्छाइयों के समान विद्रोह, विप्लव एवं क्रान्ति का श्रीगणेश भी अपने व्यक्तिगत जीवन, घर-गृहस्थी और परिवार से ही किया जाना चाहिये। ऋषि के तर्क की नकल कर वितण्डावाद से काम लेने वाले उपदेशकों और भजनीकों में कितने हैं, जिन्होंने ऋषि की श्रद्धा एवं विश्वास को अपने हृदय में जगाया है, उनकी तपस्या एवं स्वाध्याय को अपने जीवन में ढाला है और समाज को भी अपने को उसी ढाँचे में ढालने के लिये प्रेरित किया है। ऋषि के शब्दों की नकल करने वालों की समाज में कमी नहीं है, लेकिन, अमृत की खोज में अपने को खपाने वाले उन जैसे कितने हैं? हमारे धर्म-कर्म के बहीखाते में जबानी जमा-खर्च की कमी नहीं है; लेकिन, नगदी के हिसाब का उसमें कहीं पता भी नहीं है। हवा से हिलने वाले पेड़ पर बैठी हुई चिड़िया के समान हम देश में हुई जागृति एव प्रगति का सारा श्रेय स्वयं लूट लेना चाहते हैं; लेकिन, यह देखने की हमें फुरसत नहीं है कि हमारे अपने जीवन, अपने घर और अपने परिवार में उस जागृति एवं प्रगति का कितना प्रकाश फैल सका है? दूसरों को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से छुटकारा दिलाने का यश-सम्पादन करने का यत्न तो हमने खूब किया; लेकिन, अपने को उनसे मुक्ति दिलाने के लिये हमने कितना यत्न किया? नवीन विचारधारा और नवीन अन्वेषण की जिज्ञासा का हम अपने को जन्मदाता मानते हैं; लेकिन, हम स्वयं धीरे-धीरे पुरातनपंथी बनते हुए उनसे मुँह मोड़ते जा रहे हैं। हमारा आचार-विचार व प्रचार तथा धर्म-कर्म सब आर्यसमाज के

साप्ताहिक सत्संग के लिये रह गया है; अपने लिये, घर के लिये और परिवार के लिये उसका उतना महत्व नहीं रहा। इस सब का परिणाम यह हो रहा है कि आर्यसमाज संस्था वा संगठन न रह कर धीरे-धीरे एक सम्प्रदाय बनता जा रहा है और उसकी गिनती सार्वजनिक संस्थाओं में न होकर साम्प्रदायिक संस्थाओं मे होने लग गई है। आर्यजीवन प्रगति, जागृति और चेतना का पुंज न रह कर वैसा ही निस्तेज, निर्वीर्य और प्राणरहित बन जायगा, जैसा कि ऋषि के आगमन से पहिले हमारे देश का सारा जीवन बना हुआ था। सारे देश में जीवन की ज्योति जगाने वाले आर्य-समाज को भटकते हुओं का पथ-प्रदर्शन करने के लिये प्रकाशस्तम्भ बनना चाहिये था; लेकिन, वह स्वयं ही जीवन की खोज मे इधर-उधर भटकने लग गया है। सारे राष्ट्र को जीवन एवं संगठन का पाठ सिखाने वाले, चेतना व प्राण की अटूट निधि दान में देने वाले और ऋषि दयानन्द सरीखे अद्वितीय महापुरुष के उत्तराधिकारी होने का दावा करने वाले आर्यसमाज की यह स्थिति सचमुच अत्यन्त खेदजनक है। कभी अका-लियो की पगड़ियो की, कभी उनके नारों की, कभी गुरु लंगरा की और कभी दूसरी बातो की नकल की जाती है। लेकिन, नकल असल नहीं हो सकती। फिर कभी मुस्लिम लीग की थोथी साम्प्रदायिकता की नकल की जाती है और हिन्दू हितो के नाम का मायाजाल रचा जाता है। लेकिन, वह भी मिया की दौड़ मसजिद तक रह-जाती है। बाह्य चिन्ह जीवन की सिर्फ निशानी हैं। वे जीवन को पैदा नहीं कर सकते। लेकिन, हमने तो धुंए को ही अग्नि मान लिया है। भगवान् बुद्ध या ऋषि दयानन्द को पहाड़ों, जंगलों, खाइयों, नदियों की उपत्यकाओं और चट्टानों की तहो

में कहीं पड़ा हुआ जीवन हाथ नहीं लग गया था· बल्कि अपनी आत्मा में ही उनको उसके दर्शन हुए थे। यह जानते और मानते हुए भी हम जीवन को कहीं बाहर से प्राप्त कर लेना चाहते हैं। वह कैसे और कहा से मिल सकता है ?

प्रत्येक राष्ट्र, समाज, संस्था और संगठन के लिये परीक्षा का अत्यन्त नाजुक अवसर उपस्थित हुआ करता है। इस अवसर में अपने को सफलता की चोटी पर पहुँचा देने वाले अमर हो जाते हैं और थोड़ा-सा भी डगमगाने वाले नैतिक पतन की गहरी खाई में औंधे मुँह गिर जाते हैं। पराधीन राष्ट्र की मुक्ति के लिये क्रान्ति का सन्देश लेकर प्रगट होने वालों के लिये तो यह समय और भी नाजुक होता है। पिछला इतिहास हमारे सामने है। देश की स्वतन्त्रता के लिये अकाली, मराठा और राजपूत प्रगट हुए। गुरु गोविन्दसिंहजी महाराज, छत्रपति शिवाजी महाराज और महाराणा प्रताप को पाकर देश धन्य हो गया। अकालियो ने सर्वस्व की बाजी लगाकर जो पुरुषार्थ दिखाया और विरोधी के सामने सिर झुकाने से इनकार कर दिया, उसी का परिणाम है कि उनमें आज भी कुछ जीवन, ज्योति, जागृति और चेतना दीख पड़ती है। जहाँ भी कहीं वे मोर्चा लेते हैं, विजयश्री उन्हें जयमाल पहिना कर अपने को गौरवान्वित करती है। मराठों ने भी सिर ऊँचा रखा। उनमे भी जीवन और प्राण का कुछ अंश शेष है। लेकिन, महाराणा प्रताप की शूरता एव वीरता का इतना लाभ राजपूतो को इसलिये नहीं मिला कि उनमे मानसिंह और जयसिंह सरीखे अनेकों राजपूतों ने मुगल सम्राटों के चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सुखोपभोग में ही अपने को धन्य मान लिया। आज देश के

सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन मे राजपूतो का स्थान कहाँ है? आर्य-समाजियो के लिये भी अत्यन्त नाजुक घड़ी उपस्थित है। राजनीति से मुँह मोड़कर और ऋषि के राष्ट्रवाद को तिलाजली देकर वे एक बार फिसल चुके है। लेकिन, वे चाहें तो अब भी संभल सकते हैं। उनको यह तय करना है कि वे अपना भविष्य राजपूतो के समान अन्धकारमय बना लेना चाहते हैं अथवा अकालियो एव मराठों के समान उसे कुछ उज्ज्वल बना हुआ देखना चाहते है? हमे तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के बीच खाई ही खुद गई हो। राष्ट्र-वाद की दृष्टि से तो इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नही है। एक सस्था का कई संस्थाओं मे बंट जाना वैसा ही है, जैसे कि कोई संगठित फौज दुश्मन की चोट खाकर कई टुकड़ों में बंट गई हो। आर्यसमाज मे 'जात-पात तोड़क मण्डल', 'आर्य स्वराज्य सभा' और 'दलितोद्धार सभा' आदि का बनना कोई शुभ लक्षण नहीं है। इस प्रकार शक्तिया बिखर जाती है। जीवन के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। संगठन और संस्थाये नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। जिस देश, समाज अथवा राष्ट्र के लिये उनका निर्माण किया जाता है, उनके उत्थान की सारी आशाये विलीन हो जाती हैं। इस स्थिति पर उन्हे कुछ गम्भीर विचार करना चाहिए, जो अपने को ऋषि का उत्तराधिकारी मानते हुए उनके मिशन का सन्देश सारे विश्व में फैला हुआ देखना चाहते है।

फिर हमें यह भी नही भुला देना चाहिए कि 'सचाई' किसी एक ही समाज की बपौती नही है और जो 'सचाई' जीवन का सक्रिय अंग नहीं

बन जीर्ण, वह किसी काम नहीं आ सकती। ऋषि ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने कोई नयी सचाई और नयी बात पेश नहीं की। उनसे पहिले भी वेद और वैदिक धर्म विद्यमान् थे, जिन पर आचरण करना लोगों ने छोड़ दिया था। अवनति उसी का परिणाम हुआ। वेदो के पुस्तकालयों या आर्यसमाजो में पड़े रहने पर भी हमारा पतन एवं अवनति होना सभव है और वैदिक धर्म रहते भी हम गिर सकते हैं। उनका स्थान या महत्व उतना ही है, जितना कि गोदाम मे रखे हुये गोला-बारूद का है। उनसे यदि काम न लिया जाय, तो जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। इसी प्रकार वेद और वैदिक धर्म की सचाई को यदि जीवन तथा आचार-विचार एवं व्यवहार में पूरा न उतारा जाय, तो केवल उनका नाम रटने या जपने मे काम नहीं चल सकता। हर महापुरुष अपने अनुयायियो के लिये कुछ न कुछ 'सचाई' छोड़ जाता है। लेकिन, जैसे ही उनके अनुयायी उस सचाई से दूर होने लगते हैं, वैसे ही उनका पतन होना शुरू हो जाता है। जैसे देह की कीमत आत्मा के साथ है, वैसे ही सचाई की कीमत जीवन के साथ है। इस लिये सिर्फ सचाई के भरोसे, उसे जीवन मे उतारे बिना ही, जीवित रहने की आशा रखना वृथा है। सचाई किसी के भी भरोसे रुकी नहीं रहती। उसके प्रसार व प्रचार के लिये प्रगट होने वाली नयी संस्थाओ का जन्म पुरानी संस्थाओं की रियायत नहीं करता। छूआछूत को मिटाने और हरिजनों का उद्धार करने की समस्या आर्य-समाज का रास्ता नहीं देखती रही। जात-पात को मिटाने और जन्म की आकस्मिक घटना को दिये गये अनावश्यक महत्व को दूर करने की सचाई भी आर्यसमाज के भरोसे रुकी नहीं रही। हिन्दी के प्रचार ने अपना रास्ता

बना ही लिया। ऋषि का राष्ट्रवाद भी फल-फूल रहा है। सचाई तो वह ज्योति है, जो ज्वालामुखी की तरह प्रगट होकर ही रहती है। इस लिये यह मानना भूल है कि सचाई का ठेका ऋषि सिर्फ आर्यसमाज को ही दे गये हैं और वह उस ठेके पर निश्चिन्त रह सकता है। सचाई के प्रसार व प्रचार के लिये ऋषि अपने पीछे आर्यसमाज को छोड़ गये हैं। लेकिन, नयी संस्थाओं का जन्म लेना और प्रगट होना उन्होंने रोका नहीं और न वे उसे रोक ही सकते थे। इस लिये समय आ सकता है कि आर्यसमाज पिछड़ जाय और कोई नयी संस्था उसका स्थान ले ले। राष्ट्रीय क्षेत्र मे, निस्सन्देह, उसका स्थान कांग्रेस ने ले ही लिया है।

एक भ्रान्त धारणा और है। वह यह कि बलिदानों के भरोसे आर्यसमाज जीवित और जागृत बना रह सकता है। निसन्देह, बलिदानों में एक अजीब जादू होता है। वे चमत्कार कर दिखाते हैं। लेकिन, आर्यसमाज के लिए बलिदानों का भी उतना महत्व नहीं रहा। बलिदानों का कोई चमत्कार आर्यसमाज में होता नजर नही आता। वैसे तो आर्यसमाज की नीव ही बलिदान पर रखी गई है और बलिदानो से ही उसको सींचा गया है। ऋषि दयानन्द, पण्डित लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द जी के महान् बलिदानो के अलावा भी दर्जनों शानदार बलिया आर्यसमाज ने दी हैं। निजाम हैदराबाद के शानदार सत्याग्रह में भी बलिदानो की अमर कहानी आर्यसमाज ने लिख दी है। लेकिन, सवाल यह है कि आर्यसमाज मे इन सब बलिदानो से क्या चमत्कार और परिवर्तन हुआ? गुरु तेगबहादुरजी के सिर्फ एक बलिदान ने सिक्खों मे भीषण क्रान्ति पैदा कर उनका कायाकल्प कर डाला था। आर्यसमाज मे इतने बलिदानों के

भी ऐसा कोई कायाकल्प होने की सम्भावना दीख नहीं पड़ती। यह कटु और अप्रिय सत्य है कि हैदराबाद-सत्याग्रह के बाद पंजाब और युक्त-प्रात की आर्यप्रतिनिधि-सभाओ के जो अधिवेशन हुए, उनमे 'कोरम्' भी पूरा नही हुआ। सत्याग्रह के बाद के लिये बनाई गई आर्य सार्वदेशिक सभा की अधिकाश योजनाये पैसे का अभाव न होने पर भी कार्य मे परिणत न हुई। वहा आर्य हाई स्कूल तक की स्थापना अभी नहीं की जा सकी और न उसका इतिहास ही प्रकाशित किया जा सका है। बलिदानों को इस प्रकार प्रभावहीन और महत्वहीन बना कर उनके भरोसे जीवित और जाग्रत रहने की आशा पूरी नहीं हो सकती। राजपूतो के बलिदान के मुकाबले आर्यसमाज का बलिदान समुद्र के मुकाबले पानी की एक बूंद है। वह महान् और शानदार बलिदान राजपूतो को पतन से बचा नहीं सका। पन्ना, पद्मिनी और मीरा की सेवाभूमि, वीरभूमि और तपोभूमि राजस्थान मे महिलायें कैदियो का-सा दीन-हीन जीवन बिताने को मजबूर है। राजपूत भी पराधीन जीवन बिता रहे हैं। मराठों तथा सिक्खो का शानदार बलिदान भी उनके लिये सजीवनी बूटी साबित नहीं हुआ और उनको अमर नहीं रख सका। जिस बलिदान का जीवन के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, उसमे चमत्कार कर दिखाने की शक्ति नहीं रहती। अथवा, जब किसी समाज मे बलिदान से अनुप्राणित होने की सामर्थ्य नही रहती, तब भी बलिदान कोई चमत्कार नहीं दिखा सकता। आर्यसमाज मे ऐसी ही-सी स्थिति पैदा हो जाने से उसके बलिदान व्यर्थ जा रहे हैं। उनका कुछ भी चमत्कार होता दीख नही पड़ता। इसका एक कारण यह भी है कि इन बलिदानो का उदार, व्यापक और सार्वजनिक भावना से स्वागत न

किया जाकर उनको संकुचित, संकीर्ण, सीमित और अनुदार साम्प्रदायिक भावना से ही देखा जाता है। ऋषि दयानन्द के बलिदान से आर्यसमाज मे सनातनियो के विरुद्ध एक वेगवती लहर पैदा हो गई और आर्यसमाजियों ने सनातन धर्म के खण्डन-मण्डन मे अपने को सर्वतोभावेन लगा दिया। आर्यपथिक पण्डित लेखरामजी और अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदानो की प्रतिक्रिया आर्यसमाज मे इस्लाम के विरोध में प्रगट हुई और आर्यसमाजी उसके खण्डन-मण्डन में लग गये। परिणाम यह हुआ कि वास्तविक ध्येय या आदर्श से हमारी दृष्टि हट गई। राष्ट्रवाद से हट कर आर्यसमाज सम्प्रदायवाद की दलदल में धंस गया। राष्ट्रीय आकाक्षाये मुर्झा गई। स्वराज्य का आदर्श आखो से ओझल हो गया। अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना हवा होगई। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के छठे समुल्लास को सर्वथा भुला दिया गया। ऋषि के जीवन मे बिजली की तरह व्यापी हुई राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित होना हमने छोड़ दिया। निराशापूर्ण इस स्थिति मे आर्यसमाज जा पहुॅचा है। आशा की केवल एक किरण कभी कभी चमक जाती है। वह है आर्य युवकों के हृदयो में समाई हुई अपने देश एवं राष्ट्र के स्वतन्त्र एवं स्वाधीन देखने की उत्कट अभिलाषा। इसी अभिलाषा के रूप में ऋषि के राष्ट्र-वाद की चिंगारी अभी बची हुई है। क्या वह चिंगारी फिर से प्रज्वलित होकर उस भट्टी में सुलग सकेगी, जिसमे विद्रोह, विप्लव और महा क्राति की आग को ऋषि दयानन्द ने अपने देश की दीनता, हीनता एवं परा-धीनता को राख बना देने के लिए ही सुलगाया था ?

अपने को ऋषि का अनुयायी मानने वाले हर आर्यसमाजी को इस

सवालों का जवाब हृदय पर हाथ रख कर देना चाहिये और उसे ५०
बताना चाहिए कि इस समय आर्यसमाज का कायाकल्प करने के।
जिस विद्रोह की आवश्यकता है, उसमें वह कितना और कैसा
देने के लिये तय्यार है? ऋषि के राष्ट्रवाद को पूरा करने की जि
हममें से हर एक पर स्वतः ही आ गई है। उससे हम इनकार नहीं
सकते।

लेखक की अन्य पुस्तकें

१—"स्वामी श्रद्धानन्द" पृष्ठ ६४८, रियायती मूल्य २)

अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की ६४८ पृष्ठों मे सुविस्तृत, प्रामाणिक और पूर्ण जीवनी अत्यन्त ओजस्वी भाषा और तेजस्वी शैली में लिखी गई है। हिन्दी में किसी भी महापुरुष की ऐसी जीवनी आज तक नहीं लिखी गई। सभी समाचार पत्रों ने इसको मुक्त कण्ठ से सराहा है। डाक खर्च सहित २॥)।

२—"हमारे राष्ट्रपति" पृष्ठ ४००, मूल्य १)

काग्रेस के शुरू से अब तक के सभापतियों के जीवन-परिचय उनके चित्रों के साथ दिये गये हैं। डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने इसकी भूमिका लिखी है। तीसरा संस्करण छपने को है। डाक खर्च सहित १॥)।

३— "परदा" पृष्ठ २५०, मूल्य २॥)

परदा प्रथा पर समाज सुधार की दृष्टि से लिखी गई अत्यन्त उत्कृष्ट पुस्तक। दर्जनों चित्र व कार्टून। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का श्री राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार सब से पहिले इसी पुस्तक पर दिया गया है। सेठ जमनालाल जी बजाज की धर्म-पत्नी श्रीमती जानकीदेवीजी बजाज ने इसकी भूमिका लिखी है। डाक खर्च सहित ३)।

४— "राष्ट्रधर्म" पृष्ठ १२५, मूल्य ॥।)

सामाजिक क्रान्ति की आग उगलने वाली अनूठी पुस्तक, जो अलीपुर जेल के सीकचों में बैठकर लिखी गई थी। पहिला संस्करण समाप्त हो चुका है। दूसरा जल्दी ही छपने वाला है। डाक खर्च सहित १)

"लाला देवराज" पृष्ठ २८४ मूल्य १)

स्त्री शिक्षा के प्रवर्तक, मातृजाति के उद्धारक और कन्या महा-विद्यालय के संस्थापक स्वर्गीय लाला देवराज जी की यह जीवनी मुर्दों में भी रूह फूंकने का सामर्थ्य रखती है। दर्जनों चित्र दिये गये हैं। डाक खर्च सहित १।=)

३—"राष्ट्रवादी दयानन्द" पृष्ठ १३६, मूल्य ।।।)

यह क्रान्तिकारी ग्रन्थ आपके हाथों में है, 'दयानन्द दर्शन' नाम से इसका पहिला संस्करण प्रकाशित हुआ था। डाक खर्च सहित १)

७—"पाकिस्तान" पृष्ठ १२५, मूल्य ।।।)

पाकिस्तान पर बहुत कुछ कहा गया है। लेकिन, लिखा कुछ भी नहीं गया। जो कुछ लिखा गया है, उसमें युक्ति एवं तर्क से इतना काम नहीं लिया गया। इस लिये हिन्दी में यह पहिली पुस्तक है, जिसमें इस नापाक योजना की धज्जिया उड़ाई गई हैं। डाक खर्च सहित १)

रेल पार्सल से सब पुस्तकें एक साथ मँगाने पर रेल भाड़ा माफ।

"गीता विज्ञान कार्यालय"

४० ए हनुमान रोड, नई दिल्ली

गमाभावात्क्रमात्त्रिपुरुषागतेति । स्मार्तश्च कालो वर्षशतपर्यन्तः । शतायुर्वै पुरुष इति श्रुतेः । अनुगमाभावादिति योग्यानुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयाभावादिति । अतश्च वर्षशताधिको भोगः संततोऽप्रतिरवः प्रत्यर्थिप्रत्यक्षश्चागमाभावे वा निश्चिते अव्यभिचारादाक्षिप्तागमः स्वत्वं गमयति । अस्मार्तेऽपि कालेऽनागमस्मृतिपरम्परायां सत्यां न भोगः प्रमाणम् । अत एवानागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिरित्युक्तम् । न चानागमं तु यो भुङ्क्ते इत्येकवचननिर्देशाद्बहून्यब्दशतान्यपीति अपिशब्दप्रयोगात्प्रथमस्य पुरुषस्य निरागमे चिरकालोपभोगेऽपि दण्डविधानमिति मन्तव्यम् । द्वितीये तृतीये वा पुरुषे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसङ्गान्न चैतदिष्यते । आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमेति नारदस्मरणात् । तस्मात्सर्वत्र निरागमोपभोगे अनागमं तु यो भुङ्क्त इत्येतत् द्रष्टव्यम् । यदप्यन्यायेनापि यद्भुक्तं पित्रा पूर्वतरैस्त्रिभिः । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतमिति । तदपि पित्रा सह पूर्वतरैस्त्रिभिरिति योज्यम् । तत्रापि क्रमात् त्रिपुरुपागतमित्यस्मार्तकालोपलक्षणम् । त्रिपुरुषविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरुषत्रयातिक्रमसंभवात् । द्वितीये वर्षे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसंगः । तथा सति । स्मार्तकाले क्रियाभूमेः सागमा भुक्तिरिष्यत इति स्मृतिविरोधः । अन्यायेनापि यद्भुक्तमित्येतच्चान्यायेनापि भुक्तमपहर्तुं न शक्यम् । किंपुनरन्यायानिश्चय इति व्याख्येयमपिशब्दश्रवणात् । यच्चोक्तं हारीतेन । यद्विनागममत्यन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतमिति । तत्राप्यत्यन्तमागमं विनेति अत्यन्तमुपलभ्यमानमागमं विनेति व्याख्येयम् । न पुनरागमस्वरूपं विनेति । आगमस्वरूपाभावे भोगशतेनापि न स्वत्वं भवतीत्युक्तम् । क्रमात्त्रिपुरुषागतमित्येतदुक्तार्थम् । ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् । तथाहि । यद्यागमः प्रमाणान्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वत्वावगमान्न भोगस्य स्वत्वे आगमे वा प्रामाण्यम् । अथ प्रमाणान्तरेणागमो नावगतः कथं तद्विशिष्टो भोगः प्रमाणम् । उच्यते । प्रमाणान्तरेणावगतागमसहित एव निरन्तरो भोगः कालान्तरे स्वत्वं गमयति । अवगतोप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे स्वत्वं गमयितुमलम् । मध्ये दानविक्रयादिना स्वत्वागमसंभवादिति सर्वमनवद्यम् ॥

आगमसापेक्षो भोगः प्रमाणमित्युक्तं आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव प्रमाणमित्यत आह

आगमोऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥ २७ ॥

यस्मिन्नागमे स्वल्पापि भुक्तिर्नो नास्ति तस्मिन्नागमे बलं संपूर्ण नैवास्ति । अयमभिसंधिः स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च दानम् । परस्वत्वापादनं च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते नान्यथा । स्वीकारश्च त्रिविधः । मानसो वाचिकः कायिकश्चेति । तत्र मानसो ममेदमिति संकल्परूपः । वाचिकस्तु ममेदमित्याद्यभिव्याहारोल्लेखी सविकल्पकः प्रत्ययः । कायिकस्तु पुनरुपादानाभिमर्शनादिरूपोऽनेकविधः । तत्र च नियमः स्मर्यते । दद्यात्कृष्णाजिनं

यदा पुनराहर्त्रादिरभियुक्तोऽकृतव्यवहारनिर्णय एव परेतः परलोकं गतो भवेत्तदा तस्य रिक्थी पुत्रादिस्तमागममुद्धरेत् यस्मात्तत्र तस्मिन्व्यवहारे भुक्तिरागमरहिता साक्ष्यादिभिः साधितापि न प्रमाणम्। पूर्वाभियोगेन भोगस्य सापवादत्वात्। नारदेनाप्युक्तम्। नवारूढविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः। पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगो निवर्तयेदिति ॥२९॥

अनिर्णीतव्यवहारे व्यवहर्तरि प्रेते व्यवहारो न निवर्तत इति स्थितम्। निर्णीतेऽपि व्यवहारे स्थिते च व्यवहर्तरि वा व्यवहारः क्वचित्पुनः प्रवर्तते क्वचिन्न प्रवर्तत इति व्यवस्थासिद्धये व्यवहारदर्शिनां बलाबलमाह

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ ३० ॥

नृपेण राज्ञा अधिकृताः व्यवहारदर्शने नियुक्ताः राज्ञा सभासदः कार्या इत्यादिनोक्ताः। पूगाः समूहाः भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनां एकस्थाननिवासिनां यथा ग्रामनगरादयः। श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीनामप्येकजातीयकर्मोपजीविनां संघाताः। यथा हेडाबुकादीनां ताम्बूलिककुविन्दचर्मकारादीनां च। कुलानि ज्ञातिसंबन्धिबन्धूनां समूहाः। एतेषां नृपाधिकृतादीनां चतुर्णां पूर्वं पूर्वं यद्यत्पूर्वं पठितं तत्तद्गुरु बलवज्ज्ञेयं वेदितव्यम्। नृणां व्यवहर्तॄणां व्यवहारविधौ व्यवहारदर्शनकार्ये। एतदुक्तं भवति। नृपाधिकृतैर्निर्णीते व्यवहारे पराजितस्य यद्यप्यसंतोषः कुदृष्टिबुद्ध्या भवति तथापि न पूगादिषु पुनर्व्यवहारो भवति। एवं पूगनिर्णीतेऽपि न श्रेण्यादिगमनम्। तथा श्रेणिनिर्णीते कुलगमनं न भवति। कुलनिर्णीते तु श्रेण्यादिगमनं भवति। श्रेणिनिर्णीते पूगादिगमनम्। पूगनिर्णीते नृपाधिकृतगमनं भवतीति। नारदेन पुनर्नृपाधिकृतैर्निर्णीतेऽपि व्यवहारे नृपगमनं भवतीत्युक्तम्। कुलानि श्रेणयश्चैव पूगाश्चाधिकृता नृपः। प्रतिष्ठा व्यवहाराणां पूर्वेषामुत्तरोत्तरामति। तत्र च नृपगमने स्वोत्तरसभ्येन राज्ञा पूर्वैः सभ्यैः सह सपणव्यवहारे निर्णीयमाने यद्यसौ कुदृष्टवादी पराजितस्तदासौ दण्ड्यः। अथासौ जयति तदाधिकृताः सभ्या दण्ड्याः ॥ ३० ॥

राजसभातोनिर्णायकान्तरमाह।

दुर्बलैर्व्यवहारदर्शिभिर्दृष्टो व्यवहारः परावर्तते प्रबलदृष्टस्तु न निवर्तत इत्युक्तम् इदानी प्रबलदृष्टोऽपि व्यवहारः कश्चिन्निवर्तत इत्याह

बलोपाधिविनिर्वृत्तान् व्यवहारान्निवर्तयेत्।
स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिःशत्रुकृतांस्तथा ॥ ३१ ॥

बलेन बलात्कारेण उपाधिना भयादिना विनिर्वृत्तान्निष्पन्नान्व्यवहारान्निवर्तयेत्। तथा स्त्रीभिर्नक्तं रात्रावस्त्रीभिरपि। अन्तरागारे गृहाभ्यन्तरे बहिर्ग्रामादिभ्यः शत्रुभिश्च कृतान्व्यवहारान्निवर्तयेदिति संबन्धः ॥ ३१ ॥

मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः।

---

१ नृपेणाधिकृताः प्राड्विवाकादयः।

विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३३ ॥

प्रनष्टं हिरण्यादि शौल्किकस्थानपालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं यत्तद्राज्ञा धनिने दाप्यम्। यदि धनी रूपसंख्यादिभिर्लिङ्गैर्भावयति । यदि न भावयति तदा तत्समं दण्ड्यः। असत्यवादित्वात् । अधिगमस्य स्वत्वनिमित्तत्वात् स्वत्वे प्राप्ते तत्परावृत्तिरनेनोक्ता । अत्र च कालावधिं वक्ष्यति । शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् । अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृप इति । मनुना पुनः संवत्सरत्रयमवधित्वेन निर्दिष्टम् । प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेदिति । तत्र वर्षत्रयपर्यन्तमवश्यं रक्षणीयम् । तत्र यदि संवत्सरादर्वाक् स्वाम्यागच्छेत्तदा कृत्स्नमेव दद्यात् । यदा पुनः संवत्सरादूर्ध्वमागच्छति तदा किंचिद्भागं रक्षणमूल्यं गृहीत्वा शेषं स्वामिने दद्यात् । यथाह । आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन्निति । तत्र प्रथमे वर्षे कृत्स्नमेव दद्यात् । द्वितीये द्वादशं भागं तृतीये दशमं चतुर्थादिषु षष्ठं भागं गृहीत्वा शेषं दद्यात् । राजभागस्य चतुर्थोऽशोऽधिगन्त्रे दातव्यः । स्वाम्यनागमे तु कृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे दत्वा शेषं राजा गृह्णीयात् । तथाह गौतमः । प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यमूर्ध्वमाधिगन्तुश्चतुर्थोऽशो राज्ञः । शेषमित्यत्र संवत्सरमित्येकवचनमविवक्षितम् । राज्ञा त्र्यब्दं निधापयेदिति स्मरणात् । हरेत परतो नृप इत्येतदपि स्वामिन्यनागते त्र्यब्दादूर्ध्वं व्ययीकरणाभ्यनुज्ञा । ततः परमागते तु स्वामिनि व्ययीभूतेऽपि द्रव्ये राजा स्वांशमवतार्य तत्समं दद्यात् । एतच्च हिरण्यादिविषयम् । गवादिविषये वक्ष्यति पणानेकशफे दद्यादित्यादिना ॥ ३३ ॥

परावर्त्यद्रव्यं ।

रथ्याशुल्कशालादिनिपतितस्य सुवर्णादेर्नष्टस्याधिगमे विधिमुक्त्वा अधुना भूमौ चिरनिखातस्य सुवर्णादेर्निधिशब्दवाच्यस्याधिगमे विधिमाह

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ३४ ॥
इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ।
अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ ३५ ॥

उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्वा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्वा शेषं कोशे निवेशयेत् । ब्राह्मणस्तु विद्वान् श्रुताध्ययनसंपन्नः सदाचारो यदि निधिं लभेत तदा सर्वमेव गृह्णीयात् । यस्मादसौ सर्वस्य जगतः प्रभुः । इतरेण तु राजविद्वद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणक्षत्रियादिना निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमधिगन्त्रे दत्वा शेषं निधिं स्वयमेवाहरेत् । यथाह वसिष्ठः । आप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेत् षष्ठमंशमधिग-

निधिप्राप्तौ ।

मासि मासि प्रतिमासं बन्धकं विश्वासार्थं यदाधीयते आधिरिति यावत्। बन्धकेन सह वर्तत इति सबन्धकः प्रयोगस्तस्मिन् सबन्धके प्रयोगे प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य अशीतिभागो वृद्धिर्धर्म्या भवति। अन्यथा बन्धकरहिते प्रयोगे वर्णानां ब्राह्मणादीनां क्रमेण द्वित्रिचतुःपञ्चकं शतं धर्म्यं भवति। ब्राह्मणेऽधमर्णे द्विकं शतं क्षत्रिये त्रिकं वैश्ये चतुष्कं शूद्रे पञ्चकं मासिमासीत्येव द्वौ वा त्रयो वा चत्वारो वा पञ्च वा द्वित्रिचतुःपञ्चाः अस्मिन् शते वृद्धिर्दीयते इति द्वित्रिचतुःपञ्चकं शतम्। तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदादीयत इति। संख्याया अतिशदन्तायाः कन्। तदन्तविधिश्चात्र द्रष्टव्यः। वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः प्रतिमासं तु कालिका। इच्छाकृता कारिता स्यात्कायिका कायकर्मणा। इयं च वृद्धिर्मासि मासि गृह्यते इति कालिका। इयमेव वृद्धिर्दिवसगणनया विभज्य प्रतिदिवसं गृह्यमाणा कायिका भवति। तथा च नारदेन। कायिका कालिका चैव कारिता च तथा परा। चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेषु तस्य वृद्धिश्चतुर्विधेत्युक्त्वोक्तम्। कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादिकायिका। प्रतिमासं स्रवन्ती या वृद्धिः सा कालिका मता। वृद्धिः सा कारिता नामाधमर्णेन स्वयंकृता। वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृतेति ॥ ३७ ॥

सबन्धकेप्रयोगे अशीतिभागो वृद्धिः।

कान्तारगास्तु दशकं सामुद्रा विंशकं शतम्।

कान्तारमरण्यं तत्र गच्छन्तीति कान्तारगाः ये वृद्ध्या धनं गृहीत्वाधिकलाभार्थमतिगहनं प्राणधनविनाशशङ्कास्थानं प्रविशन्ति ते दशकं शतं दद्युर्ये च समुद्रगास्ते विंशकं शतं मासि मासीत्येव। एतदुक्तं भवति। कान्तारगेभ्यो दशकं शतं सामुद्रेभ्यश्च विंशकं शतं उत्तमर्ण आदद्यात्। मूलनाशस्यापि शङ्कितत्वादिति ॥

गृहीतृविशेषेण प्रकारान्तरमाह।

दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु ॥ ३८ ॥

सर्वे वा ब्राह्मणादयोऽधमर्णाः अबन्धके सबन्धके वा स्वकृतां स्वाभ्युपगतां वृद्धिं सर्वासु जातिषु दद्युः। क्वचिदकृतापि वृद्धिर्भवति। यथाह नारदः। न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित्। अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धाद्विवर्धत इति। यस्तु याचितकं गृहीत्वा देशान्तरं गतस्तं प्रति कात्यायनेनोक्तम्। यो याचितकमादाय तमदत्वा दिशं व्रजेत्। ऊर्ध्वं संवत्सरात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयादिति यश्च याचितकमादाय याचितोऽप्यदत्वा देशान्तरं व्रजति तं प्रति तेनैवोक्तम्। कृतोद्धारमदत्वा यो याचितस्तु दिशं व्रजेत्। ऊर्ध्वं मासत्रयात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयादिति। यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितकं न ददाति तं याचितकालादारभ्य वृद्धिं दापयेद्राजा। यथाह। स्वदेशेऽपि स्थितो यस्तु न दद्याद्याचितः क्वचित्। तं ततोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेदिति। अनाकारितवृद्धेरपवादो नारदेनोक्तः। पण्यमूल्यं भृतिर्न्यासो दण्डो यश्च प्रकल्पितः। वृथादानाक्षिक[1]पणा वर्धन्ते नाविवक्षिता इति। अविवक्षिता अनाकारिता इति ॥ ३८ ॥

इदानींकारितां वृद्धिमाह।

---

[1] आक्षिकोऽक्षक्रीडासबन्धी।

प्रपन्नमभ्युपगतमधमर्णेन धनं साक्ष्यादिभिर्भावितं वा साधयन्प्रत्याहरन् धर्मादिभिरुपा-यैरुत्तमर्णो नृपतेर्न वाच्यो निवारणीयो न भवति । धर्मादयश्चोपाया मनुना दर्शिताः । धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन चेति । धर्मेण प्रीतियुक्तेन सत्यवचनेन । व्यवहारेण साक्षिलेख्याद्युपायेन । छलेन उत्सवादिव्याजेन भूषणादिग्रहणेन । अचरितेन । अभोजनेन पञ्चमेनोपायेन बलेन निगडबन्धनादिना उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यमेतैरुपायैरात्मसात्कुर्यादिति । प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्य इति वदन् अप्रतिपन्नं साधयन् राज्ञा निवारणीय इति दर्शयति । एतदेव स्पष्टीकृतं कात्यायनेन । पीडयेद्यो धनी कश्चिद्दणिकं न्यायवादिनम् । तस्मादर्थात्स हीयेत तत्समं चाप्नुयाद्दममिति । यस्तु धर्मादिभिरुपायैः प्रपन्नमर्थं साध्यमानो याच्यमानो नृपः गच्छेद्राजानमभिगम्य साधयन्तमभियुङ्क्ते स दण्ड्यो भवति शक्त्यनुसारेण । धनिने तद्धनं दाप्यश्च । राज्ञा दापने च प्रकारा दर्शिताः । राजा तु स्वामिने विप्रं सान्त्वेनैव प्रदापयेत् । देशाचारेण चान्यांस्तु दुष्टान् संपीड्य दापयेत् । रिक्थिनं सुहृदं वापि छलेनैव प्रदापयेदिति । साध्यमानो नृपं गच्छेदित्येतत् स्मृत्याचारव्यपेतेनेत्यस्य प्रत्युदाहरणं च बोद्धव्यम् ॥ ४० ॥

प्रयुक्तद्रव्यस्य ग्रहणप्रकाराः ।

बहुषूत्तमर्णिकेषु युगपत्प्राप्तेष्वेकोऽधमर्णिकः केन क्रमेण दाप्यो राज्ञेत्यपेक्षित आह

गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः ।
दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥

समानजातीयेषु धनिषु येनैव क्रमेण धनं गृहीतं तेनैव क्रमेणाधमर्णिको राज्ञा दाप्यः । भिन्नजातीयेषु तु ब्राह्मणादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

यदा पुनरुत्तमर्णो दुर्बलः प्रतिपन्नमर्थं धर्मादिभिरुपायैः साधयितुमशक्नुवन्राज्ञा साधितार्थो भवति तदाऽधमर्णस्य दण्डमुत्तमर्णस्य च भृतिदानमाह

राज्ञाधमर्णिको दाप्यः साधिताद्दशकं शतम् ।
पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः ॥ ४२ ॥

अधमर्णिको राज्ञा प्रतिपन्नार्थात्साधिताद्दशकं शतं दाप्यः । प्रतिपन्नस्य साधितार्थस्य दशममंशं राजाऽधमर्णिकाद्दण्डरूपेण गृह्णीयादित्यर्थः । उत्तमर्णस्तु प्राप्तार्थः पञ्चकं शतं भृतिरूपेण दाप्यः । साधितार्थस्य विंशतितमं भागमुत्तमर्णाद्राजा भृत्यर्थं गृह्णीयादित्यर्थः । अप्रतिपन्नार्थसाधने तु दण्डविभागो दर्शितो निह्नवे भावितो दद्यादित्यादिना ॥ ४२ ॥

न्यायार्थ व्ययदानम् ।

सधनमधमर्णिकं प्रत्युक्तं अधुना निर्धनमधमर्णिकं प्रत्याह

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ।

वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानेन यत्कृतमृणं कामकृतं स्त्रीव्यसननिर्वृत्तं द्यूते पराजयनिर्वृत्तं दण्डशुल्कयोरवशिष्टं वृथादानं धूर्तबन्दिमल्लादिभ्यो यत्प्रतिज्ञातम्। धूर्ते बन्दिनि मल्ले च कुवैद्ये कितवे शठे। चाटचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलमिति स्मरणात्। एतदृणं पित्रा कृतं पुत्रादिः शौण्डिकादिभ्यो न दद्यात्। यत्र दण्डशुल्कावशिष्टकमित्यवशिष्टग्रहणात्सर्वं दातव्यमिति न मन्तव्यम्। दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा। न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकमित्यौशनसस्मरणात्। गौतमेनाप्युक्तम्। मद्यशुल्कद्यूतकामदण्डान् पुत्रानध्यावहेयुरिति। न पुत्रस्योपरि भवन्तीत्यर्थः। अनेनादेयमृणमुक्तम् ॥ ४७ ॥

न पतिः स्त्रीकृत तथेत्यस्यापवादमाह

गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधयोषिताम्।
ऋणं दद्यात्पतिस्तासां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया ॥ ४८ ॥

गोपो गोपालः शौण्डिकः सुराकारः शैलूषो नटः रजको वस्त्राणां रञ्जकः व्याधो मृगयुः एतेषां योषिद्भिर्यदृणं कृतं तत्पतिभिर्देयं यस्मात्तेषां वृतिर्जीवनं तदाश्रया योषिदधीना। यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रयेति हेतुव्यपदेशादन्येपि ये योषिदधीनजीवनास्तेऽपि योषित्कृतमृणं दद्युरिति गम्यते ॥ ४८ ॥

स्वीकृतऋणदानं।

पतिकृतं भार्या न दद्यादित्यस्यापवादमाह

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम्।
स्वयं कृतं वा यदृणं नान्यत्स्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

मुमूर्षुणा प्रवत्स्यता वा पत्या नियुक्तया ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्पतिकृतमृणं देयम्। यच्च पत्या सह भार्यया ऋणं कृतं तदपि भर्त्रभावे भार्यया अपुत्रया देयम्। यच्च स्वयमेव कृतं ऋणं तदपि देयम्। ननु प्रतिपन्नादि त्रयं स्त्रिया देयमिति न वक्तव्यम्। संदेहाभावात्। उच्यते। भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनमिति वचनान्निर्धनत्वेन प्रतिपन्नादिष्वदानाशङ्कायामिदमुच्यते। प्रतिपन्नं स्त्रिया देयमित्यादि। न चानेन वचनेन स्त्र्यादीनां निर्धनत्वमभिधीयते। पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपादनपरत्वात्। एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरिष्यते। नान्यत्स्त्री दातुमर्हतीत्येतत्तर्हि न वक्तव्यम्। विधानेनैवान्यत्र प्रतिषेधसिद्धेः। उच्यते। प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतमित्येतयोरपवादार्थमुच्यते। अन्यत्सुराकामादिवचनोपात्तं प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि न देयमिति ॥ ४९ ॥

प्रतिपन्नमृणंदेयम्।

पुनरपि यदृणं दातव्यं यत्र च काले दातव्यं तन्निरूपयमाह

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा।

ऋणदानाधिकारिणांक्रममाह ।

गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यो न चौरादिरिति योषितं भार्यां गृह्णातीति योषिद्ग्राहः स तथैव दाप्यः। यो यदीयां योषितं गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यः। योषितोऽविभाज्यद्रव्यत्वेन रिक्थव्यपदेशानर्हत्वाद्भेदेन निर्देशः। पुत्रश्चानन्याश्रितद्रव्यः ऋणं दाप्यः। अन्यमाश्रितमन्याश्रितं अन्याश्रितं मातृपितृसंबन्धिद्रव्यं यस्यासावन्याश्रितद्रव्यः न अन्याश्रितद्रव्यः अनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिन ऋणं दाप्य इति संबन्धः। एतेषां समवाये क्रमश्च पाठक्रम एव। रिक्थग्राह ऋणं दाप्यस्तदभावे योषिद्ग्राहस्तदभावे पुत्र इति। नन्वेतेषां समवाय एव नोपपद्यते। न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुरिति पुत्रे सत्यन्यस्य रिक्थग्रहणासंभवात्। योषिद्ग्राहोऽपि नोपपद्यते (अ. ९. श्लो. १६२) न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यत इति स्मरणात्। तदृणं पुत्रो दाप्य इत्यप्ययुक्तम्। पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमित्युक्तत्वात्। अनन्याश्रितद्रव्य इति विशेषणमप्यनर्थकम्। पुत्रे सति द्रव्यस्यान्याश्रयणासंभवात्। संभवे च रिक्थग्राहीत्यनेनैव गतार्थत्वात्। पुत्रहीनस्य रिक्थिन इत्येतदपि न वक्तव्यम्। पुत्रे सत्यपि रिक्थग्राही ऋणं दाप्य इति स्थितम्। असति पुत्रे रिक्थग्राही सुतरां दाप्य इति सिद्धमेवेति। अत्रोच्यते। पुत्रे सत्यप्यन्यो रिक्थग्राही संभवति। क्लीबान्धबधिरादीनां पुत्रत्वेऽपि रिक्थग्राहाभावात्। तथाच क्लीबादीननुक्रम्य भर्तव्यास्तु निरंशका इति वक्ष्यति। तथा सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तिर्न लभेतैकेषामिति गौतमस्मरणात् अतश्च क्लीबादिषु पुत्रेषु सत्सु अन्यायवृत्ते च सवर्णापुत्रे सति रिक्थग्राही पितृव्यतत्पुत्रादिः। योषिद्ग्राहो यद्यपि शास्त्रविरोधेन न संभवति तथाप्यतिक्रान्तनिषेधः पूर्वपतिकृतर्णापाकरणाधिकारी भवत्येव। योषिद्ग्राहो यश्चतसृणां स्वैरिणीनामन्तिमां गृह्णाति यश्च पुनर्भुवां तिसृणां प्रथमाम्।

परपूर्वादिस्त्रीस्वरूपम्।

यथाह नारदः। परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम्। पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा। कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता। पुनर्भूः प्रथमा नाम पुनःसंस्कारकर्मणा देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते। उत्पन्नसाहसान्यस्मै सा द्वितीया सपिण्डाय प्रकीर्तिता उत्पन्नसाहसा उत्पन्नव्यभिचारा। असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते। सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता। स्त्रीप्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति। कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा। कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता। पनः पत्युर्गृहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता। मृते भर्तरि तु प्राप्तान्देवरादीनपास्य या। उपगच्छेत्परं कामात्सा तृतीया प्रकीर्तिता। प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा च या। तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता। अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवाम्। ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्तामुपाश्रित इति। तदन्योऽपि योषिद्ग्राह ऋणापाकरणेऽधिकारी तेनैव दर्शितः। या तु सप्रधनैव स्त्री सापत्या वान्यमाश्रयेत्। सोऽस्या दद्यादृणं भर्तुरुत्सृजेद्वा तथैव ताम्। प्रकृष्टेन धनेन सह वर्तते इति सप्रधना बहुधनेति यावत्। तथा अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम्। ऋणं वोढुं स भजते सैव चास्य धनं स्मृतमिति पुत्रस्य पुनर्वचनं क्रमार्थम्। अनन्याश्रितद्रव्य इति बहुषु पुत्रेषु रिक्थभावे अंशग्रहणयोग्यस्यैव ऋणापाकारणेऽधिकारो नायोग्यस्यान्धादेरित्येवमर्थम्। पुत्रहीनस्य रि-

रभ्य कर्मसु सहत्वं श्रूयते । जायापती अग्निमादधीयातामिति । तस्मादाधाने सहाधिकारादाधानसिद्धाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकारः । तथा कर्म स्मार्त विवाहाग्नावित्यादिस्मरणाद्विवाहसिद्धाग्निसाध्येष्वपि कर्मसु सहाधिकार एव अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्तेषु जायापत्योः पृथगेवाधिकारः संपद्यते । तथा पुण्यानां फलेषु स्वर्गादिषु जायापत्योः सहत्वं श्रूयते । दिविज्योतिरजरमारभेतामित्यादि । येषु पुण्यकर्मसु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहत्वमिति बोद्धव्यम् । न पुनः पूर्तानां भर्त्रनुज्ञयानुष्ठितानां फलेष्वपि । ननु द्रव्यस्वामित्वेऽपि सहत्वमुक्तम् । द्रव्यपरिग्रहेषु च नाहि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्तीति । सत्यम् । द्रव्यस्वामित्वं पत्न्या दर्शितमनेन न पुनर्विभागाभावः यस्माद्द्रव्यपरिग्रहेषु चेत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तम् । भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिकेऽवश्यकर्तव्ये दानेऽतिथिभोजनभिक्षाप्रदानादौ हि यस्मान्न स्तेयमुपदिशन्ति मन्वादयस्तस्माद्भार्यायामपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति । अन्यथा स्तेयं स्यादिति । तस्माद्भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव न स्वेच्छया । यथा वक्ष्यति । यदि कुर्यात्समानंशान्पत्न्यः कार्याः समांशिका इति ॥ ९२ ॥

अधुना प्रातिभाव्यं निरूपयितुमाह

दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते ।
आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि ॥ ५३ ॥

प्रातिभाव्यं नाम विश्वासार्थं पुरुषान्तरेण सह समयः । तच्च विषयभेदात्त्रिधा भिद्यते । यथा । दर्शने दर्शनापेक्षायां एनं दर्शयिष्यामीति । प्रत्यये विश्वासे मत्प्रत्ययेनास्य धनं प्रयच्छ नायं त्वां वञ्चयिष्यते । यतोऽमुकस्य पुत्रोयं उर्वरा प्रायभूरस्य ग्रामवरो वास्तीति । दाने यद्ययं न ददाति तदानीमहमेव दास्यामीति प्रातिभाव्यं विधीयत इति प्रत्येकं संबन्धः । आद्यौ तु दर्शनप्रत्ययप्रतिभुवौ वितथे अन्यथाभावे अदर्शने विश्वासव्यभिचारे च दाप्यौ राज्ञा प्रस्तुतं धनमुत्तमर्णस्य इतरस्य दानप्रतिभुवः सुता अपि दाप्याः । वितथ इत्येव शाठ्येन निर्धनत्वेन वाऽधमर्णे प्रतिकुर्वति इतरस्य सुता अपीति वदता पूर्वयोः सुता न दाप्या इत्युक्तम् । सुता इति वदता न पौत्रा दाप्या इति दर्शितम् ॥ ९३ ॥

प्रातिभाव्यंत्रिविधम् ।

एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा ।
न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय यः स्थितः ॥ ५४ ॥

यदा दर्शनप्रतिभूः प्रात्ययिको वा प्रतिभूर्दिवंगतः तदा तयोः पुत्राः प्रातिभाव्यायातं पैतृकमृणं न दद्युः । यस्तु दानाय स्थितः प्रतिभूर्दिवं गतस्तस्य पुत्रा दद्युर्न पौत्राः । ते च मूलमेव दद्युर्न वृद्धिम् । ऋणं पैतामहं पौत्राः प्रातिभाव्यागतं सुतः । समं दद्यात्तत्सुतौ तु न दाप्याविति निश्चय इति व्यासवचनात् । प्रातिभाव्यव्यतिरिक्तं पैतामहमृणं पौत्रः समं यावद्गृहीतं तावदेव दद्यान्न वृद्धिम् । तथा तत्सुतोऽपि प्राति-

दर्शनप्रतिभुवः पुत्रैर्ऋणनदेयम् ।

पशुस्त्रीणां सद्यः सन्तत्यभावान्मूल्यदानमेव प्राप्नोतीति तदसत् । वस्त्रदानहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परेत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यादिसिद्धेः द्वैगुण्यमात्रविधान इदं वचनमनर्थकं स्यात् । पशुस्त्रीणां तु कालक्रमपक्षेऽपि सन्तत्यभावे स्वरूपदानमेव । यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधमर्णेन संघटते तदा सन्ततिरेव संभवत्येव । यद्वा पूर्वसि- ... सह पशुस्त्रीयो दास्यतीति न किंचिदेतत् । अथ प्रातिभाव्यं प्रीतिकृतं च प्रतिभुवा दत्तं प्रीतिदत्तस्य याचनात्प्राग्वृद्धिरस्ति । यथाह । प्रीतिदत्तं तु यत्किंचिद्वर्धते न त्वयाचितम् । याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतमिति । अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानादिवसादारभ्य यावद्विगुणं कालक्रमेण वृद्धिरित्यनेन वचनेनोच्यत इति तदप्यसत् । अस्यार्थस्यास्माद्वचनादप्रतीतेर्द्विगुणं प्रतिदातव्यमित्येतावदिह प्रतीयत । तस्मात्कालक्रममनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं वचनारम्भसामर्थ्यादिति सुष्ठूक्तम् ॥ ५६ ॥

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्तेऽपवादमाह

सन्ततिः स्त्रीपशुष्वेव धान्यं त्रिगुणमेव च ।
वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा ॥ ५७ ॥

हिरण्यद्वैगुण्यवत्कालानादरेणैव स्त्रीपश्वादयः प्रतिपादितवृद्ध्या दाप्याः । श्लोकस्तु व्याख्यात एव । यस्य द्रव्यस्य यावती वृद्धिः पराकाष्ठोक्ता तद्द्रव्यं प्रतिभूदत्तं खादकेन तया वृद्ध्या सह कालविशेषमनपेक्ष्य सद्यो दातव्यमिति तात्पर्यार्थः । यदा तु दर्शनप्रतिभूः संप्रतिपन्ने काले अधमर्णं दर्शयितुमसमर्थः तदा तद्गवेषणाय तस्य पक्षत्रयं दातव्यम् । तत्र यदि तं दर्शयति तदा मोक्तव्योऽन्यथा प्रस्तुतं धनं दाप्यः । नष्टस्यान्वेषणार्थं तु दाप्यं पक्षत्रयं परम् । यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत् । काले व्यतीते प्रतिभूर्यदि तंनैव दर्शयेत् । निबन्धं दापयेत्तत्तु प्रेते चैव विधिः स्मृत इति कात्यायनवचनात् । लग्नकविशेषनिषेधश्च तेनैवोक्तः न स्वामी न च वै शत्रुः स्वामिनाधिकृतस्तथा । निरुद्धो दण्डितश्चैव संदिग्धश्चैव न कचित् । नैव रिक्थी न मित्रं च न चैवात्यन्तवासिनः । राजकार्यनियुक्तश्च ये च प्रव्रजिता नराः । न शक्तो धनिने दातुं दण्डं राज्ञे च तत्समम् । जीवन्वापि पिता यस्य तथैवेच्छाप्रवर्तकः । नाविज्ञातो गृहीतव्यः प्रतिभूः स्वक्रियां प्रतीति । संदिग्धोऽभिशस्तः । अत्यन्तवासिनो नैष्ठिकब्रह्मचारिणः । इति प्रतिभूविधिः । धनप्रयोगे विश्वासहेतू द्वौ प्रतिभूराधिश्च । यथाह नारदः । विस्रम्भहेतू द्वावत्र प्रतिभूराधिरेव चेति । तत्र प्रतिभूर्निरूपितः । इदानीमाधिर्निरूप्यते आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णेऽधिक्रियते

आधिविधिः

आधीयत इत्यादिः । स च द्विविधः कृतकालोऽकृतकालश्च । पुनश्चैकैकशो द्विविधः गोप्यो भोग्यश्च । यथाह नारदः । अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः कृतकालोऽपनेयश्च यावद्देयोद्यतस्तथा । स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव चेति । कृते

नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृतादृते ॥ ५९ ॥

किंच गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन न वृद्धिर्भवति अल्पेऽप्युपभोगे महत्यपि वृद्धिर्हातव्या । समयातिक्रमात् । तथा सोपकारे उपकारे उपकारकारिणि बलीवर्दताम्रकटाहादौ भोग्याधौ सवृद्धिके हापिते हानिं व्यवहाराक्षमत्वं गमिते नो वृद्धिरिति संबन्धः । नष्टो विकृतिं गतः ताम्रकटाहादिश्छिद्रभेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा देयः । तत्र गोप्याधिर्नष्टश्चेत्पूर्ववत्कृत्वा देयः । उपभुक्तोऽपि चेद्वृद्धिरपि हातव्या । भोग्याधिर्यदि नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देयः । वृद्धिसद्भावे वृद्धिर्हातव्या । विनष्टः आत्यन्तिकं नाशं प्राप्तः सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण तद्दाने सवृद्धिकं मूल्यं लभते । यदा न ददाति तदा मूलनाशः । विनष्टे मूलनाशः स्याद्दैवराजकृतादृत इति नारदवचनात् । दैवराजकृतादृते दैवमग्न्युदकदेशोपप्लवादि । दैवकृताद्विनाशाद्विना । तथा स्वापराधरहिताद्राजकृतात् । दैवराजकृते तु विनाशे सवृद्धिकं मूल्यं दातव्यम् । अधमर्णेनाध्यन्तरं वा । यथाह । स्रोतसापहृते क्षेत्रे राज्ञा चैवापहारिते । आधिरन्योऽथ कर्तव्यो देयं वा धनिने धनमिति । तत्र स्रोतसापहृत इति दैवकृतोपलक्षणम् ॥ ५९ ॥

गोप्याधेर्भोगे वृद्धिर्न ।

आधिनाशे ।

तत्रापवादः ।

आधेः स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ।
यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत् ॥ ६० ॥

अपिच । आधेर्भोग्यस्य गोप्यस्य च स्वीकरणादुपभोगादाधिग्रहणसिद्धिः न साक्षिलेख्यमात्रेण नाप्युद्देशमात्रेण । यथाह नारदः । आधिस्तु द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा । सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथेति । अस्य च फलं आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरेति । स्वीकारान्तक्रिया पूर्वा बलवती । स्वीकाररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति । स चाधिः प्रयत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि कालवशेन यद्यसारतामविकृत एव सवृद्धिकमूल्यद्रव्यापर्याप्ततां गतस्तदाधिरन्यः कर्तव्यो धनिने धनं वा देयम् । रक्ष्यमाणोऽप्यसारतामिति वदताधिः प्रयत्नेन रक्षणीयो धनिनेति ज्ञापितम् ॥ ६० ॥

आधिसिद्धिः ।

आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे इत्यस्यापवादमाह

चरित्रबन्धककृतं सवृद्ध्या दापयेद्धनम् ।
सत्यङ्कारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत् ॥ ६१ ॥

चरित्रं शोभनचरितं चरित्रेण बन्धकं चरित्रबन्धकं तेन यद्द्रव्यमात्मसात्कृतं पराधीनं वा कृतम् । एतदुक्तं भवति धनिनः स्वच्छाशयत्वेन बहुमूल्यमपि द्रव्यमाधीकृत्याधमर्णेनाल्पमेव द्रव्यमात्मसात्कृतम् । यदि वाधमर्णस्य स्वच्छाशयत्वेनाल्पमूल्याधिं गृहीत्वा बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीनं कृतमिति । तद्धनं नृपो वृद्ध्या सह दापयेत् । अयमाशयः एवं रूपं बन्धकं द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये न नश्यति किंतु द्रव्यमेव द्विगुणं दातव्यमिति । तथा सत्यङ्कारकृतं करणं कारः । भावे

द्विगुणेधनेआधिर्नश्यतीत्यस्यापवादः ।

यदा प्रयुक्तं धनं स्वकृतया वृद्ध्या द्विगुणीभूतं तदाधौ कृते तदुत्पन्ने आध्युत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे धनिनः प्रविष्टे धनिनाधिर्मोक्तव्यः । यदि वादावेवाधौ दत्ते द्विगुणीभूते द्रव्ये त्वया धिर्मोक्तव्य इति परिभाषया कारणान्तरेण वा भोगाभावेन यदा द्विगुणीभूतमृणं तदाधौ भोगार्थधनिनि प्रविष्टे तदुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे सत्याधिर्मोक्तव्यः। अधिकोपभोगे तदपि देयम् । सर्वथा सवृद्धिकमूल्यापाकरणार्थाध्युपभोगविषयमिदं वचनम् । तमेनं क्षयाधिमाचक्षते लौकिकाः । यत्र तु वृद्ध्यर्थ एवाध्युपभोग इति परिभाषा तत्र द्वैगुण्यातिक्रमेऽपि यावन्मूल्यदानं तावदुपभुङ्क्त एवाधिम् । एतदेव स्पष्टीकृतं बृहस्पतिना ऋणी बन्धमवाप्नुयात् । फलभोग्यं पूर्णकालं दत्त्वा द्रव्यं तु सामकम् । यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्तदा न धनभाग्धनी । ऋणी च न लभेद्बन्धं परस्परमतं विनेति । अस्यार्थः। फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः बन्धक आधिः । सच द्विविधः सवृद्धिकमूल्यापाकरणार्थो वृद्धिमात्रार्थापाकरणार्थश्च । तत्र च सवृद्धिमूल्यापाकरणार्थं बन्धं पूर्णकालं पूर्णः कालो यस्यासौ पूर्णकालस्तमाप्नुयादृणी । यदा सवृद्धिकं मूल्यं फलद्वारेण धनिनः प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थः । वृद्धिमात्रापाकरणार्थं तु बन्धकं सामकं दत्वाप्नुयादृणी । समं मूल्यं सममेव सामकम् । अस्यापवादमाह यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्परस्परमतं विना तद्बन्धकं प्रकर्षितमतिशयितं वृद्धेरप्यधिकफलं यदि स्यात्तदा न धनभाग्धनी । सामकं न लभते धनी मूल्यमदत्वैवर्णी बन्धमाप्नुयादिति यावत् । अथ त्वप्रकर्षितं तद्बन्धकं वृद्धयेऽप्यपर्याप्तं यदा सामकं दत्वापि बन्धं न लभेताधमर्णः वृद्धिशेषमदत्वैव लभेतेत्यर्थः । पुनरुभयत्रापवादमाह । उत्तमर्णाधमर्णयोः परस्परानुमत्यभावे यदि प्रकर्षितमित्याद्युक्तं परस्परानुमतौ तूत्कृष्टमपि बन्धकं यावन्मूल्यदानं तावदुपभुङ्क्ते धनी निकृष्टमपि मूल्यमात्रदानेनैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

भोग्याधौविशेषमाह ।

इति ऋणादानप्रकरणम् ।

अथ उपनिधिप्रकरणम् ४

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

निक्षेपद्रव्यस्याधारभूतं द्रव्यान्तरं वासनं करण्डादि तत्स्थं वासनस्थं यद्द्रव्यं रूपसंख्यादिविशेषमनाख्याय अकथयित्वा मुद्रितमन्यस्य हस्ते रक्षणार्थं विस्रम्भादर्प्यते स्थाप्यते तद्द्रव्यमौपनिधिकमुच्यते । यथाह नारदः । असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधियते तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुरिति । प्रतिदेयं तथैव तत् यस्मिन् स्थापितं तेन यथैव पूर्वमुद्रादिचिह्नितमर्पितं तथैव स्थापकाय प्रतिदेयं प्रत्यर्पणीयम् ॥ ६५ ॥

उपनिधिप्रत्याह ।

अथ साक्षिप्रकरणम् ५

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितमित्युक्तम् तत्र भुक्तिर्निरूपिता सांप्रतं साक्षिस्वरूपं निरूप्यते । साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाच्च भवति । यथाह मनुः । (अ. ८. श्लो. ७४.) समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यतीति । स च द्विविधः कृतोऽकृतश्चेति । साक्षित्वेन निरूपितः कृतः अनिरूपितोऽकृतः । तत्र कृतः पञ्चविधोऽकृतश्च षड्विध इत्येकादशविधः । यथाह नारदः । एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । कृतः पञ्चविधो ज्ञेयः षड्विधोऽकृत उच्यत इति तेषां च भेदस्तेनैव दर्शितः । लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च । गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः स्मृत इति । लिखितादीनां च स्वरूपं कात्यायनेनोक्तम् । अर्थिना स्वयमानीतो यो लेख्ये संनिवेश्यते । स साक्षी लिखितो नाम स्मारितः पत्रकादृत इति । स्मारितः पत्राकादृत इत्यस्य विवरणं तेनैव कृतम् । यस्तु कार्यप्रसिद्ध्यर्थं दृष्ट्वा कार्यं पुनः पुनः । स्मार्यते ह्यर्थिना साक्षी स स्मारित इहोच्यत इति । यस्तु यदृच्छयागतः साक्षी क्रियते स यदृच्छाभिज्ञः । अनयोः पत्रानारूढत्वेऽपि भेदस्तेनैव दर्शितः । प्रयोजनार्थमानीतः प्रसङ्गादागतश्च यः । द्वौ साक्षिणौ त्वलिखितौ पूर्वपक्षस्य साधकाविति । तथा । अर्थिना स्वार्थसिद्ध्यर्थं प्रत्यर्थिवचनं स्फुटम् । यः श्रावितः स्थितो गूढो गूढसाक्षी स उच्यत इति । तथा । साक्षिणामपि यः साक्ष्यमुपर्युपरि भाषते । श्रवणाच्छ्रावणाद्वापि स साक्ष्युत्तरसंज्ञित इति । षड्विधस्याप्यकृतस्य भेदो नारदेन दर्शितः । ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् । कार्येष्वधिकृतो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः । कुल्याः कुलविवादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिण इति । प्राड्विवाकग्रहणं लेखकसभ्योपलक्षणार्थम् । लेखकः प्राड्विवाकश्च सभ्याश्चैवानुपूर्वशः । नृपे पश्यति तत्कार्यं साक्षिणः समुदाहृता इति ।

साक्षिस्वरूपम् ।

साक्षिभेदाः ।

तेषां पृथक् पृथग्लक्षणानि

तेऽपि साक्षिणः कीदृशाः कियन्तश्च भवन्तीत्यत आह

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ ६८ ॥
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ।
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६९ ॥

तपस्विनस्तपःशीलाः । दानशीला दाननिरताः । कुलीना महाकुलप्रसूताः । सत्यवादिनः सत्यवादनशीलाः । धर्मप्रधानाः नार्थकामप्रधानाः । ऋजवोऽकुटिलाः । पुत्रवन्तो विद्यमानपुत्राः । धनान्विता बहुसुवर्णादिधनयुक्ताः । श्रौतस्मार्तक्रियापराः नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरताः । एवंभूताः पुरुषा त्र्यवराः साक्षिणो भवन्ति । त्रयः अ-

साक्षिलक्षणानि ।

स्त्री प्रसिद्धा । बालोऽप्राप्तव्यवहारः । वृद्धोऽशीतिकावरः वृद्धग्रहणं वचननिषिद्धानामन्येषामपि श्रोत्रियादीनामुपलक्षणार्थम् । कितवोऽक्षदेवी । मत्तः पानादिना । उन्मत्तो ग्रहाविष्टः। अभिशस्तोऽभियुक्तो ब्रह्महत्यादिना । रङ्गावतारी चारणः। पाखण्डिनो निर्ग्रन्थप्रभृतयः । कूटकृत्कपटलेख्यादिकारी । विकलेन्द्रियः श्रोत्रादिरहितः । पतितो ब्रह्महादिः । आप्तः सुहृत् । अर्थसंबन्धी विप्रतिपद्यमानार्थसंबन्धी । सहाय एककार्यः । रिपुः शत्रुः तस्करः स्तेनः । साहसी स्वबलावष्टम्भकारी । दृष्टदोषो दृष्टवितथवचनः । निर्धूतो बन्धुमिस्त्यक्तः । आद्यशब्दादन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां दोषादसाक्षिणां भेदादसाक्षिणां स्वयमुक्तेर्मृतान्तरस्य च ग्रहणम् । एते स्त्रीबालादयः साक्षिणो न भवन्ति ॥७०॥७१॥

वर्ज्यसाक्षिणः ।

त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेया इत्यस्यापवादमाह

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ।

ज्ञानपूर्वकं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायी धर्मवित् स एकोऽप्युभयानुमतश्चेत्साक्षी भवति । अपिशब्दबलाद्द्वावपि । यद्यपि श्रौतस्मार्तक्रियापरा इति त्र्यवराणामपि धर्मवित्त्वं समानं तथापि तेषामुभयानुमत्यभावेऽपि साक्षित्वं भवत्येकस्य द्वयोर्वोभयानुमत्यैव साक्षित्वं भवतीत्यर्थवत् त्र्यवरग्रहणम् ।

एकसाक्षिविषये ।

तपस्विनो दानशीला इत्यस्यापवादमाह

सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ ७२ ॥

संग्रहणादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि तेषु सर्वे वचननिषिद्धास्तपःप्रभृतिगुणरहिताश्च साक्षिणो भवन्ति । दोषादसाक्षिणो भेदादसाक्षिणः स्वयमुक्तिश्चात्रापि साक्षिणो न भवन्ति । सत्यवादित्वहेतोरत्रापि विद्यमानत्वात् । मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् । पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधमिति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्षं क्रियमाणानां साहसत्वम् । रहसि क्रियमाणानां तु संग्रहणादिशब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसात्पृथगुपादानम् ॥ ७२ ॥

चौर्यादिषु वर्ज्यसाक्षिणोऽपि ग्राह्याः ।

साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ।

अर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ साक्षिणः समवेतान् । नासमवेताः पृष्टाः प्रब्रूयुरिति गौतमवचनात् । वक्ष्यमाणं श्रावयेत् । तत्रापि कात्यायनेन विशेषो दर्शितः । सभान्तःसाक्षिणः सर्वानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राड्विवाको नियुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥ देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् । आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम् । समस्तान् विदिताचारान् विज्ञातार्थान्पृथक्पृथगिति । तथा ब्राह्मणादिषु श्रावणे मनुना नियमो दर्शितः । (अ. ८ श्लो. ११३)

साक्षिश्रावणमाह

यः साक्ष्यमङ्गीकृत्य श्रावितः सन् कथं चिन्न वदति स राज्ञा सर्वं सवृद्धिकमृणं धनिने दाप्यः। सदशबन्धकं दशमांशसहितं दशमांशश्च राज्ञो भवति। राज्ञाधमर्णिको दाप्यः साधिताद्दशकं शतमित्युक्तत्वात्। एतच्च षट्चत्वारिंशकेऽहनि प्राप्ते वेदितव्यम्। ततोऽर्वाग्वदन्न दाप्यः। इदं च व्याध्याद्युपप्लवरहितस्य। यथाह मनुः। (अ. ८ श्लो. १०७) त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः। तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वश इति। अगद इति राजदैवोपप्लवविरहोपलक्षणम् ॥ ७६ ॥

साक्ष्यादानेऽऋणं देयम्।

यस्तु जानन्नपि साक्ष्यमेव नाङ्गीकरोति दौरात्म्यात्तं प्रत्याह

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७७ ॥

यः पुनर्नराधमो विप्रतिपन्नमर्थं विशेषतो जानन्नपि साक्ष्यं न ददाति। नाङ्गीकरोति स कूटसाक्षिणां तुल्यः पापैः कृत्वा दण्डेन च। कूटसाक्षिणां च दण्डं वक्ष्यति। कूटसाक्षिणश्च दण्डयित्वा पुनर्व्यवहारः प्रवर्तनीयः। कृतोऽपि वा कौटसाक्ष्ये विदिते निवर्तनीयः। यथाह मनुः (अ. ८ श्लो. ११७) यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्। तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेदिति ॥ ७७ ॥

साक्ष्यादानेदण्डः।

साक्षिविप्रतिपत्तौ कथं निर्णय इत्यत आह

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ ७८ ॥

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ बहूनां वचनं ग्राह्यम्। समेषु समसंख्येषु द्वैधे ये गुणिनस्तेषां वचनं प्रमाणम्। यदा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा ये गुणवत्तमाः श्रुताध्ययनतदर्थानुष्ठानधनपुत्रादिगुणसंपन्नास्तेषां वचनं ग्राह्यम्। यत्र तु गुणिनः कतिपये इतरे च बहवस्तत्रापि गुणिनामेव वचनं ग्राह्यम्। उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मविदिति गुणातिशयस्य मुख्यत्वात् यत्तु भेदादसाक्षिण इत्युक्तं तत्सर्वसाम्येनागृह्यमाणविशेषविषयम् ॥ ७८ ॥

साक्षिणांविप्रतिपत्तौनिर्णयः।

साक्षिभिश्च कथमुक्ते जयः कथं वा पराजय इत्यत आह

यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः ॥ ७९ ॥

यस्य वादिनः प्रतिज्ञां द्रव्यजातिसंख्यादिविशिष्टां साक्षिणः सत्यां वदन्ति सत्यमेवं जानीमो वयमिति स जयी भवति। यस्य पुनर्वादिनः प्रतिज्ञामन्यथा वैपरीत्येन मिथ्यैतदिति वदन्ति तस्य पराजयो ध्रुवो निश्चितः। यत्र तु प्रतिज्ञातार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावौ साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति तत्र प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः न च राज्ञा साक्षिणः पुनः पुनः प्रष्टव्याः। स्वभावोक्तमेव वचनं ग्राह्यम्। यथाह।

साक्षिद्वाराजयपराजयौ।

अपि तथाविधा एव साक्षिणो ग्राह्या न दिव्यम् । संभवे साक्षिणां प्राज्ञो वर्जयेद्दैविकीं क्रियामिति स्मरणात् । तेषामसंभवे दिव्यं प्रमाणं कर्तव्यम् । अतःपरमपरितुष्यताप्यर्थिना न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयम् । मनुवचनादिति परिसमापनीयो व्यवहारः । यत्र तु प्रत्यर्थिनः स्वप्रत्ययविसंवादित्वेन साक्षिवचनस्याप्रामाण्यं मन्यमानस्य साक्षिषु दोषारोपणेनापरितोषस्तत्र प्रत्यर्थिनः क्रियोपन्यासावसराभावात्सप्ताहावधिकदैविकराजिकव्यसनोद्भवेन साक्षिपरीक्षणं कर्तव्यम् । तत्र च दोषावधारणे विवादास्पदीभूतमृणं दाप्याः । सारानुसारेण दण्डनीयाश्च । अथ दोषावधारणं तदा प्रत्यर्थिना तावता संतोष्टव्यम् । यथाह मनुः । (अ. ८ श्लो. १०८) यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च स इति । एतच्च यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेदित्यस्यापरितुष्यत्प्रत्यर्थिविषयेऽपवादो द्रष्टव्यः । केचिदुक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये इत्येतद्वचनमर्थिना निर्दिष्टेषु साक्षिष्वर्थ्यनुकूलमभिहितवत्सु यदि प्रत्यर्थी गुणवत्तमान् द्विगुणान्वान्यान् साक्षिणः पूर्वोक्तविपरीतं संवादयति तदा पूर्ववादिनः साक्षिणः कूटा इति व्याचक्षते । तदसत् । प्रत्यर्थिनः क्रियानुपपत्तेः । तथा हि । अर्थीनाम साध्यस्यार्थस्य निर्देष्टा तत्प्रतिपक्षतद्भाववादी प्रत्यर्थी तत्राभावस्य भावसिद्धिसापेक्षसिद्धित्वाद्भावस्य वा भावानिरपेक्षसिद्धित्वाद्भावस्यैव साध्यत्वं युक्तम् । अभावस्वरूपेण साक्ष्यादिप्रमेयत्वाभावात् । अतश्चार्थिन एव क्रिया युक्ता । अपि चोत्तरानुसारेण सर्वत्रैव क्रिया नियता स्मर्यते । प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् । मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेदिति । न चैकस्मिन्व्यवहारे द्वयोः क्रिया । न चैकस्मिन्विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोरिति स्मरणात् । तस्मात्प्रतिवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमाद्विगुणावान्यथा ब्रूयुरित्यनुपपन्नम् । अथ मतम् । द्वावपि भावप्रतिज्ञावादिनौ मदीयमिदं दायादप्राप्तं मदीयमिदं दायादप्राप्तमिति प्रतिज्ञावादिनोः पूर्वापरकालविभागानाकलितमेव वदतस्तत्र द्वयोः साक्षिषु सत्सु कस्य साक्षिणो ग्राह्या इत्याकांक्षायां द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिण इति वचनेन यः पूर्वं निवेदयति तस्य साक्षिणो ग्राह्या इति स्थिते तस्यापवादमाह । उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये इति अतश्च पूर्वोत्तरयोर्वादिनोः समसंख्येषु समगुणेषु साक्षिषु सत्सु पूर्ववादिन एव साक्षिणः प्रष्टव्याः । यदा तु उत्तरवादिनःसाक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वा तदा प्रतिवादिनः साक्षिणः प्रष्टव्याः । एवं च नाभावस्य साध्यता उभयोरपि भाववादित्वाच्चतुर्विधोत्तरविलक्षणत्वाच्च प्रकृतोदाहरणे न क्रियाव्यवस्था । एकस्मिन्व्यवहारे यथैकस्यार्थिनः क्रियाद्वयं परमते तथा वादिप्रतिवादिनोः क्रियाद्वयेऽप्यविरोध इति तदप्याचार्यो नानुमन्यते । उक्तेपि साक्षिभिः साक्ष्ये इत्यपिशब्दादर्थात्प्रकरणाद्वार्थस्यानवगमादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८० ॥

कूटसाक्षिणो दर्शितास्तेषां दण्डमाह

पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा ।

यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः ।
स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ८२ ॥

अपि च यस्तु साक्षित्वमङ्गीकृत्यान्यैः साक्षिभिः सह साक्ष्यं श्रावितः सन्निगदनकाले तमोवृतो रागाद्याक्रान्तचित्तस्तत्साक्ष्यमन्येभ्यः साक्षिभ्यो निह्नुते नाहमत्र साक्षी भवामीति स विवादपराजये यो दण्डस्तं दण्डमष्टगुणं दाप्यः। ब्राह्मणं पुनरष्टगुणद्रव्यदण्डदानासमर्थं विवासयेत्। विवासनं च नग्नीकरणगृहभङ्गदेशनिर्वासनलक्षणं विषयानुसारेण द्रष्टव्यम्। इतरेषां त्वष्टगुणद्रव्यदण्डासंभवे स्वजात्युचितकर्मकरणनिगडबन्धनकारागृहप्रवेशादि द्रष्टव्यम्। एतच्च पूर्वश्लोकेऽप्यनुसर्तव्यम्। यदा सर्वे साक्ष्यं निह्नुवते तदा सर्वे समानदोषाः। यदा तु साक्ष्यमुक्त्वा पुनरन्यथा वदन्ति तदानुबन्धाद्यपेक्षया दण्ड्याः। यथाह कात्यायनः। उक्त्वान्यथा ब्रुवाणाश्च दण्ड्याः स्युर्वाक्छलान्विता इति। न चान्येनोक्ताः साक्षिणोऽन्येन रहस्यनुसर्तव्याः। यथाह नारदः। न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिणं रहः। भेदयेन्नैव चान्येन हीयेतैवं समाचरन्निति ॥ ८२ ॥

जानतःसाक्ष्यानङ्गीकारेदण्डः।

साक्षिणामवचनमसत्यवचनं च सर्वत्र प्रतिषिद्धं तदपवादार्थमाह

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् ।

यत्र वर्णिनां शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां सत्यवचनेन वधः संभाव्यते तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् सत्यं न वदेत्। अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वप्रतिषिद्धमसत्यवचनमवचनं चाभ्यनुज्ञायते। यत्र शङ्काभियोगादौ सत्यवचने वर्णिनोऽवधोऽनृतवचने न कस्यापि वधस्तत्रानृतवचनमभ्यनुज्ञायते। यत्र तु सत्यवचनेऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्य वधोऽसत्यवचने चान्यतरस्य वधस्तत्र तूष्णींभावाभ्यनुज्ञा राजा यद्यनुमन्यते। अथ राजा कथमप्यकथने न मुञ्चति तदा भेदादसाक्षित्वं कर्तव्यम्। तस्याप्यसंभवे सत्यमेव वेदितव्यम्। असत्यवचनेन वर्णिवधदोषोऽसत्यवचनदोषश्च। सत्यवचने तु वर्णिवधदोष एव। तत्र च यथाशास्त्रं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्।

क्वचित्साक्षिणोऽनृतवचनानुज्ञामाह।

तर्ह्यसत्यवचने तूष्णींभावे च शास्त्राभ्यनुज्ञया प्रत्यवायाभाव इत्यत आह

तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ ८३ ॥

तत्पावनाय अनृतवचनावचननिमित्तप्रत्यवायपरिहाराय सारस्वतश्चरुर्द्विजैरेकैकशो निर्वाप्यः कर्तव्यः। सरस्वती देवता अस्येति सारस्वतः। अनवस्रावितान्तरूष्मपक्वौदने चरुशब्दः प्रसिद्धः। इहायमभिसन्धिः। साक्षिणामनृतवचनमवचनं च यन्निषिद्धं तदिहाभ्यनुज्ञातम्। यत्तु नानृतं वदेदब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषीति च सामान्येनानृतवचनमवचनं च निषिद्धं तदतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तं न च मन्तव्यम्। साक्षिणामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानेऽपि साधारणानृतवचनावचनप्रतिषेधा-

अनृतवचनेप्रायश्चित्तम्।

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् ।
मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम्॥ ८६ ॥

किंच धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थः स्वरुच्या व्यवस्थितस्तस्मिन्नर्थे समाप्ते लिखिते ऋणी अधमर्णो नामात्मीयं स्वहस्तेनास्मिंल्लेख्ये यदुपरि लेखितं तन्ममामुकपुत्रस्य मतमभिप्रेतमिति निवेशयेत्पत्रे लिखेत् ॥ ८६ ॥

अधमर्णस्यसम्मतिः ।

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम् ।
अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः ॥ ८७ ॥

तथा तस्मिंल्लेख्ये ये साक्षिणो लिखितास्तेप्यात्मीयपितृनामलेखनपूर्वकमस्मिन्नर्थेऽयममुको देवदत्तः साक्षीति स्वहस्तेनैकैकशो लिखेयुः । तेच समाः संख्यातो गुणतश्च कर्तव्याः। यद्यधमर्णः साक्षी वा लिपिज्ञो न भवति तदाधमर्णोऽन्येन साक्षी च साक्ष्यन्तरेण सर्वसाक्षिसन्निधौ स्वमतं लेखयेत् । यथाह नारदः । अलिपिज्ञऋणी यः स्यात्स्वमतं तु स लेखयेत् । साक्षी वा साक्षिणान्येन सर्वसाक्षिसमीपत इति ॥ ८७ ॥

उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना ।
लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ ८८ ॥

किंच। ततो लेखको धनिकाधमर्णिकाभ्यामुभाभ्यां प्रार्थितेन मयामुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतल्लेख्यं लिखितमित्यन्ते लिखेत् ॥ ८८ ॥

लेखकसम्मतिः ।

विना तु साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् ।
तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बलोपधिकृतादृते ॥ ८९ ॥

यल्लेख्यं स्वहस्तेन लिखितमधमर्णेन तत्साक्षिभिर्विनापि प्रमाणं स्मृतं मन्वादिभिः । बलोपधिकृतादृते बलेन बलात्कारेण उपधिना छललोभक्रोधभयमदादिलक्षणेन यत्कृतं तस्माद्विना । नारदोऽप्याह मत्ताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च यत्। तदप्रमाणं लिखितं भयोपधिकृतं तथेति । तच्चैतत्स्वहस्तकृतं परहस्तकृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावन्न पुनः साधुशब्दैरेव प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम् । यथाह नारदः । देशाचाराविरुद्धं यद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरमिति । विधानं विधिः आधेर्विधिराधिविधिराधिराधीकरणं तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमित्यादि तद्व्यक्तं विस्पष्टं यस्मिंस्तद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । अविलुप्तक्रमा-

साम्प्रतंस्वकृतं लेख्यमाह ।

क्वचिदसमा इति अकारप्रश्लेषः ।

वस्थिते नष्टे वा पत्रे साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णयः कार्यः। यथाह नारदः। लेख्ये देशान्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लिखिते हृते। सतस्तत्कालकरणमसतोद्रष्टृदर्शनमिति। सतो विद्यमानस्य पत्रस्य देशान्तरस्थस्यानयनाय कालकरणं कालावधिर्दातव्यः। असतः पुनरविद्यमानस्य पूर्वं ये द्रष्टारः साक्षिणस्तैर्दर्शनं व्यवहारे परिसमापनं कार्यम्। यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिव्येन निर्णयः कार्यः। अलेख्यसाक्षिके दैवीं व्यवहारे विनिर्दिशेदिति स्मरणात्। एतच्च जानपदं व्यवस्थापत्रम्। राजकीयमपि व्यवस्थापत्रमीदृशमेव भवति इयांस्तु विशेषः। राज्ञः स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा। राजकीयं स्मृतं लेख्यं सर्वेष्वर्थेषु साक्षिमदिति। तथान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वृद्धवसिष्ठेनोक्तम्। यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम्। सावधारणकं चैव जयपत्रकमिष्यते। प्राड्विवाकादिहस्ताङ्कं मुद्रितं राजमुद्रया। सिद्धेऽर्थे वादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकमिति। तथा सभासदोपि दत्तं मेऽमुकपुत्रस्येति स्वहस्तं दद्युः। सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः। यथा लेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं दद्युरेव त इति मनुस्मरणात्। सभासदां च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण न व्यवहारो निःशल्यो भवति। यथाह नारदः। यत्र सभ्यो जनः सर्वः साध्वेतदिति मन्यते। स निःशल्यो विवादः स्यात्सशल्यस्त्वन्यथा भवेदिति। एतच्चतुष्पाद्व्यवहार एव। साधयेत्साध्यमर्थं यच्चतुष्पादान्वितं च यत्। राजमुद्रान्वितं चैव जयपत्रकमिष्यत इति स्मरणात्। यत्र तु हीनता यथा। अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः। आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृत इति। तत्र न जयपत्रकमस्ति अपि तु हीनपत्रकमेव। तच्च कालान्तरे दण्डप्राप्त्यर्थम्। जयपत्रं तु प्राड्न्यायविधिसिद्ध्यर्थमिति विशेषः॥ ९१॥

सन्दिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः।
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः॥ ९२॥

शुद्धमशुद्धं वेति सन्दिग्धस्य लेख्यस्य शुद्धिः स्वहस्तलिखितादिभिः स्यात्। स्वहस्तेन लिखितं यल्लेख्यान्तरं तेन शुद्धिः। यदि सदृशान्यक्षराणि भवन्ति तदा शुद्धिः स्यादित्यर्थः। आदिशब्दात्साक्षिलेखकस्वहस्तलिखितान्तरसंवादाच्छुद्धिरिति। युक्त्या प्राप्तिर्युक्तिप्राप्तिः। देशकालपुरुषाणां द्रव्येण सह संबन्धः प्राप्तिः। अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽस्य पुरुषस्येदं द्रव्यं घटत इति युक्तिः। क्रिया तत्साक्ष्युपन्यासः। चिह्नमसाधारणं श्रीकारादि। संबन्धः अर्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानग्रहणादिसंबन्धः। आगमोऽस्यैतावतोऽर्थस्य संभावितः प्राप्त्युपायः। एते एव हेतवः एभिर्हेतुभिः सन्दिग्धलेख्यशुद्धिः स्यादित्यन्वयः। यदा तु लेख्यसन्देहे निर्णयो न जायते तदा साक्षिभिर्निर्णयः कार्यः। यथाह कात्यायनः। दूषिते पत्रके वादी तदारूढांस्तु निर्दिशेदिति। साक्षिसं-

लेख्यसन्देहेनिर्णयनिमित्तान्याह।

अन्यत्रान्यान्यपि तण्डुलादीनि दिव्यानि सन्ति । धटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशस्तथैव च । तण्डुलाश्चैव दिव्यानि सप्तमस्तप्तमाषक इति पितामहस्मरणात् । अतः कथमेव तावन्त्येवेत्यत आह

महाभियोगेष्वेतानि

एतानि महाभियोगेष्वेव नान्यत्रेति नियम्यते न पुनरिमान्येव दिव्यानीति । महत्वावधिं च वक्ष्यति । नन्वल्पाभियोगेऽपि कोश इष्यते । कोशमल्पेऽपि दापयेदिति स्मरणात् । सत्यम् । कोशस्य तुलादिषु पाठो न महाभियोगेष्वेवेति नियमार्थः । किंतु सावष्टम्भाभियोगेऽपि प्राप्त्यर्थः । अन्यथा शङ्काभियोग एव स्यात् । अवष्टम्भाभियुक्तानां धटादीनि विनिर्दिशेत् । तण्डुलाश्चैव कोशश्च शङ्कास्वेव न संशय इति स्मरणात् ॥

महाभियोगेषु शङ्कितेषु सावष्टम्भेषु चाविशेषेण प्राप्तावपवादमाह

शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥ ९५ ॥

एतानि तुलादीन्यभियोक्तरि शीर्षकस्थेऽभियुक्तस्य भवन्ति । शीर्षकं शिरः । व्यवहारस्य चतुर्थः पादो जयपराजयलक्षणस्तेन च दण्डो लक्ष्यते । तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थः तत्प्रयुक्तदण्डभागित्यर्थः ॥ ९९ ॥

ततोर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनमिति भावप्रतिज्ञावादिन एव क्रियाव्यवस्था दर्शिता तदपवादार्थमाह

रुच्या वान्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।

रुच्याभियोक्त्रभियुक्तयोः परस्परसंप्रतिपत्त्यान्यतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यं कुर्यादितरोऽभियुक्तः अभियोक्ता वा शिरःशारीरमर्थदण्डं वा वर्तयेदङ्गीकुर्यात् । अयमभिसन्धिः । न मानुषप्रमाणवद्दिव्यं प्रमाणं भावैकगोचरं अपितु भावाभावविशेषेण गोचरयति । अतश्च मिथ्योत्तरे प्रत्यवस्कन्दने प्राङ्न्याये वार्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरेच्छया दिव्यं भवतीति ॥

अल्पाभियोगे महाभियोगे शङ्कासावष्टम्भयोरप्यविशेषेण कोशो भवतीत्युक्त तुलादीनि विषान्तानि तु महाभियोगेष्वेव सावष्टम्भेष्वेवेति च नियमो दर्शितः । तत्रावष्टम्भाभियोगेष्वेवेत्यस्यापवादमाह

विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके ॥ ९६ ॥

राजद्रोहाभिशङ्कायां ब्रह्महत्यादिपातकाभिशङ्कायां च शिरःस्थायिना विनापि तुलादीनि कुर्यात् । महाचौर्याभिशङ्कायां च । यथाह । राजभिः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दस्युभिः । आत्मशुद्धिपराणां च दिव्यं देयं शिरो विनेति । तण्डुलाः पुनरल्पचौर्यशङ्कायामेव । चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चय इति पितामहवचनात् ॥ तप्तमाषस्तु महाचौर्याभिशङ्कायामेव । चौर्यशङ्काभियुक्तानां तप्तमाषो विधीयत इति स्मरणात् ॥ अन्ये पुनः शपथा अल्पार्थविषयाः । सत्यवाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च । स्पृशेच्छिरांसि पुत्राणां दाराणां सुहृदां तथा ॥ अभियोगेषु सर्वेषु कोशपानमथापि वा । इत्येते शपथाः प्रोक्ता मनुना स्वल्पकारण इति नारदादिस्मरणात् ॥ यद्यपि मानुषप्रमाणानिर्णेयस्य निर्णायकं यत्तद्दिव्यमिति लोकप्रसिद्ध्या शपथानामपि दिव्यत्वं तथापि कालान्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन समनन्तरनिर्णयनिमित्तेभ्यो धटा-

रणामासा दिव्यानामविरोधिनः। कोशस्तु सर्वदा देयस्तुला स्यात्सार्वकालिकीति । कोशग्रहणं सर्वशपथानामुपलक्षणम्। तण्डुलानां पुनर्विशेषानभिधानात्सार्वकालिकत्वम्। प्रतिषेधमुखोऽपि न शीते तोयसिद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् । न प्रावृषि विषं दद्यात्प्रवाते न तुलां तथा। नापराह्णे न सन्ध्यायां न मध्याह्ने कदाचनेति । न शीते तोयशुद्धिः स्यादित्यत्र शीतशब्देन हेमन्तशिशिरवर्षाणां ग्रहणम् । नोष्णकालेऽग्निशोधनमित्यत्रोष्णकालशब्देन ग्रीष्मशरदोर्विधानलब्धस्यापि पुनर्निषेध आदरार्थः। प्रयोजनं तु वक्ष्यते॥९७॥

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम्।
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा॥ ९८॥

स्त्री स्त्रीमात्रं जातिवयोवस्थाविशेषानादरेण। बाल आषोडशाद्वर्षाज्जातिविशेषानादरेण। वृद्धोऽशीतिकावरः। अन्धो नेत्रविकलः। पङ्गुः पादविकलः। ब्राह्मणो जातिमात्रम्। रोगी व्याधितः। एतेषां शोधनार्थं तुलैवेति नियम्यते। अग्निः फालस्तप्तमाषश्च क्षत्रियस्य। जलमेव वैश्यस्य। वाशब्दोऽवधारणे। विषस्य यवा उक्तपरिमाणाः सप्तैव शूद्रस्य शोधनार्थं भवन्ति। ब्राह्मणस्य तुलाविधानात् शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वेति विषविधानादग्निर्जलं वेति क्षत्रियवैश्यविषयमुक्तम्। एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन। ब्राह्मणस्य धटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः। वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेदिति। यत्तु स्त्र्यादीनां दिव्याभावस्मरणम्। सव्रतानां भृशार्तानां व्याधितानां तपस्विनाम्। स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धर्मस्त्वपेक्षित इति तद्रुच्या वान्यतरः कुर्यादिति विकल्पनिवृत्त्यर्थम्। एतदुक्तं भवति । अवष्टम्भाभियोगेषु स्त्र्यादीनामभियोक्तृत्वेऽभियोज्यानामेव दिव्यमेतेषामभियोज्यत्वेऽप्यभियोक्तॄणामेव दिव्यम् । परस्पराभियोगे तु विकल्प एव। तत्रापि तुलैवेत्यनेन वचनेन नियम्यते। तथा महापातकादिशङ्काभियोगे स्त्र्यादीनां तुलैवेति। एतच्च वचनं सर्वदिव्यसाधारणेषु मार्गशिरश्चैत्रवैशाखेषु स्त्र्यादीनां सर्वदिव्यसमवधाने नियामकतयार्थवत् । न च सार्वकालं स्त्रीणां तुलैवेति । स्त्रीणां च न विषं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम्। धटकोशादिभिस्तासामन्तस्तत्त्वं विचारयेदिति विषसलिलव्यतिरिक्तधटकोशाग्न्यादिभिः शुद्धिविधानात् । एवं बालादिष्वपि योजनीयम् । यथा ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनियमः । सर्वेषामेव वर्णानां कोशशुद्धिर्विधीयते। सर्वाण्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विषं विनेति पितामहवचनात् । तस्मात्साधारणे काले बहुदिव्यसमवधाने तुलादिनियमार्थमेवेदं वचनम् । कालान्तरे तु तत्तत्कालविहितं सर्वेषाम्। तथाहि। वर्षास्वग्निरेव सर्वेषाम्। हेमन्तशिशिरयोस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्निविषयोर्विकल्पः। ब्राह्मणस्य त्वग्निरेव न कदाचिद्विषम्। ब्राह्मणस्य विषं विनेति प्रतिषेधात्। ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव। येषां तु व्याधिविशेषेणाग्न्यादिनिषेधः कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं श्वासकासि-

अधिकारिव्यवस्थामाह।

प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वावतारितः ॥ १०० ॥
त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता ।
तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय ॥ १०१ ॥
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय ।
शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥ १०२ ॥

तुलाया धारणं तोलनं ये विदन्ति सुवर्णकारप्रभृतयः तैः प्रतिमानेन मृदादिना समीभूतः समीकृतस्तुलामाश्रितोऽधिरूढोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यकारी रेखां कृत्वा येन सन्निवेशेन प्रतिमानसमीकरणदशायां शिक्यतलेऽवस्थितस्तस्मिन् पाण्डुलेख्येनाङ्कयित्वावतारितस्तुलामभिमन्त्रयेत् प्रार्थयेतानेन मन्त्रेण। हे तुले त्वं सत्यस्य स्थानमसि । पुरा आदिसृष्टौ देवैर्हिरण्यगर्भप्रभृतिभिर्विनिर्मितोत्पादिता । तत्तस्मात्सत्यं संदिग्धस्यार्थस्य स्वरूपं वद दर्शय । कल्याणि शोभने अस्मात्संशयान्मां विमोचय । हे मातः यद्यहं पापकृदसत्यवाद्यस्मि ततो मां त्वमधो नय। अथ शुद्धः सत्यवाद्यस्मि ततो मामूर्ध्वं गमयेति । प्राड्विवाकस्य तुलाभिमन्त्रणमन्त्रः स्मृत्यन्तरोक्तः। अयं तु दिव्यकारिणः । जयपराजयलक्षणं तु मन्त्रलिङ्गादेवावगम्यत इति न पृथगुक्तम् । धटनिर्माणं पुनरारोहणाद्यर्थसिद्धमेव पितामहनारदादिभिः स्पष्टीकृतम् । तद्यथा । छित्वा तु यज्ञियं वृक्षं यूपवमन्त्रपूर्वकम् । प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या मनीषिभिः । मन्त्रः सौम्यो वानस्पत्यच्छेदने जप्य एव च । चतुरस्रा तुला कार्या दृष्टा ऋज्वी तथैव च । कटकानि च देयानि त्रिषु स्थानेषु चार्थवत् । चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तत्समौ । प्रान्तरं तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्धमेव वा । हस्तद्वयं निखेयं[1] तु पादयोरुभयोरपि । तोरणे च तथा कार्ये पार्श्वयोरुभयोरपि । धटादुच्चतरे स्यातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः । अवलम्बौ च कर्तव्यौ तोरणाभ्यामधोमुखौ। मृन्मयौ सूत्रसंबद्धौ धटमस्तकचुम्बिनौ । प्राङ्मुखो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे धटस्तथा । शिक्यद्वयं समासज्य पार्श्वयोरुभयोरपि । प्राङ्मुखान्कल्पयेद्दर्भान् शिक्ययोरुभयोरपि । पश्चिमे तोलयेत्कर्तॄनन्यस्मिन्मृत्तिकां शुभाम् । पिटकं पूरयेत्तस्मिन्निष्टकाग्रावपांसुभिः । अत्र च मृत्तिकेष्टकाग्रावपांसूनां विकल्पः । परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदाः । वणिजो हेमकाराश्च कांस्यकारास्तथैव च । कार्यः परीक्षकैर्नित्यमवलम्बसमो धटः । उदकं च प्रदातव्यं धटस्योपरि पण्डितैः । यस्मिन्न प्लवते तोयं स विज्ञेयः समो धटः । तोलयित्वा नरं पूर्वं पश्चात्तमवतार्य तु । धटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् । तत आवाहयेद्देवान् विधिनानेन मन्त्रवित् । वादित्रतुर्यघोषैश्च गन्धमाल्यानुलेपनैः । प्राङ्मुखः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्राड्विवाकस्ततो वदेत् । एह्येहि भगवन्धर्म ह्यस्मिन् दिव्ये समाविश । सहितो लोकपालैश्च वस्वादि-

धटादिदिव्यप्रयोग. ।

1 हस्तद्वयं निधेयमिति पाठान्तरम् ।

त्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् । एतच्च धर्मावाहनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिव्यसाधारणम् । यथोक्तम् । इमं मन्त्रविधिं कृत्स्नं सर्वदिव्येषु योजयेत् । आवाहनं च देवानां तथैव परिकल्पयेदिति । अनन्तरं प्राड्विवाको घटमामन्त्रयेत् । घटमामन्त्रयेच्चैव विधिनानेन शास्त्रविदिति स्मरणात् । मन्त्राश्च दर्शिताः । त्वं घट ब्रह्मणा सृष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् । धकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलं नरम् । धृतो भावयसे यस्माद्धटस्तेनाभिधीयसे । त्वं वेत्सि सर्वजन्तूनां पापानि सुकृतानि च । त्वमेव देव जानीषे न विदुर्यानि मानवाः । व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः शुद्धिमिच्छति । तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसीति । शोध्यस्तु त्वं तुले इत्यादिना पूर्वोक्तेन मन्त्रेण तुलामामन्त्रयेत् । अनन्तरं प्राड्विवाकः शिरोगतपत्रकं शोध्य यथास्थानं निवेश्य च घटमारोपयति । पुनरारोपयेत्तस्मिन् स्थित्वावस्थितपत्रकमिति स्मरणात् । आरोपितं च विनाडीपञ्चकं यावत्तथैवावस्थापयेत् । तत्कालपरीक्षां च ज्योतिःशास्त्राभिज्ञः कुर्यात् । ज्योतिर्विद्ब्राह्मणः श्रेष्ठः कुर्यात्कालपरीक्षणम् । विनाड्यः पञ्च विज्ञेयाः परीक्षाकालकोविदैरिति स्मरणात् । दशगुर्वक्षरोच्चारणकालः प्राणः । षट्प्राणा विनाडी । उक्तं च । दशगुरुवर्णैः प्राणः षट् प्राणाः स्याद्विनाडिका तासाम् । षष्ट्या घटी घटीनां षष्ट्याहोरात्र उक्तश्च । खाग्निभिर्दिनैर्मास इति । तस्मिंश्च काले शुद्ध्यशुद्धिपरीक्षणार्थं शुचयः पुरुषा राज्ञा नियोक्तव्याः । ते च शुद्ध्यशुद्धी कथयन्ति । यथोक्तं पितामहेन । साक्षिणां ब्राह्मणः श्रेष्ठा यथादृष्टार्थवादिनः । ज्ञानिनः शुचयोऽलुब्धा नियोक्तव्या नृपेण तु । शंसन्ति साक्षिणः श्रेष्ठाः शुद्ध्यशुद्धी नृपे तदेति । शुद्ध्यशुद्धिर्निर्णयकारणं चोक्तम् । तुलितो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः । समो वा हीयमानो । स शुद्धो भवेन्नर इति । यत्तु पितामहवचनम् । अल्पदोषः समो ज्ञेयो बहुदोषस्तु यत इति । तत्र यद्यभियुक्तस्यार्थस्यालपत्वं बहुत्वं च न दिव्येनावधारयितुं शक्यते तथापि सकृदमतिपूर्वत्वेनालपत्वमसकृन्मतिपूर्वत्वेन च महत्त्वमिति दण्डप्रायश्चित्तालपत्वमहत्त्वमवधार्यते । यदा चानुपलक्ष्यमाणदृष्टकारण एव कक्षादीनां छेदो भङ्गो वा भवति तदाप्यशुद्धिरेव । कक्षच्छेदे तुलाभङ्गे घटकर्कटयोस्तथा । रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे वा तथैवाशुद्धिमादिशेदिति स्मरणात् । कक्षं शिक्यतलम् । कर्कटौ तुलान्तयोः शिक्याधारावीषद्वक्रावायसकीलकौ कर्कटशृङ्गसन्निभौ । अक्षः पादस्तम्भयोरुपरि निविष्टस्तुलाधारपट्टः । यदातु दृश्यमानकारणक एषां भङ्गस्तदा पुनरारोपयेत् । शिक्यादिच्छेदभङ्गेषु पुनरारोपयेन्नरमिति स्मरणात् । ततश्च ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्दक्षिणाभिश्च तोषयेत् । एवं कारयिता राजा भुक्त्वा भोगान्मनोरमान् । महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते । यदा तूक्तलक्षणं घटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा वायसाद्युपघातनिरासार्थं कपाटादिसहितां शालां कुर्यात् । विशालामुन्नतां शुभ्रां घटशालां तु कारयेत् । यत्रस्था नोपहन्येत श्वभिश्चाण्डालवायसैः । तत्रैव लोकपालादीन् सर्वान् दिक्षु निवेशयेत् । त्रिसन्ध्यं पूजयेदेतान् गन्धमाल्यानुलेपनैः । कपाटबीजसंयुक्तां परिचारकरक्षिताम् । मृत्पानीयाग्निसंयुक्तामशून्यां कारयेन्नृप इति स्मरणात् । बीजानि यवव्रीह्यादीनाम् । ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ इति घटविधिः ॥

भक्षितं यस्य विषं वेगैर्विना जीर्यति स शुद्धो भवति। विषवेगो नाम धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिः। धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिर्विषवेग इति स्मृत इति वचनात्। धातवश्च त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणीति सप्त। एवं च सप्तैव विषवेगा भवन्ति। तेषां च लक्षणानि पृथगेव विषतन्त्रे कथितानि। वेगो रोमाञ्चमाद्यो रचयति विषजः स्वेदवक्त्रोपशोषौ तस्योर्ध्वस्तत्परौ द्वौ वपुषि जनयतो वर्णभेदप्रवेपौ। यो वेगः पञ्चमोऽसौ नयति विवशतां कण्ठभङ्गं च हिक्कां षष्ठो निःश्वासमोहौ वितरति च मृतिं सप्तमो भक्षकस्येति। अत्र च महादेवस्य पूजा कर्तव्या। यथाह नारदः। दद्याद्विषं सोपवासो देवब्राह्मणसान्निधौ। धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरमिति। प्राड्विवाकः कृतोपवासो महादेवं पूजयित्वा तस्य पुरतो विषं व्यवस्थाप्य धर्मादिपूजां हवनान्तां विधाय प्रतिज्ञापत्रं शोध्यस्य शिरसि निधाय विषमभिमन्त्रयते। त्वं विष ब्रह्मणा सृष्टं परीक्षार्थं दुरात्मनाम्। पापानां दर्शयात्मानं शुद्धानाममृतं भव। मृत्युमूर्ते विष त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम्। त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्यामृतं भवेति। एवमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखाय स्थिताय दद्यात्। नारदवचनात्। द्विजानां सन्निधावेव दक्षिणाभिमुखे स्थिते। उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा विषं दद्यात्समाहित इति। विषं च वत्सनाभादि ग्राह्यम्। शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य विषस्य वेति पितामहवचनात्। वर्ज्यानि च तथैवोक्तानि। चारितानि च जीर्णानि कृत्रिमाणि तथैव च। भूमिजानि च सर्वाणि विषाणि परिवर्जयेदिति। नारदेनापि। भृष्टं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा। कालकूटमलाबुं च विषं यत्नेन वर्जयेदिति। कालश्च नारदेनोक्तः। तोलयित्वेप्सितं काले देयं तद्धि हिमागमे। नापराह्णे न मध्याह्ने न सन्ध्यायां तु धर्मविदिति। कालान्तरे तूक्तप्रमाणादल्पं देयम्। वर्षे चतुर्यवा मात्रा ग्रीष्मे पञ्चयवा स्मृता। हेमन्ते सा सप्तयवा शरद्यल्पा ततोऽपि हीति स्मरणात्। अल्पेति षड्यवेत्यर्थः। हेमन्तग्रहणेन शिशिरस्यापि ग्रहणम्। हेमन्तशिशिरयोः समासेनेति श्रुतेः। वसन्तस्य च सर्वदिव्यसाधारणत्वात्तत्रापि सप्त यवा विषं च घृतप्लुतं देयम्। नारदवचनात्। विषस्य पलषड्भागाद्भागो विंशतिमस्तु यः। तमष्टभागहीनं तु शोध्ये दद्याद्घृतप्लुतमिति। पलं चात्र चतुःसुवर्णिकम्। तस्य षष्ठो भागो दशमाषाः पञ्चदश यवाश्च भवन्ति। त्रियवं त्वेककृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माष इत्येको माषः पञ्चदश यवा भवन्ति। एवं पञ्चदशानां माषाणां यवाः सार्धं शतं भवन्ति। पूर्वं च दशयवा इति षष्ट्यधिकं शतं यवाः पलस्य षष्ठो भागस्तस्माद्विंशतितमो भागोऽष्टौ यवास्तस्याष्टभागहीनः एकयवहीनः विंशतिमं भागं सप्तयवं घृतप्लुतं दद्यात्। घृतं च विषात् त्रिंशद्गुणं ग्राह्यम्। पूर्वाह्णे शीतले देशे विषं देयं तु देहिनाम्। घृते नियोजितं श्लक्ष्णं पिष्टं त्रिंशद्गुणान्वितमिति कात्यायनवचनात्। त्रिंशद्गुणेन घृतेनान्वितं विषम्। शोध्यश्च कुहकादिभ्यो रक्षणीयः। त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पुरुषैः स्वैरधिष्ठितम्। कुहकादिभयाद्राजा रक्षयेद्दिव्यकारिणम्॥ औषधीर्मन्त्रयोगांश्च मणीनथ विषापहान्। कर्तुः शरीरसंस्थांस्तु गूढोत्पन्नान्परीक्षयेदिति पितामहस्मरणात्॥

इदानीं विषविधिमाह।

व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशादह्नः पूर्वं यस्य राजिकं राजनिमित्तं दैविकं देवप्रभवं व्यसनं दुःखं घोरं महत् नो नैव जायते अल्पस्य देहिनामपरिहार्यत्वात्स शुद्धो वेदितव्यः । ऊर्ध्वं पुनरवधेर्न दोषः । यथाह नारदः । ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहाद्वैकृतं तु महद्भवेत् । नाभियोज्यः स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमादित्यर्थसिद्धमेवोक्तम् । अर्वाक् चतुर्दशादह्न इत्येतन्महाभियोगविषयम् । महाभियोगेष्वेतानीति प्रस्तुत्याभिधानात् । अवध्यन्तराणि पितामहेनोक्तानि अल्पविषयाणि । कोशमल्पेऽपि दापयेदिति स्मरणात् । तानि च त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्वा द्वादशाहाद्द्विसप्तकात् । वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृत इति । महाभियोगोक्तद्रव्यादर्वाचीनं द्रव्यं त्रिधा विभज्य त्रिरात्राद्यपि पक्षत्रयं व्यवस्थापनीयम् ॥ ११३ ॥ इति कोशविधिः ॥

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च महादिव्यानि यथोद्देशं योगीश्वरेण व्याख्यातानि । स्मृत्यन्तरे त्वल्पाभियोगविषयाण्यन्यानि दिव्यानि कथितानि । यथाह पितामहः । तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणनोदितम् । चौरे तु तण्डुला देया नान्यस्येति विनिश्चयः । तण्डुलान्कारयेच्छुक्लान् शालेर्नान्यस्य कस्यचित् । मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतः शुचिः ॥ स्नानोदकेन संमिश्रान् रात्रौ तत्रैव वासयेत् । प्राङ्मुखोपोषितं स्नातं शिरोरोपितपत्रकम् । तण्डुलान् भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्ततः । पिप्पलस्य तु नान्यस्य अभावे भूर्ज एव तु ॥ लोहितं यस्य दृश्येत हनुस्तालु च शीर्यते । गात्रं च कम्पयेद्यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेदिति । शिरोरोपितपत्रकं तण्डुलान् भक्षयित्वा निष्ठीवयेत्प्राड्विवाकः ॥ भक्षयित्वेति च ण्यन्तात्सिद्धि रूपम् । सर्वदिव्यसाधारणं च धर्मावाहनादि पूर्ववदिहापि कर्तव्यम् ॥ इति तण्डुलविधिः ॥

तप्तमाषविधिः पितामहेनोक्तः । तथाहि । सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाथ मण्डलम् । वर्तुलमित्यर्थः । पूरयेद्घृततैलाभ्यां विंशत्या तु पलैस्तु तत् । सुवर्णमाषकं तस्मिन् सुतप्ते निक्षिपेत्ततः । अङ्गुष्ठाङ्गुलियोगेन उद्धरेत्तप्तमाषकम् । कराग्रं यो न धुनुयाद्विस्फोटो वा न जायते । शुद्धो भवति धर्मेण निर्विकारकराङ्गुलिः ॥ उद्धरेदिति वचनात्पात्राद्उत्क्षेपणमात्रं न प्रक्षेपणमादरणीयम् ॥

अपरकल्पः । सौवर्णे राजते ताम्रे आयसे मृन्मयेऽपि वा । गव्यं घृतमुपादाय तदग्नौ तापयेच्छुचिः । सौवर्णीं राजतीं ताम्रीमायसीं वा सुशोधिताम् । सलिलेन सकृद्धौतां प्रक्षिपेत्ताम्रमुद्रिकाम् । भ्रमद्वीचितरङ्गाढ्ये ह्यनखस्पर्शगोचरे ॥

द्वितीयकल्पः ।

परीक्षेतार्द्रपर्णेन चुरुकारं सुघोपकम् । ततश्चानेन मन्त्रेण सकृत्तदभिमन्त्रयेत् । परं पवित्रममृतं घृतत्वं यज्ञकर्मसु । दह पावक पापं त्वं हिमशीतं शुचौ भव । उपोषितं ततः स्नातमार्द्रवाससमागतम् । ग्राहयेन्मुद्रिकां तां तु घृतमध्यगतां तथा । प्रदेशिनीं च तस्याथ परीक्षेयुः परीक्षकाः ॥ यस्य विस्फोटका न स्युः शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचिरिति ॥ अत्रापि धर्मावाहनाद्यनुसन्धातव्यम् ॥ घृतानुमन्त्रणं प्राड्विवाकस्य । त्वमग्ने सर्वभूतानामिति शोध्यस्याग्न्यभिमन्त्रणमन्त्रः । प्रदेशिनीं परीक्षेयुरिति वचनात् प्रदेशिन्येव मुद्रिकोद्धरणम् ॥ इति तप्तमाषविधिः ।

अप्रतिबन्धसप्रतिबन्धदायलक्षणं ।

पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति पुत्रसद्भावः स्वामिसद्भावश्च प्रतिबन्धस्तदभावे पितृव्यत्वेन भ्रातृत्वेन च स्वं भवतीति स प्रतिबन्धो दायः । एवं तत्पुत्रादिष्वप्यूहनीयः। विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु द्रव्यस्य व्यवस्थापनम् । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं नारदेन ॥ विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य तनयैर्यत्र कल्प्यते । दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैरिति । पित्र्यस्येति स्वत्वनिमित्तसंबन्धोपलक्षणम् । तनयैरित्यपि प्रत्यासन्नोपलक्षणम् । इदमिह निरूपणीयम् । कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्तव्य इति । तत्र कस्मिन्काले कथं कैश्चेति तत्र तत्र श्लोकव्याख्यान एव वक्ष्यते । कस्य विभाग इत्येतावदिह चिन्त्यते । किं विभागात्स्वत्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र स्वत्वमेव तावन्निरूप्यते । कि शास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमुत प्रमाणान्तरसमधिगम्यमिति। तत्र शास्त्रैकसमधिगम्यमिति तावद्युक्तं गौतमवचनात्। स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं क्षत्रियस्य विजितनिर्विष्टं वैश्यशूद्रयोरिति प्रमाणान्तरगम्ये स्वत्वेनेदं वचनमर्थवत्स्यात्। तथा स्तेनातिदेशे मनुः। (अ. ८ श्लो. १४०) योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्। याजनाध्यापनाद्वापि यथा स्तेनस्तथैव स इति। अदत्तादायिनः सकाशात् याजनादिद्वारेण द्रव्यमर्जयतां दण्डविधानमुपपन्नं स्यात्स्वत्वस्य लौकिकत्वे । अपि च । लौकिकं चेत्स्वत्वं मम स्वमनेनापहृतमिति न ब्रूयात् । अपहर्तुरेव स्वत्वात् । अन्यथा स्वं तेनापहृतमिति नापहर्तुः स्वम् । एवं तर्हि सुवर्णरजतादिस्वरूपवदस्य वा स्वमन्यस्य वा स्वमिति संशयो न स्यात् । तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमिति॥ अत्रोच्यते । लौकिकमेव स्वत्वं लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् । व्रीह्यादिवत् । आहवनीयादीनां हि शास्त्रगम्यानां न लौकिकक्रियासाधनत्वमस्ति । नन्वाहवनीयादीनामपि पाकादिसाधनत्वमस्त्येव। नैतत् । न हि तत्राहवनीयादिरूपेण पाकादिसाधनत्वम्। किं तर्हि प्रत्यक्षादिपरिदृश्यमानाग्न्यादिरूपेण। इह तु सुवर्णादिरूपेण न क्रयादिसाधनत्वमपि तु स्वत्वेनैव । न हि यस्य यत्स्वं न भवति तत्तस्य क्रयाद्यर्थक्रियां साधयति । अपिच । प्रत्यन्तवासिनामप्यदृष्टशास्त्रव्यवहाराणां स्वत्वव्यवहारो दृश्यते । क्रयविक्रयादिदर्शनात्। किंच । नियतोपायकं स्वत्वं लोकसिद्धमेवेति न्यायविदो मन्यन्ते । तथाहि। लिप्सासूत्रे तृतीये वर्णके द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न स्यात् । स्वत्वस्यालौकिकत्वादिति पूर्वपक्षासम्भवमाशंक्य द्रव्यार्जनस्य प्रतिग्रहादिना स्वत्वसाधनत्वं लोकसिद्धमिति पूर्वपक्षः समर्थितो गुरुणा । ननु च द्रव्यार्जनस्य क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न भवतीति याग एव न संवर्तेत । प्रलपितमिदं केनापि अर्जनं स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धमिति वदता । तथा सिद्धान्तेऽपि स्वत्वस्य लौकिकत्वमङ्गीकृत्यैव विचारप्रयोजनमुक्तम् । अतो नियमातिक्रमः पुरुषस्य न क्रतोरिति । अस्य चार्थ एवं विवृतः । यथा द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वं तदा नियमार्जितेनैव द्रव्येण क्रतुसिद्धिः । नियमातिक्रमार्जितेन द्रव्येण न क्रतुसिद्धिरिति । न पुरुषस्य नियमातिक्रमदोषः पूर्वपक्षे । राद्धान्ते तु अर्जननियमस्य पुरुषार्थत्वात्तदतिक्रमेणार्जितेनापि द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्भवति । पुरुषस्यैव नियमातिक्रमदोष इति नियमातिक्रमार्जितस्यापि स्वत्वमङ्गीकृतम् । अन्यथा क्रतु-

तापुत्रयोः साधारणमपि मणिमुक्तादि पितुरेव । स्थावरं तु साधारणमित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्मान्न जन्मना स्वत्वं किंतु स्वामिनाशाद्विभागाद्वा स्वत्वम् । अतएव पितुरूर्ध्वं विभागात्प्राग्द्रव्यस्वत्वस्य प्रहीणत्वादन्येन गृह्यमाणं न निवार्यत इति चोद्यस्यानवकाशः । तथैकपुत्रस्यापि पितृप्रयाणादेव पुत्रस्य स्वमिति न विभागमपेक्षत इति। अत्रोच्यते । लोकप्रसिद्धमेव स्वत्वमित्युक्तम् ॥ लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नवमर्हति । विभागशब्दश्च बहुस्वामिकधनविषयो लोकप्रसिद्धो नान्यदीयविषयो न प्रहीणविषयः । तं तथोत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्या इति गौतमवचनाच्च । मणिमुक्ताप्रवालानामित्यादि वचनं च जन्मना स्वत्वपक्ष एवोपपद्यते । न च पितामहोपात्तस्थावरविषयमिति युक्तम् । न पिता न पितामह इति वचनात् । पितामहस्य हि स्वार्जितमपि पुत्रे पौत्रे च सत्यदेयमिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति । तथा परमते मणिमुक्तावस्त्राभरणादीनां पैतामहानामपि पितुरेव स्वत्वं वचनात् । एवमस्मन्मतेऽपि पित्रार्जितानापप्येतेषां पितुर्दानाधिकारो वचनादित्यविशेषः। यत्तु भर्त्रा प्रीतिनेत्यादिविष्णुवचनं स्थावरस्य प्रीतिदानज्ञापनं तत्स्वोपार्जितस्यापि पुत्राद्यभ्यनुज्ञयैवेति व्याख्येयम् । पूर्वोक्तैर्मणिमुक्तादिवचनैः स्थावरव्यतिरिक्तस्यैव प्रीतिदानयोग्यत्वनिश्चयात् । यदप्यर्थसाध्येषु वैदिकेतु कर्मस्वनधिकार इति तत्र तद्विधानबलादेवाधिकारो गम्यते । तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम् । तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम् । स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव । स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् । असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥ ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः । वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति न दानं न च विक्रम इत्यादिस्मरणात् ॥ अस्यापवादः । एकोपि स्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम् । आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषत इति । अस्यार्थः । अप्राप्तव्यवहारेषु पुत्रेषु पौत्रेषु वा अनुज्ञादानादावसमर्थेषु भ्रातृषु वा तथाविधेष्वविभक्तेष्वपि सकलकुटुम्बव्यापिन्यामापदि तत्पोषणे वावश्यं कर्तव्येषु पितृश्राद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोपि समर्थः कुर्यादिति ॥ यत्तु वचनम् । अविभक्ता विभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः । एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रय इति तदप्यविभक्तेषु द्रव्यस्य मध्यस्थत्वादेकस्यानीश्वरत्वात् सर्वाभ्यनुज्ञावश्यं कार्या । विभक्तेषूत्तरकालं विभक्ताविभक्तसंशयव्युदासेन व्यवहारसौकर्याय सर्वाभ्यनुज्ञा न पुनरेकस्यानीश्वरत्वेनातो विभक्तानुमतिव्यतिरेकेणापि व्यवहारः सिद्ध्यत्येवेति व्याख्येयम् । यदपि । स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च । हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनीति । तत्रापि ग्रामानुमतिः प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषत इति स्मरणात् व्यवहारप्रकाशनार्थमेवापेक्ष्यते न पुनर्ग्रामानुमत्या विना व्यवहारासिद्धिः । सामन्तानुमतिस्तु सीमाप्रतिपत्तिनिरासाय । ज्ञातिदायादानुमतेस्तु प्रयोजनमुक्तमेव हिरण्योदकदानेनेति । स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्यादाधिमनुज्ञयेति स्थावरस्य विक्रयप्रतिषेधात् । भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति । उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनाविति दानप्रशंसादर्शनाच्च । विक्रयेऽपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदकं दत्वा दानरूपेण स्थावरविक्रयं कुर्यादित्यर्थः।

यदा स्वेच्छया पिता सर्वानेव सुतान् समविभागिनः करोति तदा पत्न्यश्च पुत्रसमांशभाजः कर्तव्याः। यासां पत्नीनां भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तम्। दत्ते तु स्त्रीधने अर्धांशं वक्ष्यति दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेदिति ॥ यदा तु श्रेष्ठभागादिना ज्येष्ठादीन् विभजति तदा पत्न्यः श्रेष्ठादिभागान्न लभन्ते किंतूद्धृतोद्धारात्समुदायात्समानेवांशान् लभन्ते स्वोद्धारं च। यथाहापस्तम्बः। परीभाण्डं च गृहेऽलङ्कारो भार्याया इति ॥ ११५ ॥

स्वस्यपुत्राणां घसमांशपक्षे पत्नीनामप्यंशः।

ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिन इति पक्षद्वयेऽप्यपवादमाह

शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्वा पृथक् क्रिया।

दायजिघृक्षाभावे।

स्वयमेव द्रव्यार्जनसमर्थस्य पितृद्रव्यमनीहमानस्यानिच्छतो यत्किंचिदसारमपृथक् क्रिया विभागः कार्यः पित्रा। तत्पुत्रादीनां दायजिघृक्षा माभूदिति॥

ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेनेति न्यूनाधिकविभागो दर्शितः तत्र शास्त्रोक्तोद्धारादिविषमविभागव्यतिरेकेणान्यथाविषमविभागनिषेधार्थमाह

न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः ॥ ११६ ॥

न्यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागे यदि धर्म्यः शास्त्रोक्तो भवति तदासौ पितृकृतः कृत एव न निवर्तेत इति मन्वादिभिः स्मृतः। अन्यथा तु पितृकृतोऽपि निवर्तेत इत्यभिप्रायः। यथाह नारदः। व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः। अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुरिति ॥ ११६ ॥

इदानीं विभागस्य कालान्तरं कर्त्रन्तर प्रकारनियममाह

विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्।

पित्रोर्मातापित्रोरूर्ध्वं प्रयाणादिति कालो दर्शितः। सुता इति कर्तारो दर्शिताः। सममिति प्रकारनियमः। सममेवेति रिक्थमृणं च विभजेरन्। ननूर्ध्वं पितुश्च मातुश्चेत्युपक्रम्य (मनु.अ. ९ श्लो. १०५) ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथेत्युक्त्वोक्तम् (मनु. अ. ९ श्लो. ११२) ज्येष्ठस्य विंशउद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयस इति। सर्वस्माद्धनसमुदायाद्विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तज्ज्येष्ठाय दातव्यम्। तदर्धं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यमं च द्रव्यं मध्यमाय दातव्यम्। तुरीयमशीतितमो भागो हीनं द्रव्यं च कनिष्ठाय दातव्यमिति मातापित्रोरूर्ध्वं विभजतामुद्धारविभागो मनुना दर्शितः। तथा। (मनु अ. ९. श्लो. ११६। ११७) उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना। एकाधिकं हरे-

पितृमरणानन्तरसमविभागः।

१ तदर्धं मध्यमस्य स्यात्तदर्धं तु कनीयस इति मयूखे पाठान्तरम्।

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत्स्वयमर्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥ ११८ ॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमप्युद्धरेत्तु यः ।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥ ११९ ॥

अविभाज्यमाह

मातापित्रोर्द्रव्यविनाशेन यत्स्वयमर्जितं मैत्रं मित्रसकाशाद्यल्लब्धं औद्वाहिकं विवाहलब्धं दायादानां भ्रातॄणां तन्न भवेत् । क्रमात्पितृक्रमादायातं यत् किंचित् द्रव्यं अन्यैर्हृतमसामर्थ्यादिना पित्रादिभिरनुद्धृतं यः पुत्राणां मध्ये इतराभ्यनुज्ञयोद्धरति तद्दायादेभ्यो भ्रात्रादिभ्यो न दद्यात् । उद्धर्तैव गृह्णीयात् । तव क्षेत्रे तुरीयांशमुद्धर्ता लभते शेषं तु सर्वेषां सममेव । यथाह शङ्खः । पूर्वं नष्टां तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरेत्क्रमात् । यथाभागं लभन्तेऽन्ये दत्वांशं तु तुरीयकमिति । क्रमादभ्यागतमिति शेषः । तथा विद्यया वेदाध्ययनेनाध्यापनेन वेदार्थव्याख्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दायादेभ्यो न दद्यात् । अर्जक एव गृह्णीयात् । अत्र च पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचित्स्वयमर्जितमिति सर्वत्र शेषः । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितं पितृद्रव्याविरोधेन यदौद्वाहिकं पितृद्रव्याविरोधेन यत्क्रमादायातमुद्धृतं पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा च पितृद्रव्यविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम् । आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम् । तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धं तत् सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च विभजनीयम् । तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्याविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमिति विभजनीयम् । अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्वाहिकमित्यादिना लब्धव्यम् । अथ पितृद्रव्यविरोधेनापि यन्मैत्रादिलब्धं तस्याविभाज्यत्वाद्यन्मैत्रादिवचनमित्यर्थवदित्युच्यते । तथा सति समाचारविरोधः विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च ॥ कुटुम्बं बिभृयाद्भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः । भागं विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन्निति । तथा विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्तं कात्यायनेन । परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्तान्यतस्तु या । तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यत इति । तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य भिन्नवाक्यत्वे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरुद्धमापद्येत । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना । (अ. ९ श्लो. २०८) अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् । दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव चेति । श्रमेण सेवया युद्धादिना । ननु पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिलब्धं द्रव्यं तदविभाज्यमिति न वक्तव्यम् । विभागप्राप्त्यभावात् । यद्येन लब्धं तत्तस्यैव नान्यस्येति प्रसिद्धतरम् । प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेधः । अत्र कश्चिदित्थं प्राप्तिमाह । यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति । भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिन इति ज्येष्ठो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा पितरि प्रेते अप्रेते वा यवीयसां वर्षीयसां चेति व्याख्यानेन पितरि सत्यसति च मैत्रादीनां विभाज्यत्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यत इति । तदसत् ।

अस्यापवादमाह । अविभक्तानां भ्रातॄणां सामान्यस्यार्थस्य कृषिवाणिज्यादिना संभूय समुत्थाने सम्यग्वर्धने केनचित्कृते समएव विभागो नार्जयितुरंशद्वयम् ॥

पित्र्ये द्रव्ये तु पुत्राणां विभागो दर्शितः । इदानीं पैतामहे पौत्राणां विभागे विशेषमाह

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना ॥ १२० ॥

यद्यपि पैतामहे द्रव्ये पौत्राणां जन्मना स्वत्वं पुत्रैरविशिष्टं तथापि तेषां पितृद्वारेणैव पैतामहद्रव्ये विभागकल्पना । न स्वरूपापेक्षया । एतदुक्तं भवति । विभक्ता भ्रातरः पुत्रानुत्पाद्य दिष्टं गतास्तत्रैकस्य द्वौ पुत्रावन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वावेकं स्वपित्र्यमंशं लभेते । अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं चत्वारोऽप्येकमंशं पित्र्यं लभन्त इति । तथा केषुचित्पुत्रेषु ध्रियमाणेषु केषुचित्पुत्रानुत्पाद्य विनष्टेष्वयमेव न्यायो ध्रियमाणाः स्वांशानेव लभन्ते । नष्टानामपि पुत्राः पित्र्यानेवांशान्लभन्त इति वाचनिकी व्यवस्था ॥ १२० ॥

अनेकभ्रातृपुत्राणांविभागप्रकारः ।

अधुना विभक्ते पितर्यविद्यमानभ्रातृके वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति अध्रियमाणे पितरि पितृतो भागकल्पनेत्युक्तत्वात् । भवतु वा स्वार्जितवत् पितुरिच्छयैवेत्याशङ्कित आह

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव च ।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥ १२१ ॥

भूः शालिक्षेत्रादिका । निबन्ध एकस्य पर्णभारकस्येयन्ति पर्णानि । तथा एकस्य क्रमुकफलभारकस्येयन्ति क्रमुकफलानीत्याद्युक्तलक्षणः । द्रव्यं सुवर्णरजतादि यत्पितामहेन प्रतिग्रहविजयादिना लब्धं तत्र पितुः पुत्रस्य च स्वाम्यं लोकप्रसिद्धमिति कृत्वा विभागोऽस्ति । हि यस्मात्तत्सदृशं समानम् । तस्मान्न पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम् । अतः पितृतो भागकल्पनेत्येतत्स्वाम्ये समेऽपि वाचनिकम् । विभागं चेत्पिता कुर्यादित्येतत्स्वार्जितविषयम् । तथा द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पितेत्येतदपि स्वार्जितविषयम् । जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वित इत्येतदपि पारतन्त्र्यं मातापित्रर्जितद्रव्यविषयम् । तथा अनीशास्ते हि जीवतोरित्येतदपि । तथा च सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति । तथा विभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः । पित्रर्जिते तु न निषेधाधिकारः । तत्परतन्त्रत्वात् । अनुमतिस्तु कर्तव्या । तथाहि । पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव तथापि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितुः स्वार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या । पैतामहे तु द्वयोः स्वाम्यमविशिष्टमिति निषेधाधिकारोऽप्यस्तीति विशेषः । मनुरपि (अ. ९ श्लो. २०९)

पितामहधनेपितुःपुत्रस्यचसत्तासमाना ।

मातापितृभ्यां विभक्ताभ्यां पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य यद्दत्तमलङ्कारादि तत्तस्यैव पुत्रस्य न विभक्तजस्य स्वं भवति। न्यायसाम्याद्विभागात्प्रागपि यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव तथाऽसति विभक्तजे विभक्तयोः पित्रोरंशं तदूर्ध्वं विभजतां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव नान्यस्येति वेदितव्यम् ॥

जीवद्विभागे स्वपुत्रसमांशित्वं पत्नीनामुक्तं यदि कुर्यात्समानंशानित्यादिना पितुरूर्ध्वं विभागेऽपि मातुः स्वपुत्रसमांशित्वं दर्शयितुमाह

पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत् ॥ १२३ ॥

मातु समांशत्वं ।

पितुरूर्ध्वं पितुः प्रयाणादूर्ध्वं विभजतां मातापि स्वपुत्रांशसमं अंशं हरेत् । यदि स्त्रीधनं न दत्तम् । दत्ते त्वर्धांशहारिणीति वक्ष्यते ॥ १२३ ॥

पितरि प्रेते यद्यसंस्कृता भ्रातरः सन्ति तत्संस्कारे कोऽधिक्रियत इत्यत आह

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ।

पितुरूर्ध्वं विभजद्भिर्भ्रातृभिरसंस्कृता भ्रातरः समुदायद्रव्येण संस्कर्तव्याः ।

भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम् ॥ १२४ ॥

अस्यार्थः । भगिन्यश्चासंस्कृताः संस्कर्तव्या भ्रातृभिः । किं कृत्वा निजादंशाच्चतुर्थमंशं दत्वा । अनेन दुहितरोऽपि पितुरूर्ध्वं अंशभागिन्य इति गम्यते । तत्र निजादंशादिति प्रत्येकं परिकल्पितादंशादुद्धृत्य चतुर्थांशो दातव्य इत्येवमर्थो न भवति। किंतु यज्जातीया कन्या तज्जातीयपुत्रभागाच्चतुर्थांशभागिनी सा कर्तव्या । एतदुक्तं भवति । यदि ब्राह्मणी सा कन्या तदा ब्राह्मणीपुत्रस्य यावानंशो भवति तस्य चतुर्थांशस्तस्या भवति। तद्यथा । यदि कस्यचिद्ब्राह्मण्येव एका पत्नी पुत्रश्चैकः कन्या चैका तत्र पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा विभज्य तत्रैकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्वा शेषं पुत्रो गृह्णीयात्। यदा तु द्वौ पुत्रौ एका कन्या तदा पितृधनं सर्वं त्रेधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्वा शेषं द्वौ पुत्रौ विभज्य गृह्णीतः ॥ अथ त्वेकः पुत्रो द्वे कन्ये तदा पित्र्यं धनं त्रेधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य तत्र द्वौ भागौ द्वाभ्यां कन्याभ्यां दत्वावशिष्टं सर्वं पुत्रो गृह्णातीत्येवं समानजातीयेषु समविषमेषु भ्रातृषु भगिनीषु च योजनीयम् । यदा तु ब्राह्मणीपुत्र एकः क्षत्रिया कन्यैका तत्र पित्र्यं धनं सप्तधा विभज्य क्षत्रियापुत्रभागांस्त्रींश्चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं क्षत्रियाकन्यायै दत्वा शेषं ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णाति । यत्र तु द्वौ ब्राह्मणीपुत्रौ क्षत्रियाकन्या चैका तत्र पित्र्यं धनमेकादशधा विभज्य तेषु क्षत्रियापुत्रभागान् त्रीन् चतुर्धा विभज्य चतुर्थमंशं क्षत्रियाकन्यायै दत्वा शेषं सर्वं ब्राह्मणीपुत्रौ विभज्य गृह्णीतः ॥ एवं जातिवैषम्ये भ्रातृणां भगिनीनां च संख्यायाः साम्ये वैषम्ये च सर्वत्रोहनीयम्। न च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकमिति तुरीयांशाविवक्षया संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यं दत्वेति व्याख्यानं युक्तम् । मनुवचनविरोधात् (अ.९.श्लो.११८.) स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वा-

असंस्कृतासु भागनीषुविशेषमाह

यदि क्रयादिप्राप्ता भूः क्षत्रियादिसुतानां न भवेत्तदा शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधो नोपपद्यते। यत्पुनः (मनु. अ. ९ श्लो. १५५) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्। यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेदिति। तदपि जीवता पित्रा यदि शूद्रापुत्राय किमपि प्रदत्तं स्यात्तद्विषयम्। यदा तु प्रसाददानं नास्ति तदैकांशभागित्यविरुद्धम् ॥ १२५ ॥

अथ सर्वविभागशेषं किंचिदुच्यते

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते।
तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः ॥ १२६ ॥

परस्परापहृतं समुदायद्रव्यं विभागकाले वा ज्ञातं विभक्ते पितृधने यद्दृश्यते तत्समैरंशैर्विभजेरन्नित्येवं स्थितिः शास्त्रमर्यादा। अत्र समैरंशैरिति वदता उद्धारविभागो निषिद्धः। विभजेरन्निति वदता येन दृश्यते तेनैव न ग्राह्यमिति दर्शितम्। एवं च वचनस्यार्थवत्त्वान्न समुदायद्रव्यापहारे दोषाभावपरत्वम्। ननु मनुना ज्येष्ठस्यैव समुदायद्रव्यापहारे दोषो दर्शितो न कनीयसाम् (अ. ९ श्लो. २१३) यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन्यवीयसः। स ज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिरिति वचनात्। नैतत् यतः संभावितस्वातन्त्र्यस्य पितृस्थानीयस्य ज्येष्ठस्यापि दोषं वदता ज्येष्ठपरतन्त्राणां कनीयसां पुत्रस्थानीयानां दण्डापूपिकनीत्या सुतरां दोषो दर्शित एव। तथा चाविशेषेणैव दोषः श्रूयते। गौतमः यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते एवैनं स यदि चैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयत इति। यो भागिनं भागार्हं भागान्नुदते भागादपाकरोति भागं तस्मै न प्रयच्छति स भागान्नुन्न एनं नोत्तारं चयते नाशयति दोषिणं करोति। यदि तं न नाशयति तदा तस्य पुत्रं पौत्रं वा नाशयतीति ज्येष्ठविशेषमन्तरेणैव साधारणद्रव्यापहारिणो दोषः श्रुतः। अथ साधारणं द्रव्यमात्मनोऽपि स्वं भवतीति स्वबुद्ध्या गृह्यमाणं न दोषमावहतीति मतम्। तदसत्। स्वबुद्ध्या गृहीतेऽपि वर्जनीयतया परस्वमपि गृहीतमेवेति निषेधानुप्रवेशाद्दोषमावहत्येव। यथा मौद्गे चरौ विपन्ने सदृशतया माषेषु गृह्यमाणेषु अयज्ञिया वै माषा इति निषेधो न प्रविशति। मुद्गावयवबुद्ध्या गृह्यमाणत्वादिति पूर्वपक्षिणोक्ते मुद्गावयवेषु गृह्यमाणेषु अवर्जनीयतया माषावयवा अपि गृह्यन्त एवेति निषेधः प्रविशत्येवेति राद्धान्तिनोक्तम्। तस्माद्वचनतो न्यायतश्च साधारणद्रव्यापहारे दोषोऽस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

भ्रात्रादिवञ्चनयास्थापितद्रव्यस्यविभागमाह।

द्व्यामुष्यायणस्य भागविशेषं दर्शयंस्तस्य स्वरूपमाह।

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः।

१ यो लोभाद्विनिकुर्वीतेति पाठान्तरम्।

निषेधति । तस्माद्विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति न युक्तम् ॥ एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिषिद्धे कस्तर्हि धर्म्यो नियोग इत्यत आह । (मनु. अ. ९ श्लो. ६९ । ७०) यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ यथाविध्यभिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ इति ॥ यस्मै वाग्दत्ता कन्या स प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरित्यस्मादेव वचनादवगम्यते तस्मिन्प्रेते देवरस्तस्य ज्येष्ठः कनिष्ठो वा निजः सोदरो विन्देत परिणयेत् । यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिणीय अनेन विधानेन घृताभ्यङ्गवाङ्नियमादिना शुक्लवस्त्रां शुचिव्रतां मनोवाक्कायसंयतां । मिथोरहस्यागर्भग्रहणात् प्रत्यृत्वेकवारं गच्छेत् । अयं च विवाहो वाचनिको घृताभ्यङ्गादिनियमवन्नियुक्ताभिगमनाङ्गमिति न देवरस्य भार्यात्वमापादयति । अतस्तदुत्पन्नमपत्यं क्षेत्रस्वामिन एव भवति । न देवरस्य । संविदातूभयोरपि ॥ १२७ ॥

धर्मनियोगः ।

समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागक्लृप्तिरुक्ता अधुना मुख्यगौणपुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थायां दर्शयिष्यन् तेषा स्वरूप तावदाह

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः ।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ॥ १२८ ॥
गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः ।
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ॥ १२९ ॥
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १३० ॥
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः ।
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे भिन्नः सहोढजः ॥ १३१ ॥
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः ।

उरसो जात औरसः पुत्रः सच धर्मपत्नीजः सवर्णा धर्मविवाहोढा धर्मपत्नी तस्यां जात औरसः पुत्रो मुख्यः । तत्समः पुत्रिकासुतः तत्सम औरससमः । पुत्रिकायाः सुतः पुत्रिकासुतः । अतएवौरससमः । यथाह वसिष्ठः । अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः समे पुत्रो भवेदितीति । अथवा पुत्रिकैव सुतः पुत्रिकासुतः सोऽप्यौरससम एव पित्रवयवानामल्पत्वात् मात्रवयवानां बाहुल्याच्च । यथाह वसिष्ठः । द्वितीयः पुत्रिकैवेति । द्वितीयः पुत्रः पुत्रिकैवेत्यर्थः ॥ द्व्यामुष्यायणस्तु जनकस्यौरसादपकृष्टोऽन्यक्षेत्रोत्पन्नत्वात् । क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा । इतरेणासपिण्डेन देवरेण वोत्पन्नः पुत्रः क्षेत्रजः ॥ १२८ ॥

औरसपुत्रिकापुत्रक्षेत्रजलक्षणानि ।

ऽशहरो धनहरो वेदितव्यः । औरसपौत्रिकेयसमवाये औरसस्यैव धनग्रहणे प्राप्ते मनुरपवादमाह । (अ. ९ श्लो. १३४) पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते । समस्तत्र विभागः स्यात् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रिया इति । तथा अन्येषामपि पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सत्यप्युत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांशभागित्वमुक्तं वसिष्ठेन । तस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीते औरस उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्यात् दत्तक इति । दत्तकग्रहणं क्रीतकृत्रिमादीनां प्रदर्शनार्थम् । पुत्रीकरणाविशेषात् । तथाच कात्यायनः । उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः । सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभाजना इति । सवर्णा दत्तकक्षेत्रजादयस्ते सत्यौरसे चतुर्थांशहराः । असवर्णाः कानीनगूढोत्पन्नासहोढजपौनर्भवास्ते त्वौरसे सति न चतुर्थांशहराः किंतु ग्रासाच्छादनभाजनाः । यदपि विष्णुवचनम् । अप्रशस्तास्तु कानीनगूढोत्पन्नसहोढजाः । पौनर्भवश्च नैवैते पिण्डरिक्थांशभागिन इति । तदप्यौरसे सति चतुर्थांशनिषेधपरमेव । औरसाद्यभावेतु कानीनादीनामपि सकलपित्र्यधनग्रहणमस्त्येव । पूर्वाभावे परः पर इति वचनात् ॥ यदपि मनुवचनम् (अ. ९ श्लो. १६३) एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनमिति तदपि दत्तकादीनामौरसप्रतिकूलत्वे निर्गुणत्वे च वेदितव्यम् । तत्र क्षेत्रजस्य विशेषो दर्शितस्तेनैव । (अ. ९ श्लो. १६४) षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वेति । प्रतिकूलत्वनिर्गुणत्वसमुच्चये षष्ठमंशम् । एकतरसद्भावे पञ्चममिति विवेक्तव्यम् ॥ यदपि मनुना पुत्राणां षट्कद्वयमुपन्यस्य पूर्वषट्कस्य दायादबान्धवत्वमुक्तं उत्तरषट्कस्यादायादबान्धवत्वमुक्तम् । (अ. ९ श्लो. १५९ । १६०) औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च । गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवा इति । तदपि स्वपितृसपिण्डसमानोदकानां सन्निहितरिक्थहरान्तराभावे पूर्वषट्कस्य तद्रिक्थहरत्वमुत्तरषट्कस्य तु तन्नास्ति । बान्धवत्वं पुनःसमानगोत्रत्वेन सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानादिकार्यकरत्वं वर्गद्वयस्यापि सममेवेति व्याख्येयम् ॥ (अ. ९ श्लो. २४२) गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्रिमः सुतः । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधेत्यत्र दत्रिमग्रहणस्य पुत्रप्रतिनिधिप्रदर्शनार्थत्वात् । पितृधनहारित्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषामविशिष्टम् । (मनु. अ. ९ श्लो. १८५) न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुरित्यौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारित्वप्रतिपादनपरत्वात् । औरसस्य तु (मनु. अ. ९ श्लो. १६३) एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुरित्यनेनैव रिक्थभाक्त्वस्योक्तत्वात् । दायादशब्दस्य दायादानपि दापयेदित्यादौ पुत्रव्यतिरिक्तरिक्थभाग्विषयत्वेन प्रसि-

१ तृतीयांशहरा इति कल्पतरौ पाठः । २ गोत्ररिक्थे अनुगच्छतीति गोत्ररिक्थानुगः प्रायस्तत्समनियत इति यावत् ॥ दत्रिमः केवलः द्व्यामुष्यायणे गोत्राद्यनुवृत्तेः । पिण्डः श्राद्धमौर्ध्वदेहिकादीति मेधातिथिकुल्लूकभट्टादयः पिंडः सापिंड्यं स्वधौर्ध्वदेहिकश्राद्धादीत्यपरे ॥

स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ १३६ ॥

पूर्वोक्ता द्वादशपुत्रा यस्य न सन्ति असावपुत्रः तस्यापुत्रस्य स्वर्यातस्य परलोकं गतस्य धनभाक् धनग्राही एषां पत्न्यादीनामनुक्रान्तानां मध्ये पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो धनभागिति संबन्धः । सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु अनुलोमजेषु प्रतिलोमजेषु वर्णेषु च ब्राह्मणादिषु अयं दायग्रहणविधिर्दायग्रहणक्रमो वेदितव्यः । तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक् । पत्नी विवाहसंस्कृता । पत्युर्नो यज्ञसंयोग इति स्मरणात् । एकवचनं च जात्यभिप्रायेण अतश्च बह्वयश्चेत्सजातीया विजातीयाश्च यथांशं विभज्य धनं गृह्णन्ति । यथा वृद्धमनुरपि पत्न्याः समग्रधनसंबन्धं वक्ति । अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता । पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत चेति । बृहद्विष्णुरपि । अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामि तदभावे मातृगामीति । कात्यायनोऽपि । पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदेति । तथा । अपुत्रस्यार्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा । तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राश्च कीर्तिता इति । बृहस्पतिरपि । कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु । असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी । एतद्विरुद्धानीव वाक्यानि लक्ष्यन्ते । भ्रातॄणामप्रजाः प्रेयात् कश्चिच्चेत्प्रव्रजेत वा । विभजेरन् धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना ॥ भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात् । रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिद्युरितरासु त्विति पत्नीसद्भावेऽपि भ्रातॄणां धनग्रहणं पत्नीनां च भरणमात्रं नारदेनोक्तम् । मनुना तु । (अ. ९. श्लो. १८९) पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वेत्यपुत्रस्य धनं पितुर्भ्रातुर्वेति दर्शितम् । यथा (अ. ९. श्लो. २१७) अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनमिति । मातुः पितामह्याश्च धनसंबन्धो दर्शितः । शंखेनापि । स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नीति । भ्रातॄणां पित्रोर्ज्येष्ठायाश्च पत्न्याः क्रमेण धनसंबन्धो दर्शितः । कात्यायनेनापि । विभक्ते संस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत् । भ्राता वा जननी वाथ माता वा तत्पितुः क्रमादित्येवमादीनां विरुद्धार्थानां वाक्यानां योगीश्वरेण व्यवस्था दर्शिता । पत्नी गृह्णीयादित्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रातृस्त्रीविषयम् । सा च यदि नियोगार्थिनी भवति । कुत एतत् नियोगसव्यपेक्षायाः पत्न्या धनहरणं न स्वतन्त्रया इति । पिता हरेदपुत्रस्येत्यादिवचनात्तत्र व्यवस्थाकारणं वक्तव्यम् । नान्यव्यवस्थाकारणमस्तीति । गौतमवचनाच्च । पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन् स्त्री वानपत्यस्य बीजं लिप्सेतेति । अस्यार्थः । पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा अनपत्यस्य रिक्थं भजेरन्स्त्री वा रिक्थं भजेत् । यदि बीजं लिप्सेतेति । मनुरपि (अ. ९ श्लो. १४६) धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव वा । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनमिति । अनेनैतद्दर्शयति विभक्तधनेऽपि भ्रातर्युपरतेऽपत्यद्वारेणैव पत्न्या धनसंबन्धो नान्यथेति । तथाऽविभक्तधनेऽपि (मनु. अ. ९ श्लो. १२०) कनीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थित इति । तथा वसिष्ठोऽपि । रिक्थ-

विभक्तस्यापुत्रस्यासंसृष्टिनोधनेऽधिकारिणः ।

त्वमविरुद्धमिति मतम् । एवं तर्ह्यर्थकामयोर्धनसाध्ययोरसिद्धिरेव स्यात् । तथा सति धर्ममर्थं च कामं च यथाशक्ति न हापयेत् । तथा । न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान् कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः । तथा । न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवयेत्यादियाज्ञवल्क्यगौतममनुवचनविरोधः । अपिच धनस्य यज्ञार्थत्वे हिरण्यं धार्यमिति हिरण्यसाधारणस्य क्रत्वर्थतानिराकरणेन पुरुषार्थत्वमुक्तं तत्प्रत्युद्धृतं स्यात् । किंच । यज्ञशब्दस्य धर्मोपलक्षणपरत्वे स्त्रीणामपि पूर्तधर्माधिकाराद्धनग्रहणं युक्ततरम् । यत्तु पारतन्त्र्यवचनं न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीत्यादि तदस्तु पारतन्त्र्यं धनस्वीकारे तु को विरोधः । कथं तर्हि यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नमित्यादिवचनम् । उच्यते । यज्ञार्थमेवार्जितं यद्धनं तद्यज्ञएव नियोक्तव्यं पुत्रादिभिरपीत्येवंपरं तत् । यज्ञार्थं लब्धमददद्भासः काकोपि वा भवेदिति दोषश्रवणस्य पुत्रादिष्वप्यविशेषात् । यदपि कात्यायनेनोक्तम् । अदायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम् । अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेदिति । अदायिकं दायादरहितं यद्धनं तद्राजगामि राज्ञो भवति योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकमपास्य तत्स्त्रीणामशनाच्छादनोपयुक्तं और्ध्वदेहिकं धनिनः श्राद्धाद्युपयुक्तं चापास्य परिहृत्य राजगामि भवतीति संबन्धः । अस्यापवादः । श्रोत्रियद्रव्यं च योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकमपास्य श्रोत्रियायोपपादयेदिति एतदप्यवरुद्धस्त्रीविषयम् । योषिद्ग्रहणात् । नारदवचनं च । अन्यत्र ब्राह्मणात्किंतु राजा धर्मपरायणः । तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृत इत्यवरुद्धस्त्रीविषयमेव । स्त्रीशब्दग्रहणात् । इह तु पत्नीशब्दादूढायाः संयताया धनग्रहणमविरुद्धम् । तस्माद्विभक्तासंसृष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते पत्नी धनं प्रथमं गृह्णातीत्ययमर्थः सिद्धो भवतीति । विभागस्योक्तत्वात्संसृष्टिनां वक्ष्यमाणत्वात् । एतेनाल्पधनविषयत्वं श्रीकरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम् । तथा ह्यौरसेषु पुत्रेषु सत्स्वपि जीवद्विभागे अजीवद्विभागे च पत्न्याः पुत्रसमांशग्रहणमुक्तम् । यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः । पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेदिति च । तथासत्यपुत्रस्य स्वर्यातस्य धनं पत्नी भरणादतिरिक्तं न लभत इति व्यामोहमात्रम् । अथ पत्न्यः कार्याः समांशिका इत्यत्र माताप्यंशं समं हरेदित्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्रीहरतीति मतं तदसत् । अंशशब्दस्य समशब्दस्य चानर्थक्यप्रसङ्गात् । स्यान्मतम् । बहुधने जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति तच्च न । विधिवैषम्यप्रसङ्गात् । तथाहि । पत्न्यः कार्याः समांशिकाः माताप्यंशं समं हरेदिति च बहुधने जीवनमात्रोपयुक्तम् । वाक्यान्तरमपेक्ष्य प्रतिपादयति अल्पधने तु पुत्रांशसममंशं प्रतिपादयतीति ॥ तथा चातुर्मास्येषु द्वयोः प्रणयन्तीत्यत्र पूर्वपक्षिणा सौमिकप्रणयनातिदेशे हेतुत्वेन वैश्वदेव उत्तरवेदिमुपकिरन्ति न शुनासीरीयइत्युत्तरवेदिप्रतिषेधे दर्शिते राद्धान्तैकदेशिना न सौमिकप्रणयनातिदेशप्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रथमोत्तमयोः पर्वणोरयं प्रतिषेधः किंतूपात्तं वपन्तीति प्राकरणिकेन वचनेन प्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रतिषेधोऽयमित्यभिहिते पुनः पूर्वपक्षिणोपात्तं[1] वपन्तीति प्रथमोत्तमयोः पर्वणोः प्रतिषेधमपेक्ष्य पाक्षिकीमुत्तरवेदिं प्रापयति

[1] जीर्णपुस्तके पात्रमिति पाठान्तर ।

दौहित्रिका मता इति ॥ मनुरपि । (अ. ९ श्लो. १३६) अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिडं हरेद्धनमिति ॥ तदभावे पितरौ मातापितरौ धनभाजौ । यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मरणात् तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते तथापि विग्रहवाक्ये मातृशब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषभावपक्षे च मातापितराविति मातृशब्दस्य पूर्वं श्रवणात् पाठक्रमादेवार्थक्रमावगमाद्धनसंबन्धेऽपि क्रमापेक्षायां प्रतीतक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक् तदभावे पितेति गम्यते । किंच पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारणो माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयादनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेदिति वचनान्मातुरेव प्रथमं धनग्रहणं युक्तम् । न च सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिर्नियामिका अपि तु समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेत्यस्मादेव वचनादवगम्यत इति । मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्त्यतिशयाद्धनग्रहणं युक्ततरम् । तदभावे पिता धनभाक् । पित्रभावे भ्रातरो धनभाजः । तथाच मनुः (अ. ९ श्लो. १८५) पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वेति यत्पुनर्धारेश्वरेणोक्तम् । (अ. ९ श्लो. २१७) अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनमिति मनुवचनाज्जीवत्यपि पितरि मातरि वृत्तायां पितुर्माता पितामही धनं हरेन्न पिता । यतः पितृगृहीतं धनं विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति पितामहीगृहीतं तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव गृह्णातीति । एतदप्याचार्यो नानुमन्यते । विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात् । चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युरित्यादिनेति । (अ. ९ श्लो. १८९) यत्पुनरहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिरिति मनुस्मरणं तन्नृपाभिप्रायं न तु पुत्राभिप्रायम् । भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः भिन्नोदराणां मात्रा विप्रकर्षात् । अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेदिति स्मरणात् । सोदराणामभावे भिन्नोदरा धनभाजः । भ्रातृणामप्यभावे तत्पुत्राः पितृक्रमेण धनभाजः । भ्रातृभ्रातृपुत्रसमवाये भ्रातृपुत्राणामनधिकारः । भ्रात्रभावे भ्रातृपुत्राणामधिकारवचनात् ॥ यदा त्वपुत्रे भ्रातरि स्वर्याते त-

माता । पिता ।

भ्रातरः ।

भिन्नोदराधनभाजः ।

१ मयूखे–दौहित्राभावे पिता तदभावे माता । तथाच कात्यायन. । अपुत्रस्यास्य कुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा । तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः प्रकीर्तिताः । विष्णुश्च । अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि । तदभावे दुहितृगामि । तदभावे दौहित्रगामि । तदभावे पितृगामि । तदभावे मातृगामि । तदभावे भ्रातृगामि । तदभावे भ्रातृपुत्रगामि । तदभावे सकुल्यगामि । यत्तु विज्ञानेश्वरः । द्वन्द्वापवादके पितरावित्येकशेषे क्रमाप्रतीतावपि तदर्थबोधके विग्रहवाक्ये मातृशब्दस्य पूर्वनिपातात् अपवाद्य द्वन्द्वाक्रमानुसारात् पितुः पुत्रान्तरसाधारण्यात् मातुस्त्वसाधारण्याच्चादौ मातुस्तदभावे पितुर्धनग्रहणमूचे तदेतद्वचो विरोधादपास्तम् । विग्रहवाक्ये मातृशब्दस्य पूर्वनिपातएकशेषस्य द्वन्द्ववैकल्पितत्वेन तदपवादत्वे साधारण्यासाधारण्ययो क्रमनियामकत्वे मानाभावाच्च ।

२ केचितु सोदराभावे भिन्नोदरास्तदभावे सोदरसुता इत्याहुस्तन्न । भ्रातृपदस्य सोदरे शक्त्या भिन्नोदरे च गौण्या वृत्तिद्वयविरोधात् । केचितु भ्रातर इत्यत्र भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यामित्यनुशासनात् भ्रातरश्च स्वसारश्च भ्रातर इति विरूपैकशेषेण भ्रात्रभावे भगिन्य इत्याहुस्तन्न । विरूपैकशेषे मानाभावात् ॥

शिष्यः सब्रह्मचारी।

वेऽन्तेवासीत्यापस्तम्बस्मरणात्॥ शिष्याभावे सब्रह्मचारी धनभाक्। येन सहैकस्मादाचार्यादुपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः स सब्रह्मचारी। तदभावे ब्राह्मणद्रव्यं यः कश्चित् श्रोत्रियो गृह्णीयात्। श्रोत्रियो ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्निति गौतमस्मरणात्। तदभावे ब्राह्मणमात्रम्। यथाह मनुः। (अ.९श्लो. १८८) सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः। त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते इति॥ न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्यं राजा गृह्णीयात्। (अ. ९ श्लो. १८९) अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिरिति मनुवचनात्। नारदेनाप्युक्तम्। ब्राह्मणार्थस्य तन्नाशे दायादश्चेन्न कश्चन। ब्राह्मणायैव दातव्यमेनस्वी स्यान्नृपोऽन्यथेति॥ क्षत्रियादिधनं स ब्रह्मचारिपर्यन्तानामभावे राजा हरेत्। न ब्राह्मणः। यथाह मनुः (अ. ९ श्लो. १८९) इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप इति॥ १३५॥ १३६॥

जीमूतवाहनदायभागटीकायां प्रदर्शितक्रमो लिख्यते।

१ अत्रायं मृतपुन्धनाधिकारक्रमः। तत्र प्रथमं पुत्र. तदभावे पौत्रः तदभावे प्रपौत्रः मृतपितृकपौत्रमृतपितृपितामहकप्रपौत्रयोस्तु पुत्रेण सह युगपदधिकार.। प्रपौत्रपर्यन्ताभावे पत्नी। सा च प्राप्तभर्तृदाया भर्तृकुलं तदभावे पितृकुलं वा समाश्रिता सती शरीररक्षार्थं भर्तृदाय भुंजीत। तथा। भर्तुरुपकारार्थं यथाकथंचिद्दानादिकमपि कुर्वीत। न तु स्त्रीधनवत्स्वच्छन्दं विनियुञ्जीत। तदभावे दुहिता तत्र प्रथमं कुमारी तदभावे वाग्दत्ता तदभावे चोढा। सा च पुत्रवती सम्भावितपुत्रा च द्वे युगपदेवाधिकारिण्यौ। वन्ध्या विधवा च पुत्रहीना नाधिकारिणी। ऊढाया अभावे दौहित्र· तदभावे पिता तदभावे भ्राता तत्रापि प्रथमं सोदरः तदभावे वैमात्रेयः मृतस्य भ्रातृसंसृष्टत्वे तु सोदरमात्रविषये प्रथमं संसृष्टसोदर एवाधिकारी तदभावे चासंसृष्टसोदरः। एव वैमात्रेयमात्रविषये प्रथमं ससृष्टवैमात्रेयः तदभावे चासंसृष्टवैमात्रेयः। सदा तु संसृष्टो वैमात्रेयः सोदरश्च संसृष्टः तदा तावुभौ तुल्यवदधिकारिणौ। भ्रातृणामभावे भ्रातुः पुत्रः। तत्रापि प्रथमं सोदरभ्रातृपुत्र तदभावे वैमात्रेयभ्रातृपुत्रः ससर्गे तु सोदरभ्रातृपुत्रमात्रविषये प्रमथ ससृष्टसोदरभ्रातृपुत्र· तदभावे चाससृष्टसोदरभ्रातृपुत्रः। वैमात्रेयभ्रातृपुत्रमात्रविषये प्रथमं संसृष्टवैमात्रेयभ्रातृपुत्र·। तदभावे चासंसृष्टवैमात्रेयभ्रातृपुत्रः। यदा तु सोदरभ्रातृपुत्रोऽसंसृष्टो वैमातेयभ्रातृपुत्रश्च ससृष्ट तदा द्वौ भ्रातृवत्तुल्याधिकारिणौ। भ्रातृपुत्राभावे तु भ्रातृपौत्र। तत्रापि भ्रातु सोदरासोदरक्रमः ससर्गासंसर्गक्रमश्च बोध्य। तदभावे पितृदौहित्र स च सोदरभगिनीपुत्रः तदभावे वैमात्रेयभगिनीपुत्रश्च तदभावे पितु. सहोदरः। तदभावे पितुर्वैमात्रेयः। तदभावे पितृसोदरपुत्रपितृवैमात्रेयपुत्रपितृसोदरपौत्रपितृवैमात्रेयपौत्राणा क्रमेणाधिकारः। तदभावे पितामहदौहित्र· तत्रापि पितृसोदरभगिनीपुत्रः वैमात्रेयभगिनीपुत्रश्च वक्ष्यमाणप्रपितामहदौहित्राधिकारेप्येवम्। तदभावे पितामहः। तदभावे पितामही तदभावे पितामहसोदरभ्रातृवैमात्रेयभ्रातृतत्पुत्रपौत्रप्रपितामहदौहित्राः क्रमेणाधिकारिणः। एतावत्पर्यन्ताना धनिभोग्यपिण्डदातॄणां त्वभावे धनिदेयपिण्डदातॄणां मातुलादीनामधिकारस्तदभावे धनिमातृष्वस्रीयस्याधिकारः तदभावे मातुलपुत्रपौत्राणां क्रमेणाधिकारः। तदभावे चाधस्तनसकुल्याना धनिभोग्यलेपदातॄणां प्रतिप्रणप्तृप्रभृतिपुरुषत्रयाणां क्रमेणाधिकारः। तदभावे पुनरूर्ध्वतनसकुल्याना धनिदेयलेपदातॄणा वृद्धप्रपितामहादिसन्ततीनामासत्तिक्रमेणाधिकारः। तदभावे समानोदकानामधिकार·। तेषामभावे चाचार्यस्य तदभावे शिष्यस्य तदभावे सहवेदाध्यायिब्रह्मचारिणोऽधिकार·। तदभावे चैकग्रामस्थसगोत्रसमानप्रवरयोः क्रमेणाधिकारः। उक्तपर्यन्ताना सर्वेषा सम्बन्धिनामभावे ब्राह्मणधनवर्ज्यं राजा गृह्णीयात्। ब्राह्मणधनं तु

संसृष्टिधनादिकारिणमाह ।

संस्थितः। पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यत इति। तस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं विभागं विभागकाले अविज्ञातगर्भायां भार्यायां पश्चादुत्पन्नस्य पुत्रस्य संसृष्टी दद्यात्। पुत्राभावे संसृष्टयेवापहरेत् गृह्णीयात् न पत्न्यादिः॥

संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यस्यापवादमाह

सोदरस्य तु सोदरः ।
दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥

संसृष्टिनः संसृष्टीत्यनुवर्तते अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं सोदरः संसृष्टी संसृष्टानुजातस्य सुतस्य दद्यात्। तदभावे अपहरेदिति पूर्ववत् संबन्धः । एवंच सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदर एव संसृष्टी गृह्णाति। न भिन्नोदरः संसृष्टयपीति पूर्वोक्तस्यापवादः

इदानी सम्सृष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य सोदरस्य चासंसृष्टिन' सद्भावे कस्य धनग्रहणमिति विवक्षाया द्वयोर्विभज्य ग्रहणे करणमाह

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत् ।
असंसृष्टयपि वा दद्यात्संसृष्टो नान्यमातृजः ॥ १३९ ॥

अन्योदर्यः सापत्नो भ्राता संसृष्टी धनं हरेत् न पुनः अन्योदर्यो धनं हरेदसंसृष्टी । अनेनान्वयव्यरिरेकाभ्यामन्योदर्यस्य संसृष्टित्वं धनग्रहणे कारणमुक्तं भवति । असंसृष्टीत्येतदुत्तरेणापि संबध्यते । अतश्चासंसृष्टयपि संसृष्टिनो धनमाददीत। कोसावित्यत आह। संसृष्ट इति । संसृष्ट एकोदरसंसृष्टः सोदर इति यावत् । अनेनासंसृष्टस्यापि सोदरस्य धनग्रहणे सोदरत्वं कारणमुक्तम् । संसृष्ट इत्युत्तरेणापि संबध्यते । तत्र च संसृष्टः संसृष्टीत्यर्थः । नान्यमातृजः। अत्रैव शब्दाध्याहारेण व्याख्यानं कार्यम् । संसृष्टयप्यन्यमातृज एव संसृष्टिनो धनं नाददीतेति । एवं चासंसृष्टयपि वा दद्यादित्यपि शब्दश्रवणात् संसृष्टो नान्यमातृज एवेत्यवधारणनिषेधाच्चासंसृष्टसोदरस्य संसृष्टभिन्नोदरस्य च विभज्य ग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । द्वयोरपि धनग्रहणकारणस्यैकैकस्य सद्भावात्। एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना । (अ. ९ श्लो. २१०) विभक्ताः सहजीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदीति संसृष्टिविभागं प्रक्रम्य (अ. ९ श्लो. २११। २१२) येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते । सोदर्या विभजेयुस्तं समेत्य सहिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभय इति वदता येषां भ्रातृणां संसृष्टिनां मध्ये ज्येष्ठः कनिष्ठो मध्यमो वांशप्रदानतोंऽशप्रदाने सार्वविभक्तिकस्तसिः विभागकाल इतियावत्। हीयेत स्वांशात् भ्रश्येत आश्रमान्तरपरिग्रहेण ब्रह्महत्यादिना वा म्रियेत वा तस्य भागो न लुप्यते अतः पृथगुद्धरणीयो न संसृष्टिन एव गृह्णीयुरित्यर्थः तस्योद्धृतस्य विनियोगमाह । सोदर्या विभजेयुस्तमिति । तमुद्धृतं

१ संसृष्टाः सहजीवन्तो इत्यपि पाठान्तरम् ।

क्लीबादिदुहितॄणां विशेषमाह ।

एषां क्लीबादीनां सुता दुहितरो यावद्विवाहसंस्कृता भवन्ति तावद्भरणीयाः चशब्दात्संस्कार्याश्च ॥ १४१ ॥

अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः ।
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥

क्लीबादिपत्नीनां विशेषमाह ।

एषां क्लीबादीनामपुत्राः पत्न्यः साधुवृत्तयः सदाचाराश्चेद्भर्तव्याः भरणीयाः। व्यभिचारिण्यस्तु निर्वास्याः । प्रतिकूलास्तथैव च निर्वास्या भवन्ति भरणीयाश्चाव्यभिचारिण्यश्चेत् । न पुनः प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम् ॥१४१॥

विभजेरन्सुताः पित्रोरित्यत्र स्त्रीपुंधनविभागं संक्षेपेणाभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहितः । इदानीं स्त्रीधनविभागं विस्तरेणाभिधास्यंस्तत्स्वरूपं तावदाह

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥

स्त्रीधन तद्भेदाश्च ।

पित्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च यद्दत्तं यच्च विवाहकालेऽग्नावधिकृत्य मातुलादिभिर्दत्तं आधिवेदनिकं अधिवेदननिमित्तं अधिविन्नस्त्रियै दद्यादिति वक्ष्यमाणं आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत् स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम् । स्त्रीधनशब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः । योगसंभवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। यत्पुनर्मनुनोक्तम् ॥ (अ. ९ श्लो. १९४) अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतमिति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय ॥ अध्यग्न्यादिस्वरूपं च कात्यायनेनाभिहितम् । विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ । तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् । अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम् । प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचिच्छ्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा । पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते ॥ ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः[1] सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतमिति ॥ १४३ ॥

अध्यग्न्यादिस्त्रीधनलक्षणम् ।

बन्धुदत्तं तथा शुल्कं[2] मन्वाधेयकमेव च ।

---

१ भर्तुः सकाशादिति कल्पतर्वादौ पाठान्तरम् । २ गृहोपस्करणादीना यन्मूल्य कन्यार्पणोपाधित्वेन वरादिभ्यः कन्याभरणरूपेण गृह्यते तच्छुल्कमिति मदनरत्ने व्याख्यातम् । उभयत्रापि पित्रादीना कन्याया इदमिति उद्देशो विवक्षित. ॥ यदानेतु भर्तृगृहे शुल्क तत्परिकीर्तितमिति व्यासोक्त वा भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दत्त तच्छुल्कमित्यर्थ इति अन्यथा तत्सत्वाभावेन स्त्रीधनत्वव्यपदेशानुपपत्तेः ॥ वीरमित्रोदयः ॥

श्लोक १९३) यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः । मातामह्याधनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकमिति ॥ दौहित्रीणामप्यभावे दौहित्रा धनहारिणः । यथाह नारदः । मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितॄणां तदन्वय इति तच्छब्देन सन्निहितदुहितृपरामर्शात् ॥ दौहित्राणामभावे पुत्रा गृह्णन्ति । ताभ्य ऋतेऽन्वय इत्युक्तत्वात् । मनुरपि दुहितॄणां पुत्राणां च मातृधनसंबन्धं दर्शयति ॥ (अ० ९ श्लो० १९२) जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः । भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभय इति । मातृकं रिक्थं सर्वे सहोदराः भजेरन् सनाभयः समं भगिन्यश्च समं भजेरन्निति संबन्धः । न पुनः सहोदरा भगिन्यश्च संभूय भजेरन्निति । इतरेतरयोगस्य द्वन्द्वैकशेषाभावादप्रतीतेः । विभागकर्तृत्वान्वयेनापि चशब्दोपपत्तेः । यथा देवदत्तः कृषिं कुर्याद्यज्ञदत्तश्चेति । समग्रहणमुद्धारविभागनिवृत्त्यर्थम् । सोदरग्रहणं भिन्नोदरनिवृत्त्यर्थम् । अनपत्यहीनजातिस्त्रीधनं तु भिन्नोदराप्युत्तमजातीयसपत्नीदुहिता गृह्णाति । तदभावे तदपत्यम् । तथाच मनुः । (अ. ९ श्लो. १९८) स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन । ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेदिति । ब्राह्मणीग्रहणमुत्तमजात्युपलक्षणम् । अतश्चानपत्यवैश्याधनं क्षत्रिया कन्या गृह्णाति । पुत्राणामभावे पौत्राः पितामही धनहारिणः । रिक्थभाजऋणं प्रतिकुर्युरिति गौतमस्मरणात् । पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमिति पौत्राणामपि पितामह्यृणपाकरणेऽधिकारात् । पौत्राणामप्यभावे पूर्वोक्तभर्त्रादयो बान्धवा धनहारिणः ॥ १४५ ॥

स्त्रीधनप्रसंगेन वाग्दत्ताविषयं किंचिदाह

दत्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च सोदयम् ।

वाग्दत्तकन्याहरणे दण्डः ।

कन्यां वाचा दत्वापहरन् द्रव्यानुबन्धाद्यनुसारेण राज्ञा दण्डनीयः । एतच्चापहरणकारणाभावे । सति तु कारणे दत्तामपि हरेत्कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेदित्यपहाराभ्यनुज्ञानान्न दण्ड्यः । यच्च वाग्दाननिमित्तं वरेण स्वसंबन्धिनां कन्यासंबन्धिनां वोपचारार्थं धनं व्ययीकृतं तत्सर्वं सोदयं सवृद्धिकं कन्यादाता वराय दद्यात् ॥

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्कारात्प्राक् म्रियते तदा किं कर्तव्यमित्यत आह

मृतायां दत्तमादद्यात्परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

वाग्दानोत्तर कन्यामरणे निर्णयः ।

यदि वाग्दत्ता मृता तदा यत्पूर्वमङ्गुलीयकादि शुल्कं वा वरेण दत्तं तद्वर आददीत । परिशोध्योभयव्ययम् । उभयोरात्मनः कन्यादातुश्च यो व्ययस्तं परिशोध्य विगणय्यावशिष्टमाददीत । यत्तु कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिरोभूषणादिकं वा क्रमागतं तत्सहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः । रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुरिति बौधायनस्मरणात् ॥ १४६ ॥

विभागस्य निह्नवेविभागनिर्णयः ।

यौतकैः पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैश्च । पृथक्कृष्यादि कार्यप्रवर्तनं पृथक् पञ्चमहायज्ञादिधर्मानुष्ठानं च नारदेन विभागलिङ्गमुक्तम् । भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते । विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक् पृथगिति ॥ तथापराण्यपि विभागलिङ्गानि तेनैवोक्तानि । साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च । विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः कथंचनेति ॥ १४९ ॥ इति रिक्थविभागप्रकरणम्

अथ सीमाविवादप्रकरणम् ९

सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः ।
गोपाः सीमाकृषाणा ये सर्वे च वनगोचराः ॥ १५० ॥
नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः ।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम् ॥ १५२ ॥

ग्रामद्वयसंबन्धिनः क्षेत्रस्य सीम्नो विवादे तथैकग्रामान्तर्वर्तिक्षेत्रमर्यादा विवादे च सामन्तादयः स्थलाङ्गारादिभिः पूर्वक्तैः सीमालक्षणैरुपलक्षितां चिह्नितां सीमां नयेयुः निश्चिनुयुः ॥

अधुना सीमाविवादनिर्णय उच्यते ।

सीमा क्षेत्रादिमर्यादा सा चतुर्विधा । जनपदसीमा ग्रामसीमा क्षेत्रसीमा गृहसीमा चेति ॥ सा च यथासंभवं पञ्चलक्षणा । तदुक्तं नारदेन । ध्वजिनी मत्स्यिनी चैव नैधानी भयवर्जिता । राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृतेति ॥ ध्वजिनी वृक्षादिलक्षिता । वृक्षादीनां प्रकाशत्वेन ध्वजतुल्यत्वात् । मत्स्यिनी सलिलवती । मत्स्यशब्दस्य स्वाधारजललक्षणत्वात् । नैधानी निखाततुषाङ्गारादिमती । तेषां निखातत्वेन निधानतुल्यत्वात् । भयवर्जिता अर्थिप्रत्यर्थिपरस्परसंप्रतिपत्तिनिर्मिता । राजशासननीता ज्ञातृचिह्नाभावे राजेच्छया निर्मिता । एवंभूतायां षोढा विवादः संभवति । यथाह कात्यायनः । आधिक्यन्यूनता चांशे अस्ति नास्तित्वमेव च । अभोगभुक्तिः सीमा च षड्भूवादस्य हेतव इति ॥ तथाहि । ममात्र पञ्चनिवर्तनाया भूमेरधिका भूरस्तीति केनचिदुक्ते पञ्चनिवर्तनैव नाधिकेत्याधिक्ये विवादः । पञ्चनिवर्तना मदीया भूमिरित्युक्तेन ततो न्यूनैवेति न्यूनतायाम् । पञ्चनिवर्तनो ममांश इत्युक्ते अंश एव नास्तीत्यस्तिनास्तित्वविवादः संभवति । मदीया भूः प्रागविद्यमानभोगैव भुज्यते इत्युक्ते न सन्तता चिरन्तन्येव मे भुक्तिरित्यभोगभुक्तौ विवादः । इयं मर्यादेयं वेति सीमाविवाद इति षट्प्रकार एव विवादः संभवति । षट्प्रकारेऽपि भूविवादे श्रुत्यर्थाभ्यां सीमाया अपि निर्णीयमानत्वात् सीमानिर्णयप्रकरणे तस्यान्तर्भावः । समन्ताद्भवाः सामन्ताः । चतसृषु दिक्ष्वनन्तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीमं

---

१ यौतकैः पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैरिति विशेषणविशेष्यभावः ।

क्रम्। मनुः (अ.८ श्लो.२९८) साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सीमान्तवासिनः। सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधाविति॥ तदभावे तत्संसक्तादीनां निर्णेतृत्वम्। यथाह कात्यायनः। स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात्। तत्संसक्तैस्तु कर्तव्य उद्धारो नात्र संशयः॥ संसक्तसक्तदोषे तु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः। कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञा धर्मं विजानतेति। सामन्ताद्यभावे मौलादयो ग्राह्याः। तेषामभावे सामन्तमौलवृद्धोद्धृतादयः। स्थावरे षट्प्रकारेऽपि कार्या नात्र विचारणेति कात्यायनेन क्रमविधानात्। एते च सामन्तादयः संख्यागुणातिरेकेण संभवन्ति। सामन्ताः साधनं पूर्वं निर्दोषाः स्युर्गुणान्विताः। द्विगुणास्तूत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्ये त्रिगुणा मता इति स्मरणात्॥ तेच साक्षिणः सामन्तादयश्च स्वैः शपथैः शापिताः सन्तः सीमां नयेयुः। (अ० ८ श्लो० २९६) शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः। सुकृतैः शापिताः स्वै स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसमिति मनुस्मरणात्। नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैकस्य। एकश्चेदुन्नयेत्सीमां सोवपासः समुन्नयेत्। रक्तमाल्याम्बरधरो भूमिमादाय मूर्धनीति नारदेनैकस्याभ्यनुज्ञानात्॥ योऽयं नैकः समुन्नयेत्सीमां नरः प्रत्ययवानपि। गुरुत्वादस्य कार्यस्य क्रियैषा बहुषु स्थितेत्येकस्य निषेधः स उभयानुमतधर्मविद्व्यतिरिक्तविषय इत्यविरोधः॥ स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षीसामन्तादीनां सीमाज्ञान उपायविशेषो नारदेनोक्तः। निम्नगापहृतोत्सृष्टनष्टचिह्नासु भूमिषु। तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाद्भोगदर्शनादिति। निम्नगाया नद्या अपहृतेनापहरणेनोत्सृष्टानि स्वस्थानात्प्रच्युतानि नष्टानि वा लिङ्गानि यासु मर्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानादुत्सृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीनप्रदेशानुमानात् ग्रामादारभ्य सहस्रदण्डपरिमितं क्षेत्रमस्य ग्रामस्य पश्चिमे भागे इत्येवंविधात्प्रमाणाद्वा प्रत्यर्थिसमक्षमविप्रतिपन्नाया अस्मार्तकालोपलक्षितभुक्तेर्वा निश्चिनुयुः॥ बृहस्पतिना चात्र विशेषो दर्शितः। आगमं च प्रमाणं च भोगकालं च नाम च। भूभागलक्षणं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिण इति॥ एते च साक्षिसामन्तादयः शपथैः श्राविताः सन्तः कुलादिसमक्षं राज्ञा प्रष्टव्याः। यथाह मनुः (अ. ८ श्लो. २९४) ग्रामेयककुलानां तु समक्षं सीम्नि साक्षिणः। प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोरिति। तेच पृष्टाः साक्ष्यादयः ऐकमत्येन समस्ताः सीम्नि निर्णयं ब्रूयुः। तैर्निर्णीतां सीमानं तत्प्रदर्शितसकललिङ्गयुक्तां साक्ष्यादिनामान्वितां चाविस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत्। उक्तंच मनुना (अ. ८ श्लो. २६१) ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निर्णयम्। निवध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामत इति॥ एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां सीमाचङ्क्रमणदिनादारभ्य यावत्त्रिपक्षं राजदैविकं व्यसनं चेन्नोत्पद्यते तदा तत्प्रदर्शनात्सीमानिर्णयः। अयं च राजदैविकव्यसनावधिः कात्यायनेनोक्तः। सीमाचङ्क्रमणे कोशे पादस्पर्शे तथैव च। त्रिपक्षपक्षसप्ताहं दैवराजिकमिष्यत इति॥ १९२॥

यदा त्वमीषामुक्तसाक्ष्यवचसां त्रिपक्षाभ्यन्तरे रोगादि दृश्यते अथवा प्रतिवादिनिर्दिष्टाभ्यधिकसंख्यागुणसाक्ष्यन्तरविरुद्धवचनता तदा ते मृषाभाषितया दण्डनीयास्तदाह

अनृते तु पृथक् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्।

क्षणो विधिर्ज्ञातव्यः । तथा प्रवर्षणोद्भूतजलप्रवाहेषु अनयोर्गृहयोर्मध्येन जलौघः प्रवहति अनयोर्वेत्येवंप्रकारे विवादे आदिग्रहणात्प्रासादेष्वपि प्राचीन एव विधिर्वेदितव्यः । तथाच कात्यायनः । क्षेत्रकूपतडागानां केदारारामयोरपि । गृहप्रासादावसथनृपदेवगृहेषु चेति ॥१५४॥

सीमानिर्णयमुक्त्वा तत्प्रसंगेन मर्यादाप्रभेदनादौ दण्डमाह

मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा ।
क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः ॥ १५५ ॥

अनेकक्षेत्रव्यवच्छेदिका साधारणा भूर्मर्यादा तस्याः प्रकर्षेण भेदने सीमातिक्रमणे सीमानमतिलंध्य कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिप्रदर्शनेन हरणे यथाक्रमेण अधमोत्तममध्यमसाहसा दण्डा वेदितव्याः । क्षेत्रग्रहणं चात्र गृहारामाद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनः स्वीयभ्रान्त्या क्षेत्रादिकमपहरति तदा द्विशतो दमो वेदितव्यः यथाह मनुः । (अ. ८ श्लो. १६४) गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्विशतो दम इति । अपह्रियमाणक्षेत्रादिभूयस्त्वपर्यालोचनया कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः । अतएवाह । वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने । तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहस इति ॥ १५५ ॥

मर्यादादीनामभेदादिषुदण्डाः ।

यः पुनः परक्षेत्रे सेतुकूपादिकं प्रार्थनयार्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमिच्छति तन्निषेधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्याह

न निषेध्योऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ।
परभूमिं हरन्कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः ॥ १५६ ॥

परकीयां भूमिमपहरन् नाशयन्नपि सेतुर्जलप्रवाहबन्धः क्षेत्रस्वामिना न प्रतिषेध्यः स चेदीषत्पीडाकरो बहूपकारकश्च भवति । कूपश्चाल्पक्षेत्रव्यापित्वेनाल्पबाधो बहूदकत्वेन कल्याणकारकश्चातो बहूदको नैव निवारणीयः । कूपग्रहणं च वापीपुष्करिण्याद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनरसौ सर्वक्षेत्रवर्तितया बहुबाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्तितया अल्पोपकारकस्तदासौ निषेध्य इत्यर्थादुक्तं भवति ॥ सेतोश्च द्वैविध्यमुक्तं नारदेन । सेतुश्च द्विविधो ज्ञेयः खेयो बन्ध्यस्तथैव च । तोयप्रवर्तनात्खेयो बन्ध्यः स्यात्तन्निवर्तनादिति ॥ यदा त्वन्यनिर्मितं सेतुं भेदनादिना नष्टं स्वयं संस्करोति तदा पूर्वस्वामिनं तद्वंश्यं नृपं वा दृष्ट्वैव संस्कुर्यात् । यथाह नारदः । पूर्वप्रवृत्तमुत्सन्नमदृष्ट्वा स्वामिनं तु यः । सेतुं प्रवर्तयेत्कश्चिन्न स तत्फलभाग्भवेत् ॥ मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये वापि मानवे । राजानमामन्त्र्य ततः कुर्यात्सेतुप्रवर्तनमिति ॥ १५६ ॥

सेतोर्निषेधकस्य क्षेत्रस्वामिन एव दण्डः ।

यदि पशवः परक्षेत्रे सस्यं भक्षयित्वा तत्रैवानिवारिताः शेरते तदा यथोक्ताद्दण्डाद्द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । सवत्सानां पुनर्भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्ताच्चतुर्गुणो दण्डो वेदितव्यः । वसतां द्विगुणः प्रोक्तः सवत्सानां चतुर्गुण इति वचनात् ॥

क्षेत्रान्तरे पश्वन्तरे वातिदेशमाह

सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥

विवीतः प्रचुरतृणकाष्ठो रक्ष्यमाणः परिगृहीतो भूप्रदेशः तदुपघातेऽपीतरक्षेत्रदण्डेन समं दण्डमेषां महिष्यादीनां विद्यात् । खराश्च उष्ट्राश्च खरोष्ट्रं तन्महिषीसमम् । महिषी यत्र तादृशेन दण्डेन दण्ड्यते तत्र तादृशेनैव दण्डेन खरोष्ट्रमपि प्रत्येकं दण्डनीयम् । सस्योपरोधकत्वेन खरोष्ट्रयोः प्रत्येकं महिषीतुल्यत्वाद्दण्डस्य चापराधानुसारित्वात्खरोष्ट्रमिति समाहारो न विवक्षितः ॥ १६० ॥

परसस्यविनाशे गोस्वामिनो दण्ड उक्तः इदानीं क्षेत्रस्वामिने फलमप्यसौ दापनीय इत्याह

यावत्सस्यं विनश्येत्तु तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलम् ।
गोपस्ताड्यस्तु गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥ १६१ ॥

सस्यग्रहणं क्षेत्रोपचयोपलक्षणार्थम् । यस्मिन्क्षेत्रे यावत्पलालधान्यादिकं गवादिभिर्विनाशितं तावत्क्षेत्रफलमेतावति क्षेत्रे एतावद्भवतीति सामन्तैः परिकल्पितं तत्क्षेत्रस्वामिने गोमी दापनीयः । गोपस्तु ताडनीय एव न फलं दापनीयः । गोपस्य ताडनं पूर्वोक्तधनदण्डसहितमेव पालदोषेण सस्यनाशे द्रष्टव्यम् । या नष्टा पालदोषेण गौस्तु सस्यानि नाशयेत् । न तत्र गोमिनां दण्डः पालस्तं दण्डमर्हतीति वचनात् ॥ गोमी पुनः स्वापराधेन सस्यनाशे पूर्वोक्तं दण्डमेवार्हति न ताडनम् । फलदानं पुनः सर्वत्र गोस्वामिन एव । तत्फलपुष्टमहिष्यादिक्षीरेणोपभोगद्वारेण तत्क्षेत्रफलभागित्वात् । गवादिभक्षितावशिष्टं पलालादिकं गोस्वामिनैव गृहीतव्यम् । मध्यस्थकल्पितमूल्यदानेन क्रीतप्रायत्वात् । अतएव नारदः । गोभिस्तु भक्षितं सस्यं यो नरः प्रतियाचते । सामन्तानुमतं देयं धान्यं यत्तत्र वापितम् ॥ पलालं गोमिनो देयं धान्यं वै कर्षकस्य त्विति ॥ १६१ ॥

पथि ग्रामविवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ।
अकामतः कामचारे चौरवद्दण्डमर्हति ॥ १६२ ॥

क्षेत्रविशेषे अपवादमाह ।

पथि ग्रामसमीपवर्तिनि क्षेत्रे ग्रामविवीतसमीपवर्तिनि च क्षेत्रे अकामतो गोभिर्भक्षिते गोपगोमिनोर्द्वयोरप्यदोषः । दोषाभावप्रतिपादनं दण्डाभावार्थं विनष्टसस्यमूल्यदानप्रतिषेधार्थं च । कामचारे कामतश्चारणे चौरवत् चौरस्य यादृशो दण्डस्तादृशं दण्डमर्हति । एतच्चानावृतक्षेत्रविषयम् । (मनु. अ. ८ श्लो. २३८) यत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि न । तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशु-

पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते ।
अर्धत्रयोदशपणः स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥

किंच । पालदोषेण पशुविनाशे अर्धाधिकत्रयोदशपणं दण्डं पालो दाप्यः । स्वामिनश्च द्रव्यं विनष्टपशुमूल्यं मध्यस्थकल्पितम् । दण्डपरिमाणार्थः श्लोकोऽन्यत्पूर्वोक्तमेव ॥ १६५ ॥

ग्रामेच्छया गोप्रचारो भूमी राजवशेन वा ।
द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि सर्वतः सर्वदा हरेत् ॥ १६६ ॥

गोप्रसङ्गात् गोप्रचारमाह ।

ग्रामेच्छया ग्राम्यजनेच्छया भूम्यल्पत्वमहत्त्वापेक्षया राजेच्छया वा गोप्रचारः कर्तव्यः । गवादीनां प्रचारणार्थं कियानपि भूभागोऽकृष्टः परिकल्पनीय इत्यर्थः । द्विजस्तृणेन्धनाद्यभावे गवाग्निदेवतार्थं तृणकाष्ठकुसुमानि सर्वतः स्ववदनिवारित आहरेत् । फलानि त्वपरिवृतादेव । गोग्न्यर्थं तृणमेधांसि वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानामिति गौतमस्मरणात् । एतच्च परिगृहीतविषयम् । अपरिगृहीते द्विजव्यतिरिक्तस्यापि परिग्रहादेव स्वत्वसिद्धेः । यथा तेनैवोक्तम् । स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेष्विति । यत्पुनरुक्तम् । तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् । अनापृच्छन् हि गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हतीति तद्विजव्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा । गवादिव्यतिरिक्तविषयं वेति ॥ १६६ ॥

इदमपर गवादीनां स्थानासनसौकर्यार्थमुच्यते

धनुःशतं परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत् ।
द्वे शते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥

गवादिप्रचारार्थं क्षेत्रपरिमाणम् ।

ग्रामक्षेत्रयोरन्तरं धनुःशतपरिमितं परीणाहः । सर्वतोदिशं अनुप्तसस्यं कार्यम् । खर्वटस्य प्रचुरकण्टकसन्तानस्य ग्रामस्य द्वे शतं परीणाहः । नगरस्य बहुजनसंकीर्णस्य धनुषां चतुःशतपरिमितमन्तरं कार्यम् ॥ १६७ ॥

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम् ॥

---

१ अर्धत्रयोदशपण. अर्धरहितत्रयोदशपणः सार्धद्वादशपण इति यावत् । तास्तृतीयपूर्वपदा. समानाधिकरणेन समस्यन्त उत्तरपदलोपश्चेति वार्तिकादुत्तरपदलोपी कर्मधारयः । यत्तु विज्ञानेश्वरेणार्धाधिकत्रयोदशपणो दण्ड इतिव्याख्यातं तत् सार्धद्विमात्रादिषु अर्धत्रिमात्रादि महाभाष्यकारशब्दप्रयोगदर्शनादुपेक्ष्यम् ।

यद्यसौ गृहीतः क्रेता न मयेदमपहृतमन्यसकाशात्क्रीतमिति वक्ति तदा तस्य क्रेतुर्वि-क्रेतुर्दर्शनमात्रेण शुद्धिर्भवति । न पुनरसावभियोज्यः । किंतु तत्प्रदर्शितेन विक्रेत्रा सह नाष्टिकस्य विवाहः । यथाह बृहस्पतिः । मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथंचन । मूले-न सह वादस्तु नाष्टिकस्य विधीयत इति ॥ तस्मिन् विवादे यद्यस्वामिविक्रयनिश्चयो भ-वति तदा तस्य नष्टापहृतस्य गवादिद्रव्यस्य यो विक्रयी विक्रेता तस्य सकाशात्स्वामी नाष्टिकः स्वीयं द्रव्यमवाप्नोति । नृपश्चापराधानुरूपं दण्डं क्रेता च मूल्यमवाप्नोति । अथासौ देशांतरगतस्तदा योजनसंख्ययानयनार्थं कालो देयः । प्रकाशं वा क्रयं कुर्यान्मूलं वापि स-मर्पयेत् । मूलानयनकालश्च देयस्तत्राध्वसंख्ययेति स्मरणात् ॥ अथाविज्ञातदेशतया मूलमा-हर्तुं न शक्नोति तदा क्रयं शोधयित्वैव शुद्धो भवति । असमाहार्यमूलस्तु क्रयमेव विशोधये-दिति वचनात् ॥ यदा पुनः साक्ष्यादिभिर्दिव्येन वा क्रयं न शोधयति मूलं च न प्रदर्शयति तदा सएव दण्डभाग्भवतीति । अनुपस्थापयन्मूलं क्रयं वाप्यविशोधयन् । यथाभियोगं धनिने धनं दाप्यो दमं च स इति मनुस्मरणात् ॥ १७० ॥

स्वं लभेतान्यविक्रीतमित्युक्तं तल्लिप्सुना किं कर्तव्यमित्यत आह

आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ।
पञ्चबन्धो दमस्तस्य राज्ञे तेनाविभाविते ॥ १७१ ॥

आगमेन रिक्थक्रयादिना उपयोगेन च मदीयमिदं द्रव्यं तच्चैवं नष्टमपहृतं वेत्यपि भाव्यं साधनीयं तत्स्वामिना । अतोऽन्यथा तेन स्वामिना अविभाविते पञ्चबन्धो नष्टद्रव्यस्य पञ्चमांशो दमो नाष्टिकेण राज्ञे देयः । अत्र चायं क्रमः । पूर्वस्वामी नष्टमा-त्मीयं साधयेत् । ततः क्रेता चौर्यपरिहारार्थं मूल्यलाभाय च विक्रेतारं आनयेत् । अथानेतुं न शक्नोति तदात्मदोषपरिहाराय क्रयं शोधयित्वा द्रव्यं नाष्टिकस्य समर्पयेदिति ॥ १७१ ॥

नष्टवस्तुनिश्चयोपायाः ।

हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् ।
अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान् ॥ १७२ ॥

हृतं प्रनष्टं वा चौरादिहस्तस्थं द्रव्यमनेन मदीयं द्रव्यमपहृतमिति नृपस्यानिवेद्यैव दर्पा-दिना यो गृह्णाति असौ षडुत्तरान् नवतिं पणान् दण्डनीयः । तस्करप्रच्छा-दकत्वेन दुष्टत्वात् ॥ १७२ ॥

तस्करस्य प्रच्छादक प्रत्याह ।

राजपुरुषानीत प्रत्याह

शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ।
अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः ॥ १७३ ॥

स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं

स्वमात्मीयं कुटुम्बाविरोधेन कुटुम्बापरोधेन कुटुम्बभरणावशिष्टमिति यावत्तद्द्यात् । तद्भरणस्यावश्यकत्वात् । तथाच मनुः । (अ. ८ श्लो. ३९) वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीदिति । कुटुम्बाविरोधेनेत्यनेनादेयमेकविधं दर्शयति । स्वं दद्यादित्यनेन चास्वभूतानामन्वाहितयाचितकाधिसाधारणनिक्षेपाणां पञ्चानामप्यदेयत्वं व्यतिरेकतो दर्शितम् । यत्पुनर्नारदेनाष्टविधत्वमदेयानामुक्तम् । अन्वाहितं याचितकमाधिः साधारणं च यत् । निक्षेपः पुत्रदारांश्च सर्वस्वं चान्वये सति ॥ आपत्स्वपि च कष्टासु वर्तमानेन देहिना । अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतमिति ॥ एतददेयत्वमात्राभिप्रायेण । न पुनः स्वत्वाभावाभिप्रायेण । पुत्रदारसर्वस्वप्रतिश्रुतेषु स्वत्वस्य सद्भावात् ॥ अन्वाहितादीनां स्वरूपं प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥

अदेयम् ।

स्व दद्यादित्यनेन दारसुतादेरपि स्वत्वाविशेषेण देयत्वप्रसङ्गे प्रतिषेधमाह

दारसुतादृते ।
नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ १७५ ॥

दारसुतादृते दारसुतव्यतिरिक्तं स्वं दद्यान्न दारसुतमित्यर्थः । तथा पुत्रपौत्राद्यन्वये विद्यमाने सर्वं धनं न दद्यात् । पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वृत्तिं चैषां प्रकल्पयेदिति स्मरणात् । तथा हिरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिश्रुतमन्यस्मै न देयम् ॥ १७५ ॥

एवं दारसुतादिव्यतिरिक्त देयमुक्त्वा प्रसङ्गाददेयधनग्रहणं च प्रतिग्रहीत्रा प्रकाशमेव कर्तव्यमित्याह

प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः ।

प्रतिग्रहणं प्रतिग्रहः सः प्रकाशः कर्तव्यः विवादनिराकरणार्थम् । स्थावरस्य च विशेषतः प्रकाशमेव ग्रहणं कार्यम् । तस्य सुवर्णादिवदात्मनि स्थितस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुसरन्नाह

देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्वा नापहरेत्पुनः ॥ १७६ ॥

देयं प्रतिश्रुतं चैव । यद्यस्मै धर्मार्थं प्रतिश्रुतं तत्तस्मै देयमेव यद्यसौ धर्मात्प्रच्युतो न भवति । प्रच्युते न पुनर्दातव्यम् । प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यादिति गौतमस्मरणात् । दत्वा नापहरेत्पुनः । न्यायमार्गेण यद्दत्तं तत्सप्तविधमपि पुनर्नापहर्तव्यम् । किंतु तथैवानुमन्तव्यम् । यत्पुनरन्यायेन दत्तं तददत्तं षोडशप्रकारमपि प्रत्याहर्तव्यमेवेत्यर्थादुक्तं भवति ।

दत्तादत्तस्वरूपम्

नारदेन च दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकमिति प्रतिपाद्य दत्तादत्तयोः स्वरूपं विवृतम् । पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः । स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः ॥ अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुगन्वितैः । तथोत्कोच-

बीजादिक्रये पुनरन्य एव प्रत्यर्पणविधिरित्याह

दशैकपञ्चसप्ताहमासत्र्यहार्धमासिकम् ।
बीजायोवाह्यरत्नस्त्रीदोह्यपुंसां परीक्षणम् ॥ १७७ ॥

बीजं व्रीह्यादिबीजम् । अयो लोहादि । वाह्यो बलीवर्दादिः । रत्नं मुक्ताप्रवालादिकम् । स्त्री दासी । दोह्यं माहिष्यादि । पुमान् दासः । एषां बीजादीनां यथाक्रमेण दशाहादिकः परीक्षाकालो विज्ञेयः । परीक्ष्यमाणे च बीजादौ यद्यसम्यक्त्वबुद्ध्यानुशयो भवति तदा दशाहाभ्यन्तर एव क्रयनिवृत्तिर्नपुनरूर्ध्वमित्युपदेशप्रयोजनम् ॥ यत्तु मनुवचनम् । (अ. ८ श्लो. २२२) क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत् । सोऽन्तर्दशाहात् तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत चेति । तदुक्तलोहादिव्यतिरिक्तोपभोगविनश्वरगृहक्षेत्रयानशयनासनादिविषयम् । सर्वं चैतदपरीक्षितक्रीतविषयम् । यत्पुनः परीक्ष्य न पुनः प्रत्यर्पणीयमिति समयं कृत्वा क्रीतं तद्विक्रेत्रे न प्रत्यर्पणीयम् । तदुक्तम् । क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक् स्वयं गुणदोषतः । परीक्ष्याभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनरिति ॥ १७७ ॥

दोह्यादिपरीक्षाप्रसङ्गेन स्वर्णादेरपि परीक्षामाह

अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते ।
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि ॥ १७८ ॥

वह्नौ प्रताप्यमानं सुवर्णं न क्षीयते अतः कटकादिनिर्माणार्थं यावत्स्वर्णकारहस्ते प्रक्षिप्तं तावत्तुलितं तैः प्रत्यर्पणीयम् । इतरथा क्षयं दाप्या दण्ड्याश्च । रजते तु शतपले प्रताप्यमाने पलद्वयं क्षीयते । अष्टौ त्रपुणि सीसे च शत इत्यनुवर्तते । त्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽष्टौ पलानि क्षीयन्ते । ताम्रे पञ्च दशायसि ताम्रे शतपले पञ्चपलानि । अयसि दशपलानि क्षीयन्ते । अत्रापि शत इत्येव । कांस्यस्य तु त्रपुताम्रयोनित्वात्तदनुसारेण क्षयः कल्प्यः । इतोऽधिकक्षयकारिणः शिल्पिनो दण्ड्याः ॥ १७८ ॥

शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पाससौत्रिके ।
मध्ये पञ्चपला वृद्धिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥ १७९ ॥

स्थूलेनौर्णसूत्रेण यत्कम्बलादिकं क्रियते तस्मिन् शतपले दशपला वृद्धिर्वेदितव्या । एवं कार्पाससूत्रनिर्मिते पटादौ वेदितव्यम् । मध्ये अनतिसूक्ष्मनिर्मिते पटादौ पञ्चपला वृद्धिः । सूक्ष्मसूत्ररचिते शते त्रिपला वृद्धिर्वेदितव्या । एतच्चाप्रक्षालितवासो विषयम् ॥ १७९ ॥

क्वचित्कम्बलादौ वृद्धिमाह ।

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः ।

दासभेदाः।

क्रीतो लब्धो दायादुपागतः। अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः॥ मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धप्राप्तः पणे जितः। तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः॥ भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः। विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः॥ गृहे दास्यां जातो गृहजातः। क्रीतो मूल्येन। लब्धः प्रतिग्रहादिना। दायादुपागतः पित्रादिदासः। अनाकालभृतो दुर्भिक्षे यो दासत्वाय मरणाद्रक्षितः। आहितः स्वामिना धनग्रहणेनाधितां नीतः। ऋणमोचनेन दासत्वमभ्युपगतः ऋणदासः। युद्धप्राप्तः समरे विजित्य गृहीतः। पणे जितः यद्यस्मिन् विवादे पराजितोऽहं तदा त्वद्दासो भवामीति परिभाष्य जितः। तवाहमित्युपगतः तवाहं दास इति स्वयं संप्रतिपन्नः। प्रव्रज्यावसितः प्रव्रज्यातश्च्युतः। कृतः एतावत्कालं त्वद्दास इति अभ्युपगमितः। भक्तदासः सर्वकालं भक्तार्थमेव दासत्वमभ्युपगम्य यः प्रविष्टः। वडवाहृतः वडवा गृहदासी तयाहृतः तल्लोभेन तामुद्वाह्य दासत्वेन प्रविष्टः। य आत्मानं विक्रीणीते असावात्मविक्रेतेत्येवं पञ्चदशप्रकाराः॥ यत्तु मनुना (अ. ८ श्लो. ४१९) ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ। पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनय इति सप्तविधत्वमुक्तं तत्तेषां दासत्वप्रतिपादनपरम्। नतु परिसंख्यार्थम्। तत्रैषां शिष्यान्तेवासिभृतकाधिकर्मकृद्दासानां मध्ये शिष्यवृत्तिः प्रागेव प्रतिपादिता। आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेदित्यादिनां॥ अधिकर्मकृद्भृतकानां तु वेतनादानप्रकरणे वक्ष्यते। यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनमित्यादिना॥

दासान्तेवासिनोस्तु धर्मविशेषं वक्तुमाह

बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते।
स्वामिप्राणप्रदो भक्तत्यागात्तन्निष्क्रयादपि॥ १८२॥

बलात् बलावष्टम्भेन यो दासीकृतः। यश्चौरैरपहृत्य विक्रीतः अपिशब्दादाहितो दासश्च समुच्यते। यदि स्वामी न मुञ्चति तर्हि राज्ञा मोचयितव्यः। उक्तं च नारदेन। चौरापहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात्। राज्ञा मोचयितव्यास्ते दास्यं तेषु हि नेष्यत इति॥ चौरव्याघ्राद्यवरुद्धस्य स्वामिनः प्राणान् यः प्रददाति रक्ष[illegible]सावपि मोचयितव्यः। तदिदं सर्वदासानां साधारणं दास्यनिवृत्तिकारणम्। यो वैषां [illegible] कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात्। दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत चेति [illegible]रणात्॥ भक्तदासादीनां प्राति[illegible]पि मोक्षकारणमुच्यते। अनाकालभृत[illegible]क्तदासौ भक्तस्य त्यागाद्दासभावादारभ्य स्व[illegible]व्यं यावदुपभुक्तं तावद्दत्वा मुच्येते। आहितर्णदासौ तु तन्निष्क्रयात्। यद्गृहीत्वा स्वा[illegible] आहितो यच्च दत्वा धनिनोत्तमर्णान्मोचितस्तस्य निष्क्रयात्सवृद्धिकस्य प्रत्यर्पणान्मुच्यते। नारदेन विशेषोऽप्युक्तः। अनाकालभृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत्। संभक्षितं यद्दुर्भिक्षे न तच्छुद्ध्येत कर्मणा॥ भक्तस्योत्क्षेपणात्सद्यो भक्तदासः प्रमुच्यते। आहितोऽपि धनं दत्वा स्वामी यद्येनमुद्धरेत्॥ ऋणं तु सोदयं दत्वा ऋणी [illegible] गति॥ तथा तवाहमित्युपगतयुद्धप्राप्तपणजितकृतकवडवाहृतानां च प्रातिस्विकं [illegible]णं च तेनैवोक्तम्।

अथ संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५

संप्रति संविद्व्यतिक्रमः कथ्यते । तस्य च लक्षणं नारदेन व्यतिरेकमुखेन दर्शितम् । पाखण्डिनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते । समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतमिति ॥ पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थानं समयस्तस्यानपाकर्माव्यतिक्रमः परिपालनं तद्व्यतिक्रम्यमाणं विवादपदं भवतीत्यर्थः ॥ १८४ ॥

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्न्यस्य तत्र तु ।
त्रैविद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात्स्वधर्मः पाल्यतामिति ॥ १८५ ॥

राजा स्वपुरे दुर्गादौ स्थानं धवलगृहादिकं कृत्वा तत्र ब्राह्मणान् न्यस्य स्थापयित्वा तद्ब्राह्मणव्रातं त्रैविद्यं वेदत्रयसंपन्नं वृत्तिमद्धिरण्यादिसंपन्नं च कृत्वा स्वधर्मो वर्णाश्रमनिमित्तः श्रुतिस्मृतिविहितो भवद्भिरनुष्ठीयतामिति तान् ब्राह्मणान् ब्रूयात् ॥ १८५ ॥

तदुपक्रमार्थं किंचिदाह ।

एवं नियुक्तैस्तैर्यत्कर्म कर्तव्यं तदाह

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥ १८६ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मानुपमर्देन समयान्निष्पन्नो यो धर्मो गोप्रचारोदकरक्षणदेवगृहपालनादिरूपः सोऽपि यत्नेन पालनीयः । तथा च राज्ञा च निजधर्माविरोधेनैव यः सामयिको धर्मो यावत्पथिकं भोजनं देयमस्मदरातिमण्डलं तुरङ्गादयो न प्रस्थापनीया इत्येवं रूपः सोपि रक्षणीयः ॥ १८६ ॥

श्रोत्रियादीनां धर्मः ।

एवं समयधर्मः परिपालनीय इत्युक्त्वा तदतिक्रमादौ दण्डमाह

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ १८७ ॥

यः पुनर्गणस्य ग्रामादिजनसमूहस्य संबन्धि साधारणं द्रव्यमपहरति । संवित्समयस्तां समूहकृतां राजकृतां वा यो लङ्घयेदतिक्रामेत्तदीयं सर्व धनमपहृत्य स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेन्निष्कासयेत् । अयं च दण्डोऽनुबन्धाद्यतिशये द्रष्टव्यः ॥

समयधर्मातिक्रमे दण्डः ।

अनुबन्धाल्पत्वे तु मनुः (अ. ८ श्लो. २१९।२२०) यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् । निगृह्य दापयेदेनं समयव्यभिचारिणम् । चतुः सुवर्ण षण्णिष्कं शतमानं च राजतमिति मनुप्रतिपादितदण्डानां निर्वासनचतुःसुवर्णषण्णिष्कशतमानानां चतुर्णामन्यतमो जातिशक्त्याद्यपेक्षया कल्पनीयः ॥

१ पाखण्डिनः वेदमार्गविरोधिनो वाणिज्यादिकराः । नैगमास्तदविरोधिनः । आदिपदेन त्रैविद्या गृह्यन्ते ॥

नेत्यादिना प्रतिपादितः । एतेषां च श्रेण्यादीनां भेदं धर्मव्यवस्थां नृपो रक्षेत् । पूर्वोपात्तां वृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥ इति संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् ॥

अथ वेतनादानप्रकरणम् १६

संप्रति वेतनस्यानपाकर्माख्य व्यवहारपदं प्रस्तूयते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् । भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः । वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतमिति । अस्यार्थः । भृत्याना वेतनस्य वक्ष्यमाणश्लोकैरुक्तो दानादानविधिक्रमो यत्र विवादपदे तद्वेतनस्यानपाकर्मेत्युच्यते । तत्र निर्णयमाह

गृहीतवेतनः कर्म त्यजन् द्विगुणमावहेत् ।
अगृहीते समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥

गृहीतं वेतनं येनासौ स्वाङ्गीकृतं कर्म त्यजन् अकुर्वन् द्विगुणां भृतिं स्वामिने दद्यात् । यदा पुनरभ्युपगतं कर्म अगृहीते एव वेतने त्यजति तदा समं यावद्वेतनमभ्युपगतं तावद्दाप्यो न द्विगुणम् । यद्वाङ्गीकृतां भृतिं दत्वा बलात्कारयितव्यः । कर्माकुर्वन् प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्वा भृतिं बलादिति नारदवचनात् ॥ भृतिरपि तेनैवोक्ता, भृत्याय वेतनं दद्यात्कर्मस्वामी यथा क्रमम् । आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितमिति । तैश्च भृत्यैरुपस्कर उपस्करणं लाङ्गलादीनां प्रग्रहयोक्त्रादिकं यथाशक्त्या रक्षणीयमितरथा कृष्यादिनिष्पत्त्यनुपपत्तेः ॥ १९३॥

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति तं प्रत्याह

दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः ।
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यस्तु स्वामी वणिक् गोमी क्षेत्रिको वा अपरिच्छिन्नवेतनमेव भृत्यं कर्म कारयति तस्माद्वाणिज्यपशुसस्यलक्षणात्कर्मणो यल्लब्धं तस्य दशमं भागं भृत्याय महीक्षिता राज्ञा दापनीयः ॥ १९४ ॥

देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥ १९५ ॥

यस्तु भृत्यः पण्यविक्रयाद्युचितं देशं कालं च पण्यविक्रयाद्यकुर्वन् दर्पादिनोल्लङ्घयेत्त-

---

१ एतदल्पायासपरम् । आयासबहुत्वे तु बृहस्पतिः । त्रिभाग पञ्चभाग वा गृह्णीयात्सीरवाहक. । भक्ताच्छादभृतः सीराद्भाग गृह्णीत पञ्चमम् ॥ जातसस्यात्त्रिभागं तु प्रगृह्णीयादथाभृतः ॥ भक्ताच्छादभृता ह्यन्नवस्त्रदानेन पोषित. ।

पूर्वोक्तसप्तमभागादिकं भृत्याय दापनीयः। एतच्चाव्याधितादिविषयम्। (मनु अ.८श्लो. २१९) भृत्यो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्। स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं तस्य वेतनमिति मनुवचनात्॥ यदा पुनर्व्याधावपगतेऽन्तरितदिवसान्परिगणय्य पूरयति तदा लभत एव वेतनम्। (अ.८श्लो. २१६)आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः। स दीर्घस्यापि कालस्य स्वं लभेतैव वेतनमिति मनुस्मरणात्॥ यस्त्वपगतव्याधिः स्वस्थ एव वालस्यादिना स्वारब्धं कर्माल्पोनं न करोति परेण वा न समापयति तस्मै वेतनं न देयमिति। यथाह मनुः (अ. ८ श्लो. २१७) यथोक्तमार्तः स्वस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मण इति॥ १९८॥ इति वेतनादानप्रकरणम्॥

अथ द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदमधिक्रियते। तत्स्वरूपं नारदेनाभिहितम्। अक्षबन्धशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्। पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम्॥ अक्षाः पाशकाः। बन्धश्चर्मपट्टिका शलाका दन्तादिमय्यो दीर्घचतुरस्राः। आद्यग्रहणाच्चतुरङ्गादिक्रीडासाधनं करितुरङ्गरथादिकं गृह्यते। तैरप्राणिभिर्यद्देवनं क्रीडा पणपूर्विका क्रियते। तथा वयोभिः पक्षिभिः कुक्कुटपारावतादिभिः चशब्दान्मल्लमेषमहिषादिभिश्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका क्रीडा क्रियते तदुभयं यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदम्। द्यूतं च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम्। तदुक्तं मनुना। (अ. ९ श्लो.२२३) अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते। प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञेयः समाह्वय इति॥

तत्र द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह

ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम्।
गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम्॥ १९९॥

परस्परसंप्रतिपत्त्या कितवपरिकल्पितः पणो ग्लह इत्युच्यते तत्र ग्लहे तदाश्रया शतिका शतपरिमितादधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिस्तस्माद्धूर्तकितवात्पञ्चकं शतमात्मवृत्त्यर्थं सभिको गृह्णीयात्। पञ्चपणा आयो यस्मिन् शते तत्पञ्चकं शतम्। तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभेत्यादिना कन्। जितग्लहस्य विंशतितमं भागं गृह्णीयादित्यर्थः। सभा कितवनिवासार्था यस्यासौ स सभिकः। कल्पिताक्षादिनिखिलक्रीडोपकरणस्तदुपचितद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते। इतरस्मात्पुनरपरिपूर्णशतिकवृद्धेः कितवाद्दशकं शतं जितद्रव्यस्य दशमं भागं गृह्णीयादिति यावत्॥ १९९॥

एवं क्लृप्तवृत्तिना सभिकेन किं कर्तव्यमित्याह

स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम्।

द्यूतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशन्नाह

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये ॥ २०३ ॥

ग्लहे शतिकवृद्धेरित्यादिना यो द्यूतधर्म उक्तः स एव प्राणिद्यूते मल्लमेषमहिषादिनिर्वर्त्ये समाह्वयसंज्ञिके ज्ञातव्यः ॥ २०३ ॥ इति द्यूतसमाह्वयाख्यं प्रकरणम् ॥

अथ वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

इदानीं वाक्पारुष्यं प्रस्तूयते । तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन । देशजातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥ देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् उच्चैर्भाषणमाक्रोशो न्यङ्गमवद्यं तदुभययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थमुद्वेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते । तत्र कलहप्रियाः खलु गौडा इति देशाक्रोशः । नितान्तं खलु लोलुपा विप्रा इति जात्याक्रोशः । क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्रा इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणात्स्वविद्याशिल्पादिनिन्दया विद्वच्छिल्पादिपरुषाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारतम्यार्थं निष्ठुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैवोक्तम् । निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि स्यात्क्रमाद्गुरुः ॥ साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्गसंयुतम् । पतनीयैरुपाक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिण इति ॥ तत्र धिङ्मूर्ख जाल्ममित्यादि साक्षेपम् । अत्र न्यङ्गमित्यसभ्यम् । अवद्यं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलम् । सुरापोसीत्यादिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् ॥

तत्र निष्ठुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डमाह

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।
क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदशान् ॥ २०४ ॥

न्यूनाङ्गाः करचरणादिविकलाः । न्यूनेन्द्रिया नेत्रश्रोत्रादिरहिताः । रोगिणो दुश्चर्मप्रभृतयः । तेषां सत्येनासत्येनान्यथास्तोत्रेण च निन्दार्थतया स्तुत्या यो नेत्रयुगलहीन एषोऽन्ध इत्युच्यते तत्सत्यम् । यत्र पुनश्चक्षुष्मानेषोऽन्ध इत्युच्यते तदसत्यम् । यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते तदन्यथास्तोत्रं । एवंविधैर्यः क्षेपं निर्भर्त्सनं करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान् दण्डनीयः । (अ. ८ श्लो. २७४) काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् । तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरमिति यन्मनुवचनं तदतिदुर्वृत्तवर्णविषयम् ॥ यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति तेनैवोक्तम् । (मनु. अ. ८ श्लो. २७५) मातरं पितरं जायां भ्रातरं श्वशुरं गुरुम् । आक्षारयन् शतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोरिति । एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम् ॥ २०४ ॥

वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हतीति । विट्शूद्रयो रपिक्षत्रियादनन्तरैकान्तरयोस्तु-ल्यन्यायतया शतमध्यर्धशतं च यथाक्रमेण क्षत्रियाक्रोशे वेदितव्यम् । शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम् । आनुलोम्येन तु वर्णानां क्षत्रियविट्शूद्राणां ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद्ब्राह्मणा-क्रोशनिमित्ताच्छतपरिमितात्क्षत्रियदण्डात्प्रतिवर्णमर्धस्यार्धस्य हानिं कृत्वावशिष्टं पञ्चाश-त्पञ्चविंशतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः । तदुक्तं मनुना । (अ. ८ श्लो. २६८) । पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने । वैश्यः स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दम इति ॥ क्षत्रियेण वैश्ये शूद्रे वाक्रुष्टे यथाक्रमं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिकौ दमौ । वैश्यस्य च शूद्राक्रोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम् । ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्ययोरिति गौतम-स्मरणात् । (अ. ८ श्लो. २७७) विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिंप्रति तत्त्वत इति मनु-स्मरणाच्च ॥ २०७ ॥

बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः ।
शत्यस्तदर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥

बाह्वादीनां प्रत्येकं विनाशे वाचिके वाचा प्रतिपादिते तव बाहू छिनद्मीत्येवंरूपे शत्यः शतपरिमितो दण्डो वेदितव्यः । पादनासाकर्णकरादिषु आदिग्रहणात्स्फिगा-दिषु वाचिके विनाशे तदर्धिकः तस्य शतस्यार्धं तदर्धं तद्यस्यास्त्यसौ तदर्धिकः पञ्चाशत्पणिको दण्डो वेदितव्यः ॥ २०८ ॥

पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह

अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान्दश ।
तथा शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु ॥ २०९ ॥

किंच । यः पुनर्ज्वरादिना क्षीणशक्तिस्त्वद्बाह्वाद्यङ्गभङ्गं करोमीत्येवं शपत्यसौ दशपणा-न्दण्डनीयः । यः पुनः समर्थः क्षीणशक्तिं पूर्ववदाक्षिपत्यसौ पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकालं त-स्याशक्तस्य क्षेमार्थं प्रतिभुवं दापनीयः ॥ २०९ ॥

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ।
उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥ २१० ॥

तीव्राक्रोशे दण्डमाह ।

पातित्यहेतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वर्णिनामाक्षेपे मध्यमसाहसो दण्डः । उपपातक-संयुक्ते पुनर्गोघ्नस्त्वमसीत्येवमादिरूपे क्षेपे प्रथमसाहसं दण्डनीयः ॥२१०॥

त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः ।
मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ॥ २११ ॥

यदा कश्चिद्रहस्यहमनेन हत इति राज्ञे निवेदयति तदा चिह्नैर्वर्णादिस्वरूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया आगमेन जनप्रवादेन चशब्दाद्दिव्येन वा कूटचिह्नकृतसंभावनाभयात्परीक्षा कार्या ॥ २१२ ॥

एवं निश्चिते साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह

भस्मपङ्करजःस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः ।
अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणः स्मृतः ॥ २१३ ॥
समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च ।
हीनेष्वर्धदमो मोहमदादिभिरदण्डनम् ॥ २१४ ॥

भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दशपणं दण्डं दाप्यः । अमेध्यमिति अश्रुश्लेष्मनखकेशकर्णविड्दूषिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते । पार्ष्णिः पादस्य पश्चिमो भागः । निष्ठ्यूतं मुखनिःसारितं जलम् । तैः स्पर्शने ततः पूर्वाद्दशपणात् द्विगुणो विंशतिपणो दण्डो वेदितव्यः ॥ पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन विशेष उक्तः । छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः । षड्गुणः कायमध्ये स्यान्मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृत इति ॥ आद्यग्रहणाद्वसाशुक्रासृङ्मज्जानो गृह्यन्ते । एवंभूतः पूर्वोक्तो दण्डः सवर्णविषये द्रष्टव्यः । परभार्यासु चाविशेषेण । तथोत्तमेषु स्वापेक्षया अधिकश्रुतवृत्तेषु पूर्वोक्ताद्दशपणाद्विंशतिपणाच्च दण्डाद्द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । हीनेषु स्वापेक्षया न्यूनश्रुतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो दशपणश्च वेदितव्यः। मोहश्चित्तवैकल्यम् । मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः । आदिग्रहणाद्ग्रहावेशादिकम् । एतैर्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न कर्तव्यः ॥ २१३ ॥ २१४ ॥

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु ।
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥

ब्राह्मणानां पीडाकरमब्राह्मणस्य क्षत्रियादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेत्तव्यम् । क्षत्रियवैश्ययोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव (अ. ८ श्लो. २७९) येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनमिति । द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्वैश्यस्यापि क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डस्तुल्यन्यायत्वात् । उद्गूर्णे वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः । शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव (अ. ८ श्लो. २८०) पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हतीति मनुस्मरणात् ॥ उद्गिरणार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु तदर्धिकः प्रथमसा-

प्रातिलोम्यापराधे दण्डमाह ।

कन्धराबाहुसक्थ्नां च भङ्गे मध्यमसाहसः ॥ २२० ॥

किंच । गमनभोजनभाषणनिरोधे नेत्रस्य आदिग्रहणाज्जिह्वायाश्च प्रतिभेदने कन्धरा ग्रीवा । बाहुः प्रसिद्धः । सक्थि ऊरुस्तेषां प्रत्येकं भञ्जने मध्यमसाहसो दण्डः ॥ २२० ॥

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद्द्विगुणो दमः ।

अपिच । यदा पुनर्बहवो मिलिता एकस्याङ्गभङ्गादिकं कुर्वन्ति तदा यस्मिन्यस्मिन् अपराधे यो यो दण्ड उक्तस्तत्र तस्माद्द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं वेदितव्यः । अतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोम्यानुलोम्यापराधयोरप्येतस्यैव सवर्णविषयेऽभिहितस्य दण्डजातस्य वाक्पारुष्योक्तक्रमेण हानिं वृद्धिं च कल्पयेत् । वाक्पारुष्ये य एवोक्तः प्रातिलोम्यानुलोमतः । स एव दण्डपारुष्ये दाप्यो राज्ञा यथाक्रममिति स्मरणात् ॥

कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः ॥ २२१ ॥

कलहे वर्तमाने यद्येनापहृतं तत्तेन प्रत्यर्पणीयम् । अपहृतद्रव्याद्द्विगुणश्चापहारनिमित्तो दण्डो देयः ॥ २२१ ॥

दुःखमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम् ।
दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन् कलहे समुदाहृतः ॥ २२२ ॥

किंच । यो यस्य ताडनाद्दुःखमुत्पादयेत्स तस्य व्रणरोपणादौ औषधार्थं पथ्यार्थं च यो व्ययः क्रियते तं दद्यात् । समुत्थानं व्रणरोपणं यस्मिन्कलहे यो दण्डस्तं च दद्यान्न समुत्थानजव्ययमात्रम् ॥ २२२ ॥

परगात्राभिद्रोहे दण्डमुक्त्वानन्तरं बहिरङ्गार्थनाशे दण्डमाह

अभिघाते तथा छेदे भेदे कुड्यावपातने ।
पणान्दाप्यः पञ्चदशविंशतिं तद्व्ययं तथा ॥ २२३ ॥

मुद्गरादिना कुड्यस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रमं पञ्चपणो दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । अवपातने पुनः कुड्यस्यैते त्रयो दण्डाः समन्विता ग्राह्याः । पुनः संपादनार्थं च धनं स्वामिने दद्यात् ॥ २२३ ॥

दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ।
षोडशाद्यः पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥ २२४ ॥

अपिच । परगृहे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन् षोडशपणान् दण्ड्यः । प्राणहरं पुनर्विषभुजङ्गादिकं प्रक्षिपन् मध्यमसाहसं दण्ड्यः ॥ २२४ ॥

गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम् ।
पूर्वस्मृतादर्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥

गुल्मा अनतिदीर्घनिबिडलता मालत्यादयः । गुच्छा अवल्लीरूपाः असरलप्रायाः कुरण्टकादयः । क्षुपाः करवीरादयः सरलप्रायाः । लता दीर्घयायिन्यो द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतयः । प्रतानाः काण्डप्ररोहरहिताः सरलयायिन्यः सारिवाप्रभृतयः । ओषध्यः फलपाकावसानाः शालिप्रभृतयः । वीरुधः छिन्ना अपि या विविधं प्ररोहन्ति ताः गुडूचीप्रभृतयः । एतेषां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने छेदने पूर्वोक्ताद्दण्डादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ ॥ २२९ ॥ इति दण्डपारुष्यप्रकरणम् ॥

गुल्मादीन् प्रत्याह ।

अथ साहसप्रकरणम् २०

संप्रति साहसंनाम विवादपदं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षण तावदाह

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ।

सामान्यस्य साधारणस्य यथेष्टं विनियोगानर्हत्वाविशेषेण परकीयस्य वा द्रव्यस्यापहरणं साहसम् । कुतः प्रसभहरणात् प्रसह्य हरणाद्बलावष्टम्भेन हरणादिति यावत् ॥ एतदुक्तं भवति । राजदण्डं जनक्रोशं चोल्लंघ्य राजपुरुषेतरजनसमक्षं यत्किंचिन्मारणपरदारप्रधर्षणादिकं क्रियते तत्सर्वं साहसमिति साहसलक्षणम् । अतः साधारणधनपरधनयोर्हरणस्यापि बलावष्टम्भेन क्रियमाणत्वात्साहसत्वमिति । नारदेनापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम् । सहसा क्रियते कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः । तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते इति । तदिदं साहसं चौर्यवाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणेषु व्यासक्तमपि बलदर्पावष्टम्भोपाधितो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम् । तस्य च दण्डवैचित्र्यप्रतिपादनार्थं प्रथमादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैव विवृतम् । तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा । उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥ फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च । भङ्गाक्षेपोपमर्दाद्यैः प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ वासः पश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च । एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम् । प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम् ॥ तस्य दण्डः क्रियाक्षेपः प्रथमस्य शतावरः । मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः । उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते । वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने ॥ तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे इति ॥ वधादयश्चापराधतारतम्यादुत्तमसाहसे समस्ता व्यस्ता वा योज्याः ॥

पितापुत्रस्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यकाः ।
एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥ २३७ ॥

किंच। नियोगं विना यः स्वेच्छया विधवां गच्छति। चौरादिभयाकुलैर्विक्रुष्टे यः शक्तोऽपि नाभिधावति । यश्च वृथाक्रोशं करोति । यश्चण्डालो ब्राह्मणादीन् स्पृशति । यश्च शूद्रप्रव्रजितान् दिगम्बरादीन् दैवे पित्र्ये च कर्मणि भोजयति । यश्चायुक्तं मातरं ग्रहीष्यामीत्येवं शपथं करोति । तथा यश्च अयोग्य एव शूद्रादिर्योग्यकर्माध्ययनादि करोति । वृषो बलीवर्दः क्षुद्रपशवोऽजादयस्तेषां पुंस्त्वस्य प्रजननशक्तेर्विनाशकः । वृक्षक्षुद्रपशूनामिति पाठे हिंग्वाद्यौषधप्रयोगेण वृक्षादेः फलप्रसूनानां पातयिता साधारणमपलपति साधारणद्रव्यस्य वञ्चकः दासीगर्भस्य पातयिता च ये च पित्रादयोऽपतिता एव सन्तोऽन्योन्यं त्यजन्ति ते सर्वे प्रत्येकं पणशतं दण्डार्हा भवन्ति ॥ २३४ ॥ २३५ ॥ २३६ ॥ २३७ ॥ इति साहसप्रकरणम् ॥

साहसप्रसङ्गात्तत्सदृशापराधेषु निर्णेजकादीनां दण्डमाह

वसानस्त्रीन्पणान् दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम् ।
विक्रयावक्रयाधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

नेजको वस्त्रस्य धावकः स यदि निर्णेजनार्थं समर्पितानि वासांसि स्वयमाच्छादयति तदासौ पणत्रयं दण्ड्यः । यः पुनस्तानि विक्रीणीते अवक्रयं वा एतावत्कालमुपभोगार्थं वस्त्रं दीयते मह्यमेतावद्धनं देयमित्येवं भाटकेन यो ददाति आधित्वं वा नयति स्वसुहृद्भ्यो याचितं वा ददात्यसौ प्रत्यपराधं दशपणान् दण्डनीयः । तानि च वस्त्राणि श्लक्ष्णशाल्मलीफलके क्षालनीयानि न पाषाणे न च व्यत्यसनीयानि न च स्वगृहे वासयितव्यानि इतरथा दण्ड्यः । (अ.८ श्लो.३९६) । शाल्मले फलके श्लक्ष्णे निज्याद्वासांसि नेजकः । न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेदिति मनुस्मरणात् ॥ यदा पुनस्तानि प्रमादान्नाशयति तदा नारदेनोक्तं द्रष्टव्यम् । मूल्याष्टभागो हीयेत सकृद्धौतस्य वाससः । द्विःपादस्त्रिस्तृतीयांशश्चतुर्धौतेऽर्धमेव च ॥ अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात् । यावत्क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षय इति । अष्टपणक्रीतस्य सकृद्धौतस्य वस्त्रस्य नाशितस्याष्टमभागोनपणं मूल्यं देयम् । द्विर्धौतस्य तु पादोनं त्रिर्धौतस्य पुनस्तृतीयांशन्यूनम् । चतुर्धौतस्यार्धं पणचतुष्टयं देयम् । ततः परं प्रतिनिर्णेजनमवशिष्टं मूल्यं पादाद्यपचयेन देयम् । यावज्जीर्णं जीर्णस्य पुनर्नाशितस्येच्छतो मूल्यदानकल्पनम् ॥ २३८ ॥

पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां त्रिपणो दमः ।
अन्तरे च तयोर्यः स्यात्तस्याप्यष्टगुणो दमः ॥ २३९ ॥

पितापुत्रयोः कलहे यः साक्ष्यमङ्गीकरोति न पुनः कलहं निवारयति असौ पणत्रयं दण्ड्यः।

भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ।
पण्येषु प्रक्षिपन् हीनं पणान् दाप्यस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजमोषधद्रव्यम् । स्नेहो घृतादिः । गन्धद्रव्यमुशीरादि । आदिशब्दाद्धिङ्गुमरीचादि । एतेष्वसारं द्रव्यं विक्रयार्थं मिश्रयतः षोडशपणो दण्डः ॥ २४५ ॥

मृच्चर्ममणिसूत्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम् ।
अजातौ जातिकरणे विक्रेयाष्टगुणो दमः ॥ २४६ ॥

किंच । न विद्यते बहुमूल्या जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति तस्मिन् जातिकरणे विक्रयार्थं गन्धवर्णरसान्तरसञ्चारणेन बहुमूल्यजातीयसादृश्यसम्पादनेन । यथा मल्लिकामोदसञ्चारेण मृत्तिकायां सुगन्धामलकमिति । मार्जारचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन व्याघ्रचर्मेति स्फटिकमणौ वर्णान्तरकरणेन पद्मराग इति । कार्पासिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति । कालायसे वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति । बिल्वकाष्ठे चन्दनामोदसञ्चारणेन चन्दनमिति कङ्कोले त्वगाख्यं लवङ्गमिति । कार्पासिके वाससि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति । विक्रेयस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादेः पण्यस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ २४६ ॥

समुद्रपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् ।
आधानं विक्रयं वापि नयतो दण्डकल्पना ॥ २४७ ॥
भिन्ने पणे तु पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।
द्विपणो द्विशते दण्डो मूल्यवृद्धौ च वृद्धिमान् ॥ २४८ ॥

मुद्रः पिधानं मुद्रेण सह वर्तत इति समुद्रं करण्डकं परिवर्तनं व्यत्यासः योऽन्यदेवमुक्तानां पूर्णं करण्डकं दर्शयित्वा हस्तलाघवेनान्यदेव स्फटिकानां पूर्णकरण्डकं समर्पयति यश्च सारभाण्डं कस्तूरिकादिकं कत्रिमं कृत्वा विक्रयमाधिं वा नयति तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कृत्रिमकस्तूरिकादेर्मूल्यभूते पणे भिन्ने न्यूने न्यूनपणमूल्य इति यावत् । यस्मिन् कृत्रिमे विक्रीते पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूल्ये पुनः शतम् द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्ड इत्येवं मूल्यवृद्धौ दण्डवृद्धिरुन्नेया ॥ २४७ ॥ २४८ ॥

संभूय कुर्वतामर्घं सबाधं कारुशिल्पिनाम् ।
अर्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तमः ॥ २४९ ॥

राजनिरूपितार्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानन्तोऽपि वणिजः संभूय मिलित्वा कारूणां रज-

अथ विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् २१

प्रासङ्गिकं परिसमाप्याधुना विक्रीयासंप्रदानं प्रक्रमते । तत्स्वरूपं च नारदेनाभिहितम् । विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते । विक्रीयासंप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते इति ॥ तत्र विक्रेयद्रव्यस्य चराचरभेदेन द्वैविध्यमभिधाय पुनः षड्विधत्वं तेनैव प्रत्यपादि । लोकेऽस्मिन्द्विविधं पण्यं जङ्गमं स्थावरं तथा । षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः ॥ गणितं तुलितं मेयं क्रियया रूपतः श्रियेति । गणितं क्रमुकफलादि । तुलितं कनककस्तूरीकुङ्कुमादि । मेयं शाल्यादि । क्रियया वाहदोहादिरूपयोपलक्षितमश्वमहिष्यादि । रूपतः पण्याङ्गनादि । श्रिया दीप्त्या मरकतपद्मरागादीति ॥

एतत्षट्प्रकारकमपि पण्यं विक्रीयासंप्रयच्छतो दण्डमाह

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति ।
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते ॥ २५४ ॥

गृहीतं मूल्यं यस्य पणस्य विक्रेत्रा तद्गृहीतमूल्यं तद्यदि विक्रेता प्रार्थयमानाय स्वदेशवणिजे क्रेत्रे न समर्पयति तच्च पण्यं यदि क्रयकाले बहुमूल्यं सत्कालान्तरेऽल्पमूल्येनैव लभ्यते तदार्घह्रासकृतो य उदयो वृद्धिः पण्यस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य तेन सहितं पण्यं विक्रेता क्रेत्रे दापनीयः । यदा मूल्यह्रासकृतः पण्यस्योदयो नास्ति किंतु क्रयकाले यावदेव यतो मूल्यस्येयत्पण्यमिति प्रतिपन्नं तावदेव तदा तत्पण्यमादाय तस्मिन्देशे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेनोदयेन सहितं द्विकं त्रिकमित्यादिप्रतिपादितवृद्धिरूपोदयेन वा सहितं क्रेतुर्वाञ्छावशाद्दापनीयः । यथाह नारदः । अर्घश्चेदत्र हीयेत सोदयं पण्यमावहेत् । स्थानिनामेष नियमो दिग्लाभं दिग्विचारिणामिति ॥ यदा त्वर्घमहत्त्वेन पण्यस्य न्यूनभागस्तदा तस्मिन्पण्ये वस्त्रगृहादिके य उपभोगस्तदाच्छादनसुखनिवासादिरूपो विक्रेतुस्तत्सहितं पण्यमसौ दाप्यः । यथाह नारदः । विक्रीय पण्यं मूल्येन यः क्रेतुर्न प्रयच्छति । स्थावरस्य क्षयं दाप्यो जङ्गमस्य क्रियाफलमिति । विक्रेतुरुपभोगः क्षय उच्यते । क्रेतृसंबन्धित्वेन क्षीयमाणत्वात् । न पुनः कुड्यपातस्य घातादिरूपः । तस्य तु उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापह्रियेत वा । विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छत इत्यत्रोक्तत्वात् ॥ यदा त्वसौ क्रेता देशान्तरात्पण्यग्रहणार्थमागतस्तदा तत्पण्यमादाय देशान्तरे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेन सहितं पण्यं विक्रेता क्रेत्रे दापयितव्यः अयं च क्रीतपण्यसमर्पणनियमोऽनुशयाभावे द्रष्टव्यः ॥ सति त्वनुशये क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिदित्यादि मनूक्तं वेदितव्यम् ॥ २५४ ॥

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्रेतर्यगृह्णति ।
हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥

शयकारणसद्भावेऽप्यनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतोऽप्ययमेव दण्डः । उपभोगेनाविनश्वरेषु स्थिरार्घेष्वनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतो मनूक्तो दण्डो द्रष्टव्यः । (अ० ८। श्लो. २२३) । परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानोददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षडिति ॥ २९८ ॥ इति विक्रीयासंप्रदानं नाम प्रकरणम्

अथ संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थानं नाम विवादपदमिदानीमभिधीयते

समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ।
लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ ॥ २५९ ॥

सर्वे वयमिदं कर्म मिलिताः कुर्म इत्येवंरूपा संप्रतिपत्तिः समवायः तेन ये वणिङ्नटनर्तकप्रभृतयो लाभलिप्सवः प्रातिस्विकं कर्म कुर्वते तेषां लाभालाभावुपचयापचयौ यथाद्रव्यं येन यावद्धनं पण्यग्रहणार्थं दत्तं तदनुसारेणावसेयौ । यद्वा । प्रधानगुणभावपर्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया संविदा समयेन यथा संप्रतिपन्नौ तथा वेदितव्यौ ॥ २५९ ॥

प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ।
स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशभाक् ॥ २६० ॥

किंच । तेषां संभूय प्रचरतां मध्ये पण्यमिदमित्थं न व्यवहर्तव्यमिति प्रतिषिद्धमाचरता यन्नाशितमनादिष्टमननुज्ञातं वा कुर्वाणेन तथा प्रमादात्प्रज्ञाहीनतया वा येन यन्नाशितं स तत्पण्यं वणिग्भ्यो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चौरराजादिजनिताद्व्यसनात्पण्यं पालयति स तस्माद्रक्षितात्पण्याद्दशममंशं लभते ॥ २६० ॥

अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।
व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥

इयतः पण्यस्येयन्मूल्यमित्यर्घस्तस्य प्रक्षेपणात् राजतो निरूपणाद्धेतोरसौ मूल्याद्विंशतितममंशं शुल्कार्थं गृह्णीयात् । यत्पुनर्व्यासिद्धमन्यत्र न विक्रेयमिति राज्ञा प्रतिषिद्धं यद्राजयोग्यं मणिमाणिक्याद्यप्रतिषिद्धमपि तद्राज्ञेऽनिवेद्य लाभलोभेन विक्रीतं चेद्राजगामि मूल्यदाननिरपेक्षं तत्सर्वं पण्यं राजापहरेदित्यर्थः ॥ २६१ ॥

मिथ्यावदन्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।
दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥

यः पुनर्वणिक् शुल्कवञ्चनार्थं पण्यपरिमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थानाद्वापसरति यश्चा-

मध्ये भाण्डप्रत्यवेक्षणादिकं कर्तुमसमर्थोऽसावन्येन स्वं कर्म भाण्डभारवाहनं तदायव्ययपरीक्षणादिकं कारयेत् ॥

प्रागुपदिष्टं वणिग्धर्ममृत्विगादिष्वतिदिशति

अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम् ॥ २६५ ॥

अनेन लाभालाभौ यथाद्रव्यमित्यादिवणिग्धर्मकथनेन ऋत्विजां होत्रादीनां कृषीवलानां नटनर्तकतक्षादीनां च शिल्पकर्मोपजीविनां विधिर्वर्तनप्रकार आख्यातः। तत्र च ऋत्विजां धनविभागे विशेषो मनुना दर्शितः। (अ. ८ श्लो. २१०) सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिन इति ॥ अस्यायमर्थः। ज्योतिष्टोमेन तं शतेन दीक्षयन्तीति वचनेन गवां शतमृत्विगानतिरूपे दक्षिणाकार्ये विनियुक्तम् । ऋत्विजश्च होत्रादयः षोडश तत्र कस्य कियानंश इत्यपेक्षायामिदमुच्यते सर्वेषां होत्रादीनां षोडशर्त्विजां मध्ये ये मुख्याश्चत्वारो होत्रध्वर्युब्रह्मोद्गातारः ते गोशतस्यार्धिनः सर्वेषां भागपूरणोपपत्तिवशादष्टाचत्वारिंशद्रूपार्धेनार्धभाजः। अपरे मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्तदर्धेन मुख्यांशस्यार्धेन चतुर्विंशतिरूपेणार्धभाजः। ये पुनस्तृतीयिनः अच्छावाकनेष्ट्राग्नीध्रप्रतिहर्तारस्ते तृतीयिनो मुख्यांशस्य षोडशगोरूपतृतीयांशेन तृतीयांशभाजः। ये तु पादिनः ग्रावस्तदुन्नेतृपोतृसुब्रह्मण्यास्ते मुख्यभागस्य यश्चतुर्थांशो द्वादशगोरूपस्तद्भाजः ॥ ननु कथमयमंशनियमो घटते। न तावदत्र समयो नापि द्रव्यसमवायो नापि वचनं यद्वशाद्भागनियमः स्यादतः समं स्यादश्रुतत्वादिति न्यायेन सर्वेषां समांशभाक्त्वं कर्मानुरूपेण वांशभाक्त्वमिति युक्तम् ॥ अत्रोच्यते। ज्योतिष्टोमप्रकृतिके द्वादशाहेऽर्धिनस्तृतीयिनः पादिन इति सिद्धवदनुवादो न घटते। यदि तत्प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे अर्धतृतीयचतुर्थांशभाक्त्वं मैत्रावरुणादीनां न स्यादतो वैदिकर्धिप्रभृतिसमाख्याबलात् प्रागुक्तोंऽशनियमोऽवकल्प्यत इति निरवद्यम् ॥ २६५ ॥

ऋत्विजां धनविभागे विशेषप्रकारः।

इति संभूयसमुत्थानप्रकरणम्।

अथ स्तेयप्रकरणम् २३

इदानीं स्तेयं प्रस्तूयते। तल्लक्षणं च मनुनाभिहितम्। (अ.८ श्लो.३३२) स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्। निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वापह्नुवते च यदिति। अन्वयवत्। द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमक्षम् । प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम्। स्तेयं तु तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्यस्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं तदुच्यते। यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति भयान्निह्नुते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम्। उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम्। सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिण इति ॥

स्तेयलक्षणम्।

मिथ्योत्तरे कथं प्रमाणं संभवति । तस्याभावरूपत्वात् । उच्यते । दिव्यस्य तावद्भावाभावगोचरत्वं रुच्याऽवान्यतरः कुर्यादित्यत्र प्रतिपादितम् । मानुषं पुनर्यद्यपि साक्षाच्छुद्धमिथ्योत्तरे न संभवति तथापि कारणेन संसृष्टभावरूपमिथ्याकारणसाधनमुखेनाभावमपि गोचरयत्येव । यथा नाशापहारकाले अहं देशान्तरस्थ इत्यभियुक्तैर्भाविते चौर्याभावस्याप्यर्थात्सिद्धेः शुद्धिर्भवत्येव ॥ २६९ ॥

चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः ।

यस्तु प्रागुक्तपरीक्षया तन्निरपेक्षं वा निश्चितचौर्यस्तं स्वामिने अपहृतं धनं स्वरूपेण मूल्यकल्पनया वा दापयित्वा विविधैर्घातैर्घातयेत् । एतच्चोत्तमसाहसदण्डप्राप्तियोग्योत्तमद्रव्यविषयम् । न पुनः पुष्पवस्त्रादिक्षुद्रमध्यमद्रव्यापहारविषयम् । साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमादिति नारदवचनेन वधरूपस्योत्तमसाहसस्योत्तमद्रव्यविषये व्यवस्थापितत्वात् ॥ यत्पुनर्वृद्धमनुवचनम् । अन्यायोपात्तवित्तत्वाद्धनमेषां मलात्मकम् । अतस्तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेदिति तदपि महापराधविषयम् ॥

चौरेदण्डमाह ।

सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २७० ॥

ब्राह्मणं पुनश्चौरं महत्यपराधेऽपि न घातयेदपि तु ललाटेऽङ्कयित्वा स्वदेशान्निष्कासयेत् । अङ्कनं च श्वपदाकारं कार्यम् । तथाच मनुः । (अ. ९ श्लो. २३७) गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमानिति । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमचिकीर्षतो द्रष्टव्यम् ॥ यथाह मनुः ।(अ. ९ श्लो. २४०) प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे तु दाप्यास्तूत्तमसाहसमिति ॥ २७० ॥

चौरविशेषेऽपवादमाह ।

घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते । विवीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरवीतके ॥ २७१ ॥

यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवधो धनापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतेरेव चौरोपेक्षादोषस्तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राज्ञेऽर्पयेत् । तदशक्तौ हृतं धनं धनिने दद्यात् । यदि चौरपदं स्वग्रामान्निर्गतं न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र प्रविशति तद्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं चार्पयेत् । तथा च नारदः । गोचर यस्य लुप्येत तेन चौरः प्रयत्नतः । ग्राह्यो दाप्योऽथवा शेषं पदं यदि न निर्गतम् । निर्गते पुनरेतस्मान्न चेदन्यत्र पातितम् । सामन्तान्मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेदिति ॥ विवीते त्वपहारे विवीतस्वामिन एव दोषः । यदा त्वध्वन्येव तद्धृतं भवत्यवीतके वा विवीतादन्यत्र क्षेत्रे तदा चौरोद्धर्तुर्मार्गपालस्य दिक्पालस्य वा दोषः ॥ २७१ ॥

चौरदर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह ।

देशकालवयःशक्ति सञ्चिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥

क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः । क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम् । मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत् । शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रं द्रव्यमुदाहृतम् ॥ वासः कौशेयवर्ज्यं च गोवर्ज्यं पशवस्तथा । हिरण्यवर्ज्यं लोहं च मध्यं व्रीहियवा अपि ॥ हिरण्यरत्नकौशेयं स्त्रीपुङ्गोगजवाजिनः । देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् । त्रिप्रकारेष्वपि द्रव्येष्वौत्सर्गिकः प्रथममध्यमोत्तमसाहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः । साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमादिति ॥ मृन्मयेषु मणिकमल्लिकादिषु गोवाजिव्यतिरिक्तेषु च महिषमेषादिपशुषु ब्राह्मणसंबन्धिषु च कनकधान्यादिषु तरतमभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां मूल्याद्यनुसारेण दण्डः कल्पनीयः । तत्र च दण्डकर्मणि दण्डकल्पनायां तद्धेतुभूतं देशकालवयःशक्तीतिसम्यक् चिन्तनीयम् । एतच्च जातिद्रव्यपरिणामपरिग्रहादीनामुपलक्षणम् । तथाहि । अष्टपाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वमिति । अयमर्थः । किल्बिषशब्देनात्र दण्डो लक्ष्यते । यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स विद्वच्छूद्रकर्तृकेऽपहारे अष्टगुणआपादनीयः । इतरेषां पुनर्विट्क्षत्र ब्राह्मणादीनां विदुषां द्विगुणोत्तराणि किल्बिषाणि षोडशद्वात्रिंशन्नतु षष्टिगुणा दण्डा आपादनीयाः । यस्माद्विद्वच्छूद्रकर्तृकेऽपहारे दण्डभूयस्त्वम् । मनुनाप्ययमेवार्थो दर्शितः । (अ. ८ श्लो. ३३७।३३८) । अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् । षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य तु ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् । द्विगुणा या चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणवेदिन इति ॥ तथा परिणामकृतमपि दण्डगुरुत्वं दृश्यते । यथाह मनुः । (अ. ८ श्लो ३२०) धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोभ्यधिकं वधः । शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनमिति ॥ विंशतिद्रोणकः कुम्भः । हर्तुर्ह्रियमाणस्वामिगुणापेक्षया सुभिक्षदुर्भिक्षकालाद्यपेक्षया ताडनाङ्गच्छेदनवधरूपा दण्डा योज्याः ॥ तथा संख्याविशेषादपि दण्डविशेषो रत्नादिषु । (अ. ८ श्लो. ३२१।३२२) सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् । रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषेष्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेदिति ॥ तथा द्रव्यविशेषादपि । (अ. ८ श्लो. ३२३) पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां वा विशेषतः । रत्नानां चैव सर्वेषां हरणे वधमर्हति । अकुलीनानां तु दण्डान्तरम् । पुरुषं हरतो दण्ड उक्त उत्तमसाहसः । स्त्र्यपराधे तु सर्वस्वं कन्यां तु हरतो वध इति ॥ क्षुद्रद्रव्याणां तु माषतो न्यूनमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः । काष्ठभाण्डतृणादीनां मृन्मयानां तथैव च ॥ वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम् ॥ शाकानामार्द्रमूलानां हरणे फलमूलयोः । गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः । पक्वान्नानां कृतान्नानां मत्स्यानामामिषस्य च । सर्वेषां मूल्यभूतानां मूल्यात्पञ्चगुणो दम इति नारदस्मरणात् ॥ यः पुनः प्रथमसाहसः क्षुद्रद्रव्येषु शतावरः पञ्चाशत्प-

किंच । अगर्भिणीमित्यनुवर्तते । या च परवधार्थमन्नपानादिषु विषं ददाति क्षिपति । या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददाति । तथा या च निजपतिगुर्वपत्यानि मारयति तां छिन्नकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा अदान्तैर्दुष्टबलीवर्दैः प्रवाह्य मारयेत् । स्तेयप्रकरणे यदेतत्साहसिकस्य दण्डविधानं तत्प्रासङ्गिकमिति मन्तव्यम् ॥ २७९ ॥

अविज्ञातकर्तृके हनेन हन्तृज्ञानोपायमाह

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतबान्धवाः ।
प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥ २८० ॥

अविज्ञातपुरुषेण घातितस्य संबन्धिनः सुताः प्रत्यासन्नाश्च बान्धवाः केनास्य कलहो जात इति कलहमाशु प्रष्टव्याः । तथा मृतस्य संबन्धिन्यो योषितो याश्च परपुंसि रता व्यभिचारिण्यस्ता अपि प्रष्टव्याः ॥ २८० ॥

स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वायं गतः सह ।
मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनैः ॥ २८१ ॥

कथंपृष्टव्या इत्यत आह ।

किमयं स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा तथा कस्यां किंसंबन्धिन्यां वा स्त्रियामस्य रतिरासीत् । कस्मिन् वा द्रव्ये प्रीतिः । कुतो वा वृत्तिकामः । केन वा सह देशान्तरं गत इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योषितः पृथक्पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्याः । तथा मरणदेशनिकटवर्तिनो गोपाटविकाद्या ये जनास्तेऽपि विश्वासपूर्वकं प्रष्टव्याः । एवं नानाप्रकारैः प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य तदुचितो दण्डो विधातव्यः ॥ २८१ ॥

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः ।
राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥ २८२ ॥

किंच । क्षेत्रं पक्कफलसस्योपेतम् । वेश्म गृहम् । वनमटवीं क्रीडावनं वा । ग्रामम् । विवीतमुक्तलक्षणम् । खलं वा ये दहन्ति यश्च राजपत्नीमभिगच्छति तान्सर्वान् कटैर्वीरणमयैर्वेष्टयित्वा दहेत् । क्षेत्रादिदाहकानां मारणदण्डप्रसंगाद्दण्डविधानम् ॥ २८२ ॥

॥ इति स्तेयप्रकरणम् ॥

अथ स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणाख्यं विवादपदं व्याख्यायते । प्रथमसाहसादिदण्डप्राप्त्यर्थं त्रेधा तत्स्वरूपं व्यासेन विवृतम् । त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम् । अदेशकालभाषाभिर्निर्जने च परस्त्रियाः ॥ कटाक्षावेक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम् । प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषण-

सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः ।
प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् ॥ २८६ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुप्तपरदाराभिगमने साशीतिपणसहस्रं दण्डनीयः । यदा त्वानुलोम्येन हीनवर्णा स्त्रियमगुप्तामभिगच्छति तदा मध्यमसाहसं दण्डनीयः । यदा पुनः सवर्णामगुप्तामानुलोम्येन गुप्तां वा व्रजति तदा मानवे विशेष उक्तः (अ. ८ श्लो. ३७८।३८३) सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रं तु भवेद्दम इति ॥ एतच्च गुरुसखिभार्याव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् । माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा । पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन् गुरुतल्पग उच्यते । शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयत इति नारदस्मरणात् ॥ प्रातिलोम्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने क्षत्रियादेः पुरुषस्य वधः । एतच्च गुप्ताविषयमन्यत्र तु धनदण्डः । (अ. ८ श्लो. ३७६ । ३७७) उभावपि हि तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह । विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु सेवेतां वैश्यपार्थिवौ ॥ वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणमिति मनुस्मरणात् । शूद्रस्य पुनरगुप्तामुत्कृष्टवर्णां स्त्रियं व्रजतो लिङ्गच्छेदनसर्वस्वापहारौ । गुप्तां तु व्रजतस्तस्य वधसर्वस्वापहाराविति तेनैवोक्तम् ॥ (अ. ८ श्लो. ३७३) शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् । अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयत इति । नार्याः पुनर्हीनवर्णं व्रजन्त्याः कर्णयोरादिग्रहणान्नासादेश्च कर्तनम् । आनुलोम्ये सवर्णं वा व्रजन्त्या दण्डः कल्प्यः अयं च वधाद्युपदेशो राज्ञ एव तस्यैव पालनाधिकारान्न द्विजातिमात्रस्य । तस्य ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीतेति शस्त्रग्रहणनिषेधात् । यदा तु राज्ञो निवेदने कालविलम्बनेन कार्यातिपाताशङ्का तदा स्वयमेव जारादीन् हन्यात् (मनु. अ. ८ श्लो. ३४८) शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । तथा (मनु. अ. ८ श्लो. ३५१) नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छतीति शस्त्रग्रहणाभ्यनुज्ञानाच्च ॥ तथा क्षत्रियवैश्ययोरन्योन्यस्त्र्यभिगमने यथाक्रमं सहस्रशतपणात्मकौ दण्डौ वेदितव्यौ । तदाह मनुः । (अ. ८ श्लो. ३८२) वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् । यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हत इति ॥ २८६ ॥

तदिदानीं संग्रहणे दण्डमाह ।

पारदार्यप्रसङ्गात् कन्यायामपि दण्डमाह ।

अलङ्कृतां हरेत्कन्यामुत्तमं ह्यन्यथाधमम् ।
दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः ॥ २८७ ॥

अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च।
गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥

गच्छन्नित्यनुवर्तते। उक्तलक्षणा वर्णस्त्रियो दास्यस्ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिव्युदासार्थं गृह एव स्थातव्यमित्येवं पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अवरुद्धाः। पुरुषनियतपरिग्रहाः भुजिष्याः यदा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या वा भवेयुस्तदा तासु यथा चशब्दाद्वेश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणां भुजिष्याणां च ग्रहणम्। तासु च सर्वपुरुषसाधारणतयागम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत्पणान् दण्डनीयः। परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात् एतच्च स्पष्टमुक्तं नारदेन। स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासनी च या। गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः ॥ आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात्परदारवत्। गम्यास्वपि हि नोपेयाद्यत्ताः परपरिग्रहा इति ॥ निष्कासिनी स्वाम्यनवरुद्धा दासी। ननु च स्वैरिण्यादीनां साधारणतया गम्यत्वाभिधानमयुक्तम्। नहि जातितः शास्त्रतो वा काश्चन लोके साधारणाः स्त्रिय उपलभ्यन्ते। तथाहि। स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्वर्णस्त्रिय एव। स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्। वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमत इति मनुस्मरणात् ॥ न च वर्णस्त्रीणां पत्यौ जीवति मृते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते। (मनु. अ. ९ श्लो. १९४।१९७) दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। परिचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य त्विति निषेधस्मरणात् ॥ नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम्। पित्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दानोपदेशात्। दात्रभावेऽपि तथाविधाया एव स्वयंवरोपदेशात्। न च दासीभावात्स्वधर्माधिकारच्युतिः। पारतन्त्र्यं हि दास्यं न स्वधर्मपरित्यागः। नापि वेश्या साधारणी वर्णानुलोमजव्यतिरेकेण गम्यजात्यन्तरासंभवात्। तदन्तःपातित्वे च पूर्ववदेवागम्यत्वम्। प्रतिलोमजत्वे तु तासां नितरामगम्यत्वम्। अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्माभ्यासेन पातित्यात्। पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सकलपुरुषोपभोगयोग्यत्वम्। सत्यमेवम्। किं त्वत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे पित्रादिरक्षकराजदण्डभयादिदृष्टदोषाभावाद्गम्यत्ववाचोयुक्तिः। दण्डाभावश्चावरुद्धासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपाधितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्वर्थादवगम्यते। स्वैरिण्याद्यानां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात् ॥ कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टां न किञ्चिदपि दापयेदिति लिङ्गनिदर्शनाच्चावगम्यते। प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्खलननिमित्तं गम्यानां गन्तॄणां चाविशेषाद्भवत्येव। यत्पुनर्वेश्यानां जात्यन्तरासंभवे न वर्णान्तःपातित्वमनुमानादुक्तम्। वेश्या वर्णानुलोमाद्यन्तःपातिन्यो मनुष्यजात्याश्रयत्वात्। ब्राह्मणादिवदिति। तन्न। तत्र कुण्डगोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात्। अतो वेश्याख्या काचिज्जातिरनादिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरुषादुत्पन्ना पुरुषसंभोगवृत्तिर्वेश्येति ब्राह्मण्यादिवल्लोकप्रसिद्धिबलादभ्यु-

साधारणस्त्रीगमनेदण्डमाह।

किंच। अन्त्या चाण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान्प्रायश्चित्तानभिमुखान् सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियमिति मनुवचनात्पणसहस्रं दण्डयित्वा कुबन्धेन कुत्सितबन्धेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत्। प्रायश्चित्ताभिमुखस्य पुनर्दण्डनमेव। शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्त्य एव चाण्डाल एव भवति। अन्त्यजस्य पुनश्चाण्डालादेरुत्कृष्टजातिस्त्र्यभिगमे वध एव ॥ २९४ ॥

इति स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् ॥

अथ प्रकीर्णकप्रकरणम् २५

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीपुंसयोगाख्यमप्यपरं विवादपरं मनुनारदाभ्यां विवृतम्। तत्र नारदः। विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते। स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तद्विवादपदमुच्यत इति ॥ मनुरप्याह। (अ.८ श्लो.२) अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या ह्यात्मनो वश इत्यादि ॥ यद्यपि स्त्रीपुंसयोः परस्परमर्थिप्रत्यर्थितया नृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्धस्तथापि प्रत्यक्षेण कर्णपरम्परया वा विदिते तयोः परस्परातिचारे दण्डादिना दम्पती निजधर्ममार्गे राज्ञा स्थापनीयौ। इतरथा दोषभाग्भवतीति व्यवहारप्रकरणे राजधर्ममध्ये अस्य स्त्रीपुंसधर्मजातस्योपदेशः। एतच्च विवाहप्रकरण एव सप्रपञ्चं प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरत्रोक्तम् ॥

सांप्रतं प्रकीर्णकाख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते। तल्लक्षणं च कथितं नारदेन। प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः। राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा ॥ पुरः प्रदानं संभेदः प्रकृतीनां तथैव च। पाखण्डिनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययाः ॥ पितापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमः। प्रतिग्रहविलोपश्च कोप आश्रमिणामपि। वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा। न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णके इति ॥ प्रकीर्णके विवादपदे ये विवादा राजाज्ञोल्लङ्घनतदाज्ञाकरणादिविषयास्ते नृपसमवायिनः। नृत एव तत्र स्मृत्याचारव्यपेतमार्गे वर्तमानानां प्रतिकूलतामास्थाय व्यवहारनिर्णयं कुर्यात् ॥ एवं च वदता यो नृपाश्रयो व्यवहारस्तत्प्रकीर्णकमित्यर्थाल्लक्षितं भवति ॥

तत्रापराधविशेषेण दण्डविशेषमाह

ऊनं वाभ्यधिकं वापि लिखेद्यो राजशासनम्।
पारदारिकचौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः २९५ ॥

राजदत्तभूमेर्निबन्धस्य वा परिमाणान्न्यूनत्वमाधिक्यं वा प्रकाशयन् राजशासनं यो लिखति यश्च पारदारिकं चौरं वा गृहीत्वा राज्ञेऽनर्पयित्वा मुञ्चति तावुभावुत्तमसाहसं दण्ड्यौ ॥ २९५ ॥

शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ।
प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥ ३०० ॥

अप्रवीणप्राजकप्रेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गजादिभिः शृङ्गिभिर्गवादिभिर्वध्यमानं समर्थोऽपि यद्यमोक्षयन् उपेक्षते तदा अकुशलप्राजकनियोजननिमित्तं प्रथमसाहसं दण्डं दद्यात् । यदा तु मारिताऽहमिति विक्रुष्टेऽपि न मोक्षयति तदा द्विगुणम् । यदा पुनः प्रवीणमेव प्राजकं प्रेरयति तदा प्राजक एव दण्ड्यो न स्वामी । यथाह मनुः । (अ. ८ श्लो. २९४) प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हतीति ॥ प्राजको यन्ता । आप्तोऽभियुक्तः । प्राणिविशेषाच्च दण्डविशेषः कल्पनीयः । यथाह मनुः । (अ. ८ श्लो. २९६ । ९७ । ९८ ।) मनुष्यमरणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषी भवेत् । प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ क्षुद्राणां च पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषकः । माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वशूकरनिपातन इति ॥ ३०० ॥

उपेक्षायांस्वामिनोदण्डमाह ।

जारं चौरेत्यभिवदन् दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।
उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०१ ॥

किंच । स्ववंशकलङ्कभयाज्जारं पारदारिकं चौरं निर्गच्छेत्यभिवदन् पञ्चशतं पणानां पञ्चशतानि यस्मिन् दमे स तथोक्तस्तं दमं दाप्यः । यः पुनर्जारहस्ताद्धनमुपजीव्य उत्कोचरूपेण गृहीत्वा जारं मुञ्चत्यसौ यावद्गृहीतं तावदष्टगुणीकृतं दण्डं दाप्यः ॥ ३०१ ॥

राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।
तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥ ३०२ ॥

किंच । राज्ञोऽनिष्टस्यानभिमतस्यामित्रस्तोत्रादेः प्रकर्षेण भूयोभूयो वक्तारं तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिणं निन्दाकरणशीलं तदीयस्य च मन्त्रस्य स्वराष्ट्रविवृद्धिहेतोः परराष्ट्रापक्षयकरस्य वा भेत्तारं अमित्रकर्णेषु जपन्तं तस्य जिह्वामुत्कृत्य स्वराष्ट्रान्निष्कासयेत् । कोशापहरणादौ पुनर्वध एव । (अ. ९ श्लो. २७५) राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपकारकानिति मनुस्मरणात् । विविधैः सर्वस्वापहाराङ्गच्छेदवधरूपैरित्यर्थः ॥ सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवनोपकरणं तन्नापहर्तव्यम् चौर्योपकरणं विना । यथाह नारदः । आयुधान्यायुधीयानां वाह्यादीन्वाह्यजीविनाम् । वेश्यास्त्रीणामलङ्कारान् वाद्यतोद्यादि तद्विदाम् ॥ यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः । सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हतीति ॥ ब्राह्मणस्य [illegible] द इति निषेधाद्वधस्थाने शिरोमुण्डनादिकं कर्त-

यः पुनर्न्यायमार्गेण पराजितोऽपि औद्धत्यान्नाहं पराजितोऽस्मीति मन्यते तमायान्तं कूटलेख्याद्युपन्यासेन पुनर्धर्माधिकरणमधितिष्ठन्तं धर्मेण पुनः पराजयं नीत्वा द्विगुणं दण्डं दापयेत् ॥ नारदेनाप्युक्तम् । तीरितं चानुशिष्टं वा यो मन्येत विधर्मतः । द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेदिति ॥ तीरितं साक्षिलेख्यादिनिर्णीतमनुद्धृतदण्डम् । अनुशिष्टमुद्धृतदण्डं दण्डपर्यन्तं नीतमिति यावत् ॥ यत्पुनर्मनुवचनम् । (अ. ९ श्लो. २३३) तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन विद्यते । कृतं तद्धर्मतो ज्ञेयं न तत्प्राज्ञो निवर्तयेदिति । तदर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरवचनाद्व्यवहारस्याधर्मतो वृत्तत्वाशङ्कायां पुनर्द्विगुणं दण्डं प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारं प्रवर्तयेत् । न पुनर्धर्मतो वृत्तत्वनिश्चयेऽपि राज्ञा लोभादिना प्रवर्तयितव्य इत्येवंपरम् । यत्पुनर्नृपान्तरेणापि न्यायापेतं कार्यं निवर्तितं तदपि सम्यक्परीक्षणेन धर्म्ये पथि स्थापनीयम् । न्यायापेतं यदन्येन राज्ञा ज्ञानकृतं भवेत् । तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेदिति स्मरणात् ॥ ३०६ ॥

राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम् ।
निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिंशद्गुणीकृतम् ॥ ३०७ ॥

अन्यायगृहीतदण्डधनस्यगतिमाह ।

अन्यायेन यो दण्डो राज्ञा लोभाद्गृहीतस्तं त्रिंशद्गुणीकृतं वरुणायेदमिति संकल्प्य ब्राह्मणेभ्यः स्वयं दद्यात् । यस्माद्दण्डरूपेण यावद्गृहीतमन्यायेन तावत्तस्मै प्रतिदेयमितरथापहारदोषप्रसङ्गात् । अन्यायदण्डग्रहणे पूर्वस्वामिनः स्वत्वविच्छेदाभावाच्चेति ॥ ३०७ ॥

इति श्रीमत्पद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षराख्यायां याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रविवृतौ द्वितीयोऽध्यायो व्यवहाराख्यः समाप्तिमगात् ॥

 उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः । धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥ १ ॥

सपिण्डैः समानोदकैश्च ज्येष्ठपुरःसरैरनुव्रज्योऽनुगन्तव्योऽस्मादेव वचनात् ऊनद्विवर्षस्यानुगमनमनियतमिति गम्यते ॥ अनुगम्य च परेयिवांसमित्यादि यमसूक्तम् । यमदैवत्या गाथाश्च जपद्भिर्लौकिकेनासंस्कृतेनाग्निना दग्धव्यो यदि जातारणिर्नास्ति । तत्सद्भावे तु तन्मथितेन दग्धव्यो न लौकिकेन । तस्याग्निसंपाद्यकार्यमात्रार्थत्वेनोत्पत्तेः लौकिकाग्निश्च चाण्डालाग्न्यादिव्यतिरिक्तो ग्राह्यः । चाण्डालाग्निरमेध्याग्निः सूतिकाग्निश्च कर्हिचित् । पतिताग्निश्चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचिता इति देवलस्मरणात् ॥ लौगाक्षिणा चात्र विशेष उक्तः । तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च । सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयमिति । अयमर्थः । चौलकर्मानन्तरकाले नियमेनाग्न्युदकदानं कार्यम् । अन्यत्रापि नामकरणादूर्ध्वं अकृतचूडेऽपीच्छया प्रेताभ्युदयकामनया द्वयं अग्न्युदकदानात्मकं तूष्णीं कार्यम् । न नियमेनेति विकल्पः । मनुनाप्यत्र विशेषो दर्शितः । (अ. ५ श्लो. ७०) नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्यान्नाम्नि वापि कृते सति । उदकग्रहणं साहचर्यादग्निसंस्कारस्याप्युपलक्षणार्थम् । नात्रिवर्षस्येति वचनात् ॥ कुलधर्मापेक्षया चूडोत्कर्षेऽपि वर्षत्रयादूर्ध्वमग्न्युदकदानादिनियमोऽवगम्यते । लौगाक्षिवचनाद्वर्षत्रयात्प्रागपि कृतचूडस्य तयोर्नियम इति विवेचनीयम् । उपेतश्चेद्यद्युपनीतस्तर्हि आहिताग्न्यावृता आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया स्वगृह्यादिप्रसिद्धया लौकिकाग्निनैव दग्धव्यः । अर्थवत्प्रयोजनवत् । अयमर्थः । यद्यस्य कुशद्वारं कार्यरूपं प्रयोजनं संभवति भूमिजोषणप्रोक्षणादि तत्तदुपादेयम् । यत्पुनर्लुप्तप्रयोजनं पात्रयोजनादि तन्निवर्तते । तथा लौकिकाग्निविधानेन उपनीतस्य अनाहिताग्नेर्गृह्याग्निना दाहविधानेन च अपहृतप्रयोजनत्वादाहवनीयादेरपि निवृत्तिरिति ॥ अग्न्यन्तरविधानं च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम् । आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः । अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनापरो जन इति । न च शूद्रेण श्मशानंप्रति अग्निकाष्ठादिनयनं कार्यम् । यस्यानयति शूद्रोऽग्निं तृणं काष्ठं हवींषि च । प्रेतत्वं हि सदा तस्य स चाधर्मेण लिप्यत इति यमस्मरणात् ॥ तथा दाहश्च स्नपनाद्यनन्तरं कार्यः । प्रेतं दहेच्छुभैर्गन्धैः स्नापितं स्रग्विभूषितमिति स्मरणात् । प्रचेतसाप्युक्तम् । स्नातं प्रेतस्य पुत्राद्यैर्वस्त्राद्यैः पूजनं ततः । नग्नदेहं दहेन्नैव किञ्चिद्देयं परित्यजेदिति । किञ्चिद्देयमिति शववस्त्रैकदेशं श्मशानवास्यर्थं देयं परित्यजेदित्यर्थः ॥ प्रेतनिर्हरणेऽपि मनुना विशेषो दर्शितः । (अ. ५ श्लो. १०४) न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण हारयेत् । अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता ॥ अत्र च स्वेषु तिष्ठत्सु इत्यविवक्षितम् । अस्वर्ग्यत्वादिदोषश्रवणात् ॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं परद्वारेण निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ॥ तथा हारीतोपि । न ग्रामाभिमुखं प्रेतं हरेयुरिति ॥ यदा तु प्रोषितमरणे शरीरं न लभ्यते तदास्थिभिः प्रतिकृतिं कृत्वा तेषामप्यलाभे पर्णशरैः शौनकादिगृह्योक्तमार्गेण प्रतिकृतिं कृत्वा संस्कारः कार्यः । आशौचं चात्र दशाहादिकमेव । आहिताग्निश्चेत्प्रवसन् म्रियेत पुनःसंस्कारं कृत्वा शववदाशौचमिति वसिष्ठस्मरणात् ॥ अनाहिताग्निस्तु त्रिरात्रं सुपिष्टैर्जलसंमिश्रैर्दग्धव्यश्च तथाग्निना ।

सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामगोत्रेण वाग्यताः ।

तच्चोदकदानमित्थं कर्तव्यम् । सपिण्डाः समानोदकाश्च मौनिनो भूत्वा प्रेतस्य नामगोत्रे उच्चार्य अमुकनामा प्रेतोऽमुकगोत्रस्तृप्यत्विति सकृदेवोदकं प्रसिञ्चेयुः । त्रिर्वा त्रिःप्रत्येकं कुर्युः प्रेतस्तृप्यत्विति प्रचेतःस्मरणात् ॥ प्रतिदिनमञ्जलिवृद्धिस्तु प्रतिपादितैव । तथा अयमपि विशेषस्तेनैवोक्तः । नदीकूलं ततो गत्वा शौचं कृत्वा यथार्थवत् । वस्त्रं संशोधयेदादौ ततः स्नानं समाचरेत् ॥ सचैलस्तु ततः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः । पाषाणं तत आदाय विप्रे दद्याद्दशाञ्जलीन् ॥ द्वादश क्षत्रिये दद्याद्वैश्ये पञ्चदश स्मृताः । त्रिंशच्छूद्राय दातव्यास्ततः संप्रविशेद्गृहम् ॥ ततः स्नानं पुनः कार्यं गृहशौचं च कारयेदिति ॥

उदकदानेगुणविधिमाह ।

सपिण्डानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधमाह

न ब्रह्मचारिणः कुर्युरुदकं पतितास्तथा ॥ ५ ॥

ज्ञातित्वे सत्यपि ब्रह्मचारिणः समावर्तनपर्यन्तं पतिताश्च प्रच्युतद्विजातिकर्माधिकारा उदकादिदानं न कुर्युः ॥ ब्रह्मचर्योत्तरकालं पूर्वं मृतानां सपिण्डादीनां उदकदानमाशौचं च कुर्यादेव । यथाह मनुः । (अ. ५ श्लो. ८८) आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं दत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेदिति । आदिष्टी कस्य ब्रह्मचार्यस्यपोशान कर्म कुरु दिवा मा स्वाप्सीरित्यादिव्रतादेशयोगाद्ब्रह्मचार्युच्यते । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेणेति वक्ष्यति । आचार्यपित्रुपाध्यायानित्यत्राचार्यः पुनरेवं मन्यते । आदिष्टीति प्रक्रान्तप्राश्चित्तः कथ्यते तस्यैवायमुदकदानादिनिषेधः प्रायश्चित्तरूपव्रतसमाप्त्युत्तरकालमुदकदानाशौचविधिरिति ॥ तथा क्लीबादीनां चोदकदायित्वं निषिद्धम् । क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना व्रात्या विधर्मिणः । गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषित इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ ५ ॥

एवमुदकदाने कर्तृविशेषप्रतिषेधमुक्त्वा संप्रदानविशेषेण प्रतिषेधमाह

पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेनाः भर्तृघ्न्यः कामगादिकाः ।
सुराप्य आत्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनः ॥ ६ ॥

नरशिरःकपालादि श्रुतिबाह्यलिङ्गधारणं पाखण्डं तद्येषां ते पाखण्डिनः । अनाश्रिताः अधिकारे सत्यप्यकृताश्रमविशेषपरिग्रहाः । स्तेनाः सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यहारिणः भर्तृघ्न्यः पतिघातिन्यः । कामगाः कुलटाः आदिग्रहणात्स्वगर्भब्राह्मणघातिन्यो गृह्यन्ते । सुराप्यो यासां या सुरा प्रतिषिद्धा तत्पानरताः आत्मत्यागिन्यः विषाग्न्युदकोद्बन्धनाद्यैरात्मानं यास्त्यजन्ति । एते पाखण्ड्यादयस्त्रिरात्रं दशरात्रं वेति वक्ष्यमाणस्याशौचस्योदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकस्य च भाजना न भवन्ति । भाजयन्तीति भाजनाः सपिण्डादीनामाशौचादिनिमित्तभूता न भवन्ति अतस्तन्मरणे सपिण्डैरुदकदानादि न कार्यमित्येतत्प्रतिपादनपरं वचनम् । अत्र च सुराप्य

श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिकेषु निषिद्धेषु किं पुनस्तेषां कार्यमित्यपेक्षायां वृद्धयाज्ञवल्क्यछागलेयाभ्यामुक्तम् । नारायणबलिः कार्यो लोकगर्हाभयान्नरैः । तथा तेषां भवेच्छौचं नान्यथेत्यब्रवीद्यमः ॥ तस्मात्तेभ्योऽपि दातव्यमन्नमेव सदक्षिणमिति ॥ व्यासेनाप्युक्तम् । नारायणं समुद्दिश्य शिवं वा यत्प्रदीयते । तस्य शुद्धिकरं कर्म तद्भवेन्नैतदन्यथेति ॥ एवं नारायणबलिः प्रेतस्य शुद्ध्यापादनद्वारेण श्राद्धादिसंप्रदानत्वयोग्यतां जनयतीति और्ध्वदेहिकमपि सर्वं कार्यमेव । अत एव षट्त्रिंशन्मतेऽपि और्ध्वदेहिकस्याभ्यनुज्ञा दृश्यते । गोब्राह्मणहतानां च पतितानां तथैव च । ऊर्ध्वं संवत्सरात्कुर्यात्सर्वमेवौर्ध्वदेहिकमित्येवं संवत्सरादूर्ध्वमेव नारायणबलिं कृत्वौर्ध्वदेहिकं कार्यम् ॥

नारायणबलिश्चेत्थं कार्यः । कस्यांचिच्छुक्लैकादश्यां विष्णुं वैवस्वतं यमं च यथावदभ्यर्च्य पिण्डप्रवाहणान्तं कृत्वा नद्यां क्षिपेत् न पल्यादिभ्यो दद्यात् ॥ ततस्तस्यामेव रात्र्यामयुग्मान्ब्राह्मणानामन्त्र्योपोषितः श्वोभूते मध्याह्ने विष्ण्वाराधनं कृत्वा एकोद्दिष्टविधिना ब्राह्मणपादप्रक्षालनादितृप्तिप्रश्नान्तं कृत्वा पिण्डपितृयज्ञावृतोल्लेखनाद्यवनेजनान्तं तूष्णीं कृत्वा विष्णवे ब्रह्मणे शिवाय यमाय च परिवारसहिताय चतुरः पिण्डान्दत्वा नामगोत्रसहितं प्रेतं संस्मृत्य विष्णोर्नाम संकीर्त्य पञ्चमं पिण्डं दद्यात् । ततो विप्रानाचान्तान्दक्षिणाभिस्तोषयित्वा तन्मध्ये चैकं गुणवत्तमं प्रेतबुद्ध्या संस्मरन् गोभूहिरण्यादिभिरतिशयेन संतोष्य ततः पवित्रपाणिभिर्विप्रैः प्रेताय तिलादिसहितमुदकं दापयित्वा स्वजनैः सार्धं भुञ्जीत ॥

नारायणबलिप्रयोगः ।

सर्पहते त्वयं विशेषः । संवत्सरं यावत्पुराणोक्तविधिना पञ्चम्यां नागपूजां विधाय पूर्णे संवत्सरे नारायणबलिं कृत्वा सौवर्णं नागं दद्यात् गां च प्रत्यक्षाम् । ततः सर्वमौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् ।

नागबलिविधिः ।

नारायणबलिस्वरूपं च वैष्णवेभिहितं यथा । एकादशीं समासाद्य शुक्लपक्षस्य वै तिथिम् । विष्णुं समर्चयेद्देवं यमं वैवस्वतं तथा ॥ दश पिण्डान्घृताभ्यक्तान्दर्भेषु मधुसंयुतान् । तिलमिश्रान्प्रदद्याद्वै संयतो दक्षिणामुखः ॥ विष्णुं बुद्धौ समासाद्य नद्यम्भसि ततः क्षिपेत् । नामगोत्रग्रहं तत्र पुष्पैरभ्यर्चनं तथा ॥ धूपदीपप्रदानं च भक्ष्यं भोज्यं तथा परम् । निमन्त्रयेत विप्रान्वै पञ्च सप्त नवापि वा ॥ विद्यातपःसमृद्धान्वै कुलोत्पन्नान्समाहितान् । अपरेऽहनि संप्राप्ते मध्याह्ने समुपोषितः ॥ विष्णोरभ्यर्चनं कृत्वा विप्रांस्तानुपवेशयेत् । उदङ्मुखान्यथाज्येष्ठं पितृरूपमनुस्मरन् ॥ मनो निवेश्य विष्णौ वै सर्वं कुर्यादतन्द्रितः । आवाहनादि यत्प्रोक्तं देवपूर्वं तदाचरेत् ॥ तृप्तान् ज्ञात्वा ततो विप्रान् तृप्तिं पृष्ट्वा यथाविधि । हविष्यव्यञ्जनेनैव तिलादिसहितेन च ॥ पञ्च पिण्डान्प्रदद्याच्च दैवं रूपमनुस्मरन् । प्रथमं विष्णवे दद्याद्ब्रह्मणे च शिवाय च ॥ यमाय सानुचराय चतुर्थं पिण्डमुत्सृजेत् । मृतं संकीर्त्य मनसा गोत्रपूर्वमतः परम् । विष्णोर्नाम गृहीत्वैवं पञ्चमं पूर्ववत्क्षिपेत् ॥

विष्णुपुराणोक्तनारायणबलि ।

फेनसन्निभो मरणधर्मा भूतसंघो विनाशं न यास्यति । उचितमेव हि मरणधर्मिणः प्रयाणं अतो निष्प्रयोजनः शोकसमावेशः ॥ १० ॥

अनिष्टापादकत्वादप्यनुशोचनं न कार्यमित्याह

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥ ११ ॥

यस्मादनुशोचद्भिर्बान्धवैर्वदननयननिर्गमितं श्लेष्माश्रु वा यस्मादवशोऽकामोऽपि प्रेतो भुङ्क्ते तस्मान्न रोदितव्यं किंतु प्रेतहितेप्सुभिः स्वशक्त्यनुसारेण श्राद्धादिक्रियाः कार्याः ॥ ११ ॥

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः ।
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ॥ १२ ॥
आचम्याग्न्यादि सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् ।
प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाश्मनि पदं शनैः ॥ १३ ॥

एवं कुलवृद्धवचांसि सम्यगाकर्ण्य त्यक्तशोकाः सन्तो बालानग्रतः कृत्वा गृहं गच्छेयुः । गत्वा च वेश्मनो द्वारि स्थित्वा नियताः संयतमनस्काः निम्बपत्राणि विदश्य दशनैः खण्डनं कृत्वा खादित्वा वमनं कृत्वाग्न्युदकगोमयसर्षपानालभ्य आदिग्रहणाद्दूर्वाप्रवालमग्निवृषभौ वेति शंखोक्तौ दूर्वाङ्कुरवृषभावपि स्पृष्ट्वाश्मनि च पदं निधाय शनैरस्खलितं वेश्म प्रविशेयुः ॥

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।
इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात् ॥ १४ ॥

अतिदेशमाह । यदेतत्पूर्वोक्तं निम्बपत्रदशनादि वेश्मप्रवेशनान्तं कर्म तन्न केवलं ज्ञातीनामपि तु परेषामपि धर्मार्थं प्रेतालङ्कारनिर्हरणादिकं कुर्वतां भवति । प्रवेशनादिकमित्यत्र आदिशब्दो माङ्गलिकत्वात्प्रतिलोमक्रमाभिप्रायः । तेषां च धर्मार्थनिर्हरणादौ प्रवृत्तानां तत्क्षणाच्छुद्धिमिच्छतां असपिण्डानां स्नानप्राणायामाभ्यामेव शुद्धिः । यथाह पराशरः । अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः । पदेपदे यज्ञफलमनुपूर्वं लभन्ति ते ॥ न तेषामशुभं किञ्चित्पापं वा शुभकर्मणाम् । जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधियत इति ॥ स्नेहादिना निर्हरणे तु मनूक्तो विशेषः । (अ. ५ श्लो. १०१।१०२) असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् । विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति । अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन् गृहे वसेत् इति ॥ अत्रेयं व्यवस्था । यः स्नेहादिना शवनिर्हरणं कृत्वा तदीयमन्नमश्नाति तद्गृहे च वसति तस्य दशाहेनैव शुद्धिः यस्तु केवलं तद्गृहे वसति न पुनस्तदन्नमश्नाति तस्य त्रिरात्रम् । यः पुनर्निर्हरणमात्रं करोति न तद्गृहे वसति न च तदन्नमश्नाति तस्यैकाह इति ॥ एतत्सजातीयविषयम् । विजातीयविषये पुनर्यज्जातीयं प्रेतं निर्हरति तज्जातिप्रयुक्तमाशौचं कार्यम् । यथाह गौतमः । अवर-

सर्वैरनुमतिं कृत्वा ज्येष्ठेनैव तु यत्कृतम्। द्रव्येण वा विभक्तेन सर्वैरेव कृतं भवेदिति मरीचिस्मरणात् ॥ पिण्डसंख्यानियमश्च। ब्राह्मणस्य दश पिण्डाः क्षत्रियस्य द्वादशैवेत्येवमाशौचदिवससंख्यया विष्णुनाभिहितः। यावदाशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दद्युरिति ॥ तथा स्मृत्यन्तरेऽपि। नवभिर्दिवसैर्दद्यान्नव पिण्डान्समाहितः। दशमं पिण्डमुत्सृज्य रात्रिशेषे शुचिर्भवेदिति शुचित्ववचनमपरेद्युः क्रियमाणश्राद्धार्थब्राह्मणनिमन्त्रणाभिप्रायेण। योगीश्वरेण तु पिण्डत्रयदानमभिहितं अनयोश्च गुरुलघुकल्पयोरुदकदानविषयोक्ता व्यवस्था विज्ञेया। अत्रापरः शातातपीयो विशेषः। आशौचस्य तु ह्रासेऽपि पिण्डान्दद्याद्दशैव त्विति ॥ त्रिरात्राशौचिनां पुनः पारस्करेण विशेषो दर्शितः। प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः। द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसंचयनं तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्तथेति ॥१६॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये।

किंच। जलं क्षीरं च मृन्मये पात्रद्वये पृथक् पृथगाकाशे शिक्यादावेकाहं स्थापनीयम्। अत्र विशेषानुपादानात्प्रथमेऽहनि कार्यम्। तथा पारस्करवचनात्। प्रेतात्र स्नाहीत्युदकं स्थाप्यं पिब चेदमिति क्षीरम् ॥ तथास्थिसंचयनं च प्रथमादिदिनेषु कार्यम्। तथाह संवर्तः। प्रथमेऽह्नि तृतीये वा सप्तमे नवमे तथा। अस्थिसंचयनं कार्यं दिने तद्गोत्रजैः सहेति। क्वचिद्द्वितीये त्वस्थिसंचय इत्युक्तम्। वैष्णवे तु चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यात् तेषां च गङ्गाम्भसि प्रक्षेप इति अतोन्यतमस्मिन्दिने स्वगृह्योक्तविधिनास्थिसंचयनं कार्यम्। अङ्गिरसा चात्र विशेषो दर्शितः। अस्थिसंचयने यागो देवानां परिकीर्तितः। प्रेतीभूतं तमुद्दिश्य यः शुचिर्न करोति चेत् ॥ देवतानां तु यजनं तं शपन्त्यथ देवताः ॥ देवताश्चात्र श्मशानवासिन्यः। तत्र पूर्वदग्धाः श्मशानवासिनो देवाः शवानां परिकीर्तिता इति तेनैवोक्तम्। अतस्तान्देवानचिरमृतं च प्रेतमुद्दिश्य धूपदीपादिभिः पिण्डरूपेण चान्नेन तत्र पूजा कार्येत्युक्तं भवति ॥ तथा वपनं च दशमेऽहनि कार्यम्। दशमेऽहनि संप्राप्ते स्नानं ग्रामाद्बहिर्भवेत्। तत्र त्याज्यानि वासांसि केशश्मश्रुनखानि चेति देवलस्मरणात् ॥ तथा स्मृत्यन्तरेऽपि। द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं क्षुरकर्म प्रयत्नतः। तृतीये पञ्चमे वापि सप्तमे वा प्रदानत इति। श्राद्धप्रदानादर्वागनियम इति यावत्। वपनं च केषामित्याकाङ्क्षायामापस्तम्बेनोक्तम्। अनुभाविनां च परिवापनमिति। अयमर्थः। शावं दुःखमनुभवन्तीत्यनुभाविनः सपिण्डास्तेषां चाविशेषेण वपनमुताल्पवयसामित्यपेक्षायामिदमेवोपतिष्ठते। अनुभाविनां परिवापनमिति। अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनोऽल्पवयसस्तेषां वपनमिति। अनुभाविनः पुत्रा इति केचिन्मन्यन्ते। गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरोर्मृतौ। आधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्मृतमिति नियमदर्शनात् ॥

अशुचित्वेन सकलश्रौतस्मार्तकर्माधिकारनिवृत्तौ प्रसक्तायां केषुचिदभ्यनुज्ञानार्थमाह।

वैतानौपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदनात् ॥ १७ ॥

वितानोऽग्नीनां विस्तारस्तत्र भवा वैतानाः त्रेताग्निसाध्या अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासाद्याः क्रिया उच्यन्ते। प्रतिदिनमुपास्यत इत्युपासनो गृह्याग्निस्तत्र भवा औपासनाः सायंप्रातर्होमक्रि-

तथाशौचपरिग्रहत्वेऽपि केषुचिद्द्रव्येषु दोषाभावः। यथाह मरीचिः। लवणे मधुमांसे च पुष्पमूलफलेषु च। शाककाष्ठतृणेष्वप्सु दधिसर्पिःपयेषु च॥ तिलौषधाजिने चैव पक्वापक्वे स्वयंग्रहः। पण्येषु चैव सर्वेषु नाशौचं मृतसूतके इति। पक्वं भक्ष्यजातं मोदकादि। अपक्वं तण्डुलादि। स्वयंग्रह इति स्वयमेव स्वाम्यनुज्ञातो गृह्णीयादित्यर्थः। पक्वापक्वाभ्यनुज्ञातमन्नं सत्रप्रवृत्तविषयम्। अन्नसत्रप्रवृत्तानामामान्नमगर्हितम्। भुक्त्वा पक्वान्नमेतेषां त्रिरात्रं तु पयः पिबेदित्यङ्गिरःस्मरणात्। अत्र पक्वशब्दो भक्ष्यव्यतिरिक्तौदनादिविषयः॥ शवसंसर्गनिमित्ताशौचे त्वङ्गिरसा विशेष उक्तः। आशौचं यस्य संसर्गादापतेद्गृहमेधिनः। क्रियास्तस्य न लुप्यन्ते गृह्याणां च न तद्भवेदिति। तदाशौचं केवलं गृहमेधिन एव न पुनस्तद्गृहे भवानां भार्यादीनां तद्द्रव्याणां च भवेदित्यर्थः। अतिक्रान्ताशौचेऽप्ययमेवार्थः स्मृत्यन्तरे दर्शितः। अतिक्रान्ते दशाहे तु पश्चाज्जानाति चे द्गृही। त्रिरात्रं सूतकं तस्य न तद्द्रव्यस्य कर्हिचिदिति॥ १७॥

एवमाशौचिनो विधिप्रतिषेधरूपान्धर्मानभिधायाधुना आशौचनिमित्तं कालनियमं चाह।

त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते।
ऊनद्विवर्ष उभयोः सूतकं मातुरेव हि॥ १८॥

शवनिमित्तं शावम्। सूतकशब्देन च जननवाचिना तन्निमित्तमाशौचं लक्ष्यते। एवं च वदता जननमरणयोराशौचनिमित्तत्वमुक्तं भवति। तच्च जननमरणमुत्पन्नज्ञातमेव निमित्तम्। निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म चेत्यादिलिङ्गदर्शनात्। तथा विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्। यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेदित्यादिवाक्यारम्भसामर्थ्याच्च। उत्पत्तिमात्रापेक्षत्वे ह्याशौचस्य दशाहाद्याशौचकालनियमास्तत्तत्प्रभृतिका एवेति॥ अनिर्दशज्ञातिमरणश्रवणे दशरात्रशेषमेवाशौचमर्थात्सिध्यतीति। यच्छेषं दशरात्रस्येत्यनारम्भणीयं स्यात् तस्माज्ज्ञातमेव मरणं जननं च निमित्तं तच्चोभयनिमित्तमपि आशौचं त्रिरात्रं दशरात्रं चेष्यते मन्वादिभिः॥ अत्राशौचप्रकरणे अहर्ग्रहणं रात्रिग्रहणं वा अहोरात्रोपलक्षणार्थम्। मन्वादिभिरिष्यत इति वचनं तदुक्तसपिण्डसमानोदकरूपविषयभेदप्रदर्शनार्थम्॥ तथा हि। दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम्॥ जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते। शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहात्तूदकदायिन इत्येतैर्वाक्यैस्त्रिरात्रदशरात्रयोः समानोदकसपिण्डविषयत्वेन व्यवस्था कृता। अतः सपिण्डानां सप्तमपुरुषावधिकानामविशेषेण दशरात्रम्। समानोदकानां त्रिरात्रमिति॥ यत्पुनः स्मृत्यन्तरवचनम्। चतुर्थे दशरात्रं स्यात्षण्निशाः पुंसि पञ्चमे। षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे त्वहरेव त्विति तद्विगीतत्वान्नादरणीयम्। यद्यप्यविगीतं तथापि मधुपर्काङ्गपश्वालम्भनवत् लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयम्। अस्वर्ग्यं[1] लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न त्विति मनुस्मरणात्। न च सप्तमे

आशौचनिमित्तानि कालनियमाश्चाह।

---
१ इदं वचनं याज्ञवल्कीयमाचाराध्याये पठितम्।

जन्मदानाम देवताः । तासां यागनिमित्तं तु शुचिर्जन्मनि कीर्तिता ॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा । त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पितृजन्मनि ॥ मार्कण्डेयेनाप्युक्तम् । रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः । रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः ॥ पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः । रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतक इति ॥ १९ ॥

आशौचमध्ये पुनर्जनने मरणे वा जाते प्रतिनिमित्त नैमित्तिकमावर्तेत इति न्यायेन पुनर्दशाहाद्याशौचप्राप्तौ तदपवादमाह ।

अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति ।

वर्णापेक्षया वयोवस्थापेक्षया वा यस्य यावानाशौचकालस्तदन्तरा तत्समस्य ततो न्यूनस्य वाशौचस्य निमित्तभूते जनने मरणे वा जाते पूर्वाशौचावशिष्टैरेवाहोभिर्विशुद्ध्यति । न पुनः पश्चादुत्पन्नजननादिनिमित्तं पृथक्पृथगाशौचं कार्यम् ॥

आशौचसंपातेनिर्णयः ।

यदा पुनरल्पाद्वर्तमानाशौचाद्दीर्घकालमाशौचमन्तरा पतति तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः । यथाहोशनाः । स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वेण विशुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुद्ध्यतीति । यमोऽप्याह । अहो वृद्धिमदाशौचं पश्चिमेन समापयेदिति । अत्र चान्तरा जन्ममरणे इति यद्यप्यविशेषेणाभिहितं तथापि न सूतकान्तर्वर्तिनः शावस्य पूर्वाशौचशेषेण शुद्धिः । यथाहाङ्गिराः । सूतके मृतके चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम् । तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सूतकमिति । तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि । शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् । शावेन शुद्ध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधिनीति । तस्मान्न सूतकान्तःपातिनः शावस्य पूर्वशेषेण शुद्धिः । किंतु शावान्तःपातिन एव सूतकस्य तथा सजातीयान्तःपातित्वेऽपि शावस्य क्वचित्पूर्वशेषेण शुद्धेरपवादः स्मृत्यन्तरे दर्शितः । मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता । पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पक्षिणीमिति । अयमर्थः । मातरि पूर्वं मृतायां तन्निमित्ताशौचमध्ये यदि पितुरुपरमः स्यात्तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः किंतु पितुः प्रयाणनिमित्ताशौचकालेनैव शुद्धिः कार्या । तथा पितुः प्रयाणनिमित्ताशौचमध्ये मातरि स्वर्यातायामपि न पूर्वशेषमात्राच्छुद्धिः किंतु पूर्वाशौचं समाप्योपरि पक्षिणीं क्षिपेदिति ॥ तथाशौचसन्निपातकालविशेषकृतोऽप्यपवादो गौतमेनोक्तः । रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते सति तिसृभिरिति। अयमर्थः । रात्रिमात्रावशिष्टे पूर्वाशौचे यद्याशौचान्तरं सन्निपतेत् तर्हि पूर्वाशौचं समाप्यानन्तरं द्वाभ्यां रात्रिभ्यां शुद्धिः । प्रभाते पुनस्तस्या रात्रेः पश्चिमे यामे जननाद्याशौचान्तरसन्निपाते सति तिसृभी रात्रिभिः शुद्धिः न पुनस्तच्छेषमात्रेण ॥ शातातपेनाप्युक्तम् । रात्रिशेषे व्यहाच्छुद्धिर्यामशेषे शुचिस्त्र्यहादिति । प्रेतक्रिया पुनः सूतकसन्निपातेऽपि न निवर्तत इति तेनैवोक्तम् । अन्तर्दशाहे जननात्पश्चात्स्यान्मरणं यदि । प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यं पिण्डदानं स्वबन्धुभिः ॥ प्रारब्धे प्रेतपिण्डे तु मध्ये चेज्जननं भवेत् । तथैवाशौचपिण्डास्तु शेषान्दद्याद्यथाविधीति ॥ तथा शावाशौचयोः सन्निपातेऽपि प्रेतकृत्यं कार्यम् । तुल्यन्यायत्वात् । तथा जातकर्मादिकमपि पुत्रजन्मनिमित्तं आशौचान्तरसन्निपातेऽपि कार्यमेव । तथाह प्रजापतिः । आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् । कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यतीति ॥

शौचं यदि तत्र सपिण्डजननं तदा सूतकमपि नैव कार्यं किंतु पूर्वाशौचेनैव शुद्धिरिति ॥ यत्तु बृहन्मनुवचनम् । जीवञ्जातो यदि ततो मृतः सूतक एव तु । सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकमिति । यच्च बृहत्प्रचेतोवचनम् । मुहूर्तं जीवतो बालः पञ्चत्वं यदि गच्छति । मातुः शुद्धिर्दशाहेन सद्यः शुद्धास्तु गोत्रिण इति तत्रेयं व्यवस्था । जननानन्तरं नाभिवर्धनात्प्राङ्मृतौ पित्रादीनां जनननिमित्तमाशौचं दिनत्रयम् । सद्यः शौचं त्वग्निहोत्राद्यर्थम् । अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनात्तत्कालं शौचमिति शङ्खस्मरणात् । नाभिवर्धनोत्तरकालं तु शिशुप्रयाणेऽपि जनननिमित्तं संपूर्णमाशौचं सपिण्डानाम् । यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः पश्चात्सूतकं तु विधीयत इति जैमिनिस्मरणात् । मनुनाप्ययमर्थो दर्शितः (अ. ५ श्लो. ६६) रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वलेति पूर्वभागस्यार्थो दर्शितः । उत्तरस्य त्वयमर्थः । रजसि निःसरणादुपरते निवृत्ते रजस्वला स्त्री स्नानेन साध्वी दैवादिकर्मयोग्या भवति । स्पर्शनादिविषये पुनरनुपरतेऽपि रजसि चतुर्थेऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति । तदुक्तं वृद्धमनुना । चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकीति । तथा स्मृत्यन्तरम् । शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यतीति । पञ्चमेऽहनीति रजोनिवृत्तिकालोपलक्षणार्थम् । यदा रजोदर्शनादारभ्य पुनः सप्तदशदिनाभ्यन्तरे रजोदर्शनं तदा अशुचित्वं नास्त्येव । अष्टादशे त्वेकाहाच्छुद्धिः । एकोनविंशे द्व्यहात् । तत उत्तरेषु त्र्यहाच्छुद्धिः । यथाहात्रिः । रजस्वला यदि स्नाता पुनरेव रजस्वला । अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते ॥ एकोनविंशतेरर्वागेकाहं स्यात्ततो द्व्यहम् । विंशत्प्रभृत्युत्तरेषु त्रिरात्रमशुचिर्भवेदिति । चतुर्दशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यत इति स्मृत्यन्तरं तत्र स्नानप्रभृतित्वमभिप्रेतमतो न विरोधः । अयं चाशुचित्वप्रतिषेधो यस्या विंशतिदिनोत्तरकालमेव प्रायशो रजोदर्शनं तद्विषयः । यस्याः पुनरारूढयौवनायाः प्रागेवाष्टादशदिनात्प्राचुर्येण रजोनिर्गमस्तस्यास्त्रिरात्रमेवाशौचम् । तया च यावत्त्रिरात्रं स्नानादिरहितया स्थातव्यम् । रजस्वला त्रिरात्रमशुचिर्भवति सा च नाञ्जीत नाभ्यञ्जीत नाप्सु स्नायादधः शयीत न दिवा स्वप्यात् । न ग्रहान्वीक्षेत नाग्निं स्पृशेत् नाश्नीयान्न रज्जुं सृजेत् न च दन्तान्धावयेत् न हसेन्नच किञ्चिदाचरेत् । अखर्वेण पात्रेण पिबेदञ्जलिना वा पात्रेण लोहितायसेन वेति विज्ञायत इति वसिष्ठस्मरणात् । आङ्गिरसेऽपि विशेषः । हस्तेऽश्नीयान्मृन्मये वा हविर्भुक् क्षितिशायिनी । रजस्वला चतुर्थेऽह्नि स्नात्वा शुद्धिमवाप्नुयादिति । पाराशरेऽपि विशेषः । स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला । पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥ सिक्तगात्रा भवेदद्भिः साङ्गोपाङ्गा कथञ्चन । न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत् इति ॥ उशनसाप्यत्र विशेषो दर्शितः । ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता । कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा ॥ चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम् । सा च चैलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत् । दशद्वादशकृत्वो वा आचमेच्च पुनः पुनः ॥ अन्ते

रजस्वलाशुद्धिविवेकः ।

रजस्वलानियमाः ।

रोगावस्थायां विशेषः ।

मनुः (अ. ५ श्लो. ९८) उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिरिति ॥

ज्ञातस्यैव जननादेराशौचनिमित्तत्वाज्जन्मदिनादुत्तरकालेऽपि ज्ञाते दशाहादिप्राप्तावपवादमाह

प्रोषिते कालशेषः स्यात्पूर्णे दत्वोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

प्रोषिते देशान्तरस्थे यत्रस्थेन प्रथमदिवस एव सपिण्डजननादिकं न ज्ञायते तस्मिन्सपिण्डे कालस्य दशाहाद्यवच्छिन्नस्य यः शेषोऽवशिष्टकालः स एव शुद्धिहेतुर्भवति पूर्णे पुनराशौचकाले दशाहादिके प्रेतायोदकं दत्वा शुद्धिर्भवति । उदकदानस्य स्नानपूर्वकत्वात्स्नात्वोदकं दत्वा शुचिर्भवति । तदुक्तं मनुना । (अ. ५ श्लो. ७७) निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानव इति । पूर्णे दत्वोदकं शुचिरिति । प्रेतोदकदानसहचरितस्याशौचकालस्य शुद्धिहेतुत्वविधानात् । जन्मन्यतिक्रान्ताशौचं सपिण्डानां नास्तीति गम्यते । पितुस्तु निर्दशेऽपि जनने स्नानमस्त्येव । श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म चेति वचनात् । एतच्च पुत्रग्रहणं जन्मनि सपिण्डानामतिक्रान्ताशौचं नास्तीत्यत्र ज्ञापकम् । अन्यथा निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा जन्म च निर्दशमित्येवावक्ष्यत् । तथा च देवलः । नाशुद्धिः प्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपीति । तस्माद्विपत्तावेवातिक्रान्ताशौचमिति स्थितिः ॥ केचिदन्यथेमं श्लोकं पठन्ति । प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषे त्र्यह एव तु । सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्वोदकं शुचिरिति । प्रोषिते सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियादीनामविशेषेण कालशेषः शुद्धिहेतुः । अशेषे पुनरतिक्रान्ते दशाहादौ सर्वेषां त्र्यहमेवाशौचम् । संवत्सरे पूर्णे यदि प्रोषितप्रयाणमवगतं स्यात्तदा सर्वो ब्राह्मणादिः स्नात्वोदकं दत्वा शुचिः स्यात् । तथा च मनुः (अ. ५ श्लो. ७६) संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यतीति । अयं च त्र्यहो दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वाग्द्रष्टव्यः । पूर्वोक्तं सद्यः शौचं तु नवममासादूर्ध्वमर्वाक्संवत्सराद्द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्वासिष्ठं वचनम् । ऊर्ध्वं दशाहाच्छ्रुत्वैकरात्रमिति । तदूर्ध्वं षण्मासेभ्यो यावन्नवमम् । यदपि गौतमवचनम् । श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणीति तन्मासत्रयादूर्ध्वमर्वाक्षष्ठात् । तथा च वृद्धवसिष्ठः । मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा । अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यतीति । एतच्च मातापितृव्यतिरिक्तविषयम् । पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेदिति पैठीनसिस्मरणात् । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि । महागुरुनिपाते तु आर्द्रवस्त्रोपवासिना । अतीतेऽब्देऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधीति । संवत्सरादूर्ध्वमपि प्रेतकार्यमाशौचोदकदानादिकं कार्यम् । न पुनः स्नानमात्राच्छुद्धिरित्यर्थः । पितृपत्न्यामपि मातृव्यतिरिक्तायां स्मृत्यन्तरे विशेषो दर्शितः । पितृपत्न्यामपेतायां मातृवर्ज्यं द्विजोत्तमः । संवत्सरे व्यतीतेऽपि त्रिरात्रमशुचिर्भवेदिति । यस्तु नद्यादिव्यवहिते देशान्तरे मृतस्तत्सपिण्डानां दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वागपि सद्यः शौचम् । देशान्तरमृतं श्रुत्वा क्लीबे वैखानसे यतौ । मृते स्नानेन शुध्यन्ति गर्भस्रावे च गोत्रिण इति । देशान्तरलक्षणं च बृहस्पतिनोक्तम् । महानद्यन्तरं यत्र

त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् ॥ २३ ॥

यावता कालेन दन्तानामुत्पत्तिस्तस्मिन्काले अतीतस्य बालस्य तत्संबन्धिनां सद्यः शौचं चूडाकरणादर्वाङ्मृतस्य संबन्धिनां नैशिकी निशायां भवा अहोरात्रव्यापिन्यशुद्धिः । व्रतादेश उपनयनं ततोऽर्वाक् चूडायाश्चोर्ध्वमतीतस्य त्र्यहमशुद्धिः । अत्र चादन्तजन्मनः सद्य इति यद्यप्यविशेषेणाभिधानं तथाप्यग्निसंस्काराभावे द्रष्टव्यम् । अदन्तजाते बाले प्रेते सद्य एव नास्याग्निसंस्कारो नोदकक्रियेति वैष्णवे अग्निसंस्काररहितस्य सद्यःशौचविधानात् । सति त्वग्निसंस्कारे अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु चेति वक्ष्यमाण एकाहः । तथा च यमः । अदन्तजाते तनये शिशौ गर्भच्युते तथा । सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रमशौचकमिति । नामकरणात्प्राक्सद्यः शौचमेव नियतम् । प्राङ्नामकरणात्सद्यः शौचमिति शङ्खस्मरणात् । चूडाकर्म प्रथमे तृतीये वा वर्षे स्मर्यते । चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनादिति स्मरणात् ॥ ततश्च दन्तजननादूर्ध्वं प्रथमवार्षिकचूडापर्यन्तमेकाहः । तत्र त्वकृतचूडस्य दन्तजनने सत्यपि त्रिवर्षं यावदेकाह एव । तथा च विष्णुः । दन्तजातेऽप्यकृतचूडेऽहोरात्रेण शुद्धिरिति । तत ऊर्ध्वं प्रागुपनयनात् त्र्यहः । यत्तु मनुवचनम् । (अ. ५ श्लो. ६७) नृणामकृतचूडानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता । निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यत इति तस्याप्ययमेव विषयः । यत्तूनद्विवर्षमधिकृत्य तेनैवोक्तम् । (अ. ५ श्लो. ६९) अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेयुस्त्र्यहमेव त्विति । यच्च वसिष्ठवचनम् । ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रमिति तत्संवत्सरचूडाभिप्रायेण यत्त्वङ्गिरोवचनम् । यद्यप्यकृतचूडो वै जातदन्तश्च संस्थितः । तथापि दाहयित्वैनमाशौचं त्र्यहमाचरेदिति तद्वर्षत्रयादूर्ध्वं कुलधर्मापेक्षया चौलोत्कर्षे वेदितव्यम् । विप्रे न्यूनत्रिवर्षे तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकीति तेनैवाभिहितत्वात् । न चायमेकाहो दन्तजननाभाव इति शङ्कनीयम् । न हि न्यूनत्रिवर्षस्य दन्तानुत्पत्तिः संभवति । तथा सत्यपि दन्तजनने अकृतचूडस्यैकाहं वदता विष्णुवचनेन विरोधश्च दुष्परिहरः स्यात् । तस्मात्प्राच्येव व्याख्या ज्यायसी । यत्तु कश्यपवचनम् । बालानामदन्तजातानां त्रिरात्रेण शुद्धिरिति तन्मातापितृविषयम् । निरस्य तु पुमाञ्शुक्रमुपस्पर्शाद्विशुध्यति । बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहमिति जन्यजनकसंबन्धोपाधिकतया त्रिरात्रस्मरणात् । ततश्चायमर्थः । प्राङ्नामकरणात्सद्यः शौचं तदूर्ध्वं दन्तजननादर्वागग्निसंस्कारक्रियायां एकाह इतरथा सद्यः शौचम् । जातदन्तस्य च प्रथमवार्षिकाच्चौलादर्वागेकाहः । प्रथमवर्षादूर्ध्वं त्रिवर्षपर्यन्तं कृतचूडस्य त्र्यहः । इतरस्य त्वेकाहः । वर्षत्रयादूर्ध्वमकृतचूडस्यापि त्र्यहम् । उपनयनादूर्ध्वं सर्वेषां ब्राह्मणादीनां दशरात्रादिकमिति ॥ २३ ॥

इदानीं स्त्रीषु च वयोवस्थाविशेषेणापवादमाह

अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ।

अदत्ता अपरिणीता याः कन्यास्तासु कृतचूडासु वाग्दानात्प्रागहोरात्रं विशेषेण शुद्धि-

द्रष्टव्यम् । आचार्योपरमे तु त्रिरात्रमेव । यथाह मनुः । (अ.५श्लो.८०) त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिरिति । यदा त्वाचार्यादेरन्त्येष्टिं करोति तदा दशरात्रमाशौचम् । (अ.५ श्लो.६५) गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समारभेत् । प्रेताहारैः समं तत्र दशाहेन विशुध्यतीति तेनैवोक्तत्वात् । श्रोत्रियस्य तु समानग्रामीणस्य एतदाशौचम् । एकाहं सब्रह्मचारिणि समानग्रामीणे च श्रोत्रिय इत्याश्वलायनस्मरणात् । एकचार्योपनीतः सब्रह्मचारी । एतच्चासंनिधाने द्रष्टव्यम् । सन्निहिते तु शिष्यादौ त्रिरात्रादि । यथाह मनुः । (अ.५ श्लो.८१) श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु चेति । उपसंपन्ने मैत्रीप्रातिवश्यत्वादिना संबन्धे शीलयुक्ते वा । मातुलग्रहणं मातृष्वस्रादेरुपलक्षणार्थम् । बान्धवा इत्यात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्चोच्यन्ते । तथा च बृहस्पतिः । त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेऽष्वशुचिर्भवेदिति । तथा प्रचेताः । मृते चर्त्विजि याज्ये च तिरात्रेण विशुध्यतीति ॥ तथा च वृद्धवसिष्ठः । संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः । पित्रोरुपरमे स्त्रीणामूढानां तु कथं भवेत् । त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥ श्वशुरयोर्भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले । पित्रोः स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयेन्निशाम् ॥ तथा मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनासु च । आशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥ तथा च गौतमः । पक्षिणीमसपिण्डे योनिसंबन्धे सहाध्यायिनि चेति । योनिसंबन्धा मातुलमातृष्वस्रीयपितृष्वस्रीयादयः । तथा जाबालिः । एकोदकानां तु त्र्यहो गोत्रजानामहः स्मृतम् । मातृबन्धौ गुरौ मित्रे मण्डलाधिपतौ तथेति ॥ विष्णुः । असपिण्डे स्ववेश्मनि मृत एकरात्रमिति । तथा वृद्धः । भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते । मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥ शालके तत्सुते चैव सद्यः स्नानेन शुध्यति । ग्रामेश्वरे कुलपतौ श्रोत्रिये च तपस्विनि ॥ शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुचिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥ ग्राममध्यगतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित् । ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियादित्यादीन्याशौचविशेषप्रतिपादकानि स्मृतिवचनान्यन्वेषणीयानि । ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते । एषु चैकविषयगुरुलघ्वाशौचप्रतिपादकतया परस्परविरुद्धेषु सन्निधिविदेशस्थापेक्षया व्यवस्थानुसंधातव्या ॥ २४ ॥

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ।
निवासराजनि प्रेते तदहः शुद्धिकारणम् ॥ २५ ॥

किंच । अहरित्यनुवर्तते । अनौरसाः क्षेत्रजदत्तकादयः तेषु जातेषूपरतेषु वाहोरात्रमाशौचम् । तथा स्वभार्यास्वन्यगतास्वन्यं प्रतिलोमव्यतिरिक्तं आश्रितासु अतीतासु । अत्राहोरात्रमेव न पुनः सत्यपि सापिण्ड्ये दशरात्रम् । प्रतिलोमाश्रितासु चाशौचाभाव एव । पाखण्ड्यनाश्रिता इत्यनेन प्रतिषेधात् । एतच्च भार्यापुत्रशब्दयोः संबन्धिशब्दत्वात् यत्प्रातियौगिकं भार्यात्वं पुत्रत्वं च तस्यैवेदमाशौचं सपिण्डानां त्वाशौचाभावः । अत एव प्रजापतिः । अन्याश्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च । गोत्रिणः स्नानशुद्धाः स्युस्त्रिरात्रेणैव तत्पितेति । स्वैरि-

चारादिकर्मसिद्ध्यर्थमाशौचाभावमिच्छन्ति तैरपि न कार्यम् । अत्र च महीपतीनां यदसाधारणत्वेन विहितं प्रजापरिरक्षणं तद्येन दानमानसत्कारव्यवहारदर्शनादिना विना न संभवति तत्रैवाशौचाभावो न पुनः पञ्चमहायज्ञादिष्वपि । तथा च मनुः । (अ. ५ श्लो. ९५) राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणमिति । गौतमेनाप्युक्तम् । राज्ञां च कार्यविघातार्थमिति राजभृत्यादेरप्याशौचं न भवति । तथाह प्रचेताः । कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिता इति । कारवः सूपकारादयः । शिल्पिनश्चित्रकारचैलनिर्णेजकादयः । अयं चाशौचाभावः किंविषय इत्यपेक्षायां कर्मनिमित्तैः शब्दैस्तत्तदसाधारणस्य कर्मणो बुद्धिस्थत्वात्तत्रैव द्रष्टव्यः । अत एव विष्णुः । न राज्ञां राजकर्मणि नव्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे न कारूणां कारुकर्मणीति प्रतिनियतविषयमेवाशौचाभावं दर्शयति । शातातपीयेऽप्युक्तम् । मूल्यकर्मकराः शूद्रा दासीदासास्तथैवच । स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्मण्यदूषिता इति ॥ इयं च दासादिशुद्धिरपरिहरणीयतया प्राप्तस्पर्शविषयेत्यनुसंधेयम् । अत एव स्मृत्यन्तरम् । सद्यः स्पृश्यो गर्भदासो भक्तदासस्त्र्यहाच्छुचिः । तथा । चिकित्सको यत्कुरुते तदन्येन न शक्यते ॥ तस्माच्चिकित्सकः स्पर्शे शुद्धो भवति नित्यश इति ॥ २७ ॥

ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ।
सत्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥ २८ ॥
दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।
आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥ २९ ॥

किंच । ऋत्विजो वरणसम्भृताः कर्तृविशेषाः । दीक्षया संस्कृता दीक्षितास्तेषां यज्ञियं यज्ञे भवं कर्म कुर्वतां सद्यः शौचं विधीयत इति सर्वत्रानुषङ्गः । दीक्षितस्य वैतानौपासनाः कार्या इत्यनेन सिद्धेऽप्यधिकारे पुनर्वचनं याजमानेषु स्वयं कर्तृत्वविधानार्थं सद्यः स्नानाविध्यर्थं च । सत्रिग्रहणेन सन्ततानुष्ठानतुल्यतयान्नसत्रप्रवृत्ता लक्ष्यन्ते । मुख्यानां तु सत्रिणां दीक्षितग्रहणेनैव सिद्धेः । व्रतिशब्देन कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः स्नातकव्रतप्रायश्चित्तप्रवृत्ताश्चोच्यन्ते । तथा ब्रह्मचर्यादिव्रतयोगिनः श्राद्धकर्तुर्भोक्तुश्च ग्रहणम् । तथा स्मृत्यन्तरम् नित्यमन्नप्रदस्यापि कृच्छ्रचान्द्रायणादिषु निर्वृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने ॥ गृहीतनियमस्यापि तस्मादन्यस्य कस्यचित् । निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रारब्धे श्राद्धकर्मणि ॥ निमन्त्रितस्य विप्रस्य स्वाध्यायाद्विरतस्य च । देहे पितृषु तिष्ठत्सु नाशौचं विद्यते क्वचित् ॥ प्रायश्चित्तप्रवृत्तानां दातृब्रह्मविदां तथेति ॥ सत्रिणां व्रतिनां सत्रे व्रते च शुद्धिर्न कर्ममात्रे संव्यवहारे वा । तथा च विष्णुः । न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे इति ॥ ब्रह्मचार्युपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च । यस्तु नित्यं दातैव न प्रतिग्रहीता स वैखानसो दातृशब्देनोच्यते । ब्रह्मविद्यतिः एतेषां च त्रयाणामाश्रमिणां सर्वत्र शुद्धिः । विशेषप्रमाणाभावात् । दाने च पूर्वसंकल्पितद्रव्यस्य नाशौचम् ।

इदं च स्वाध्यायविषये सद्यः शौचविधानं बहुवेदस्य ब्रह्मोज्झनताकृतायामार्तौ द्रष्टव्यम् । इतरस्य तु दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते इति प्रतिषेध एव । एवं ब्राह्मणादिमध्ये यस्य यावत्कालमाशौचमुक्तं स तस्यानन्तरं स्नात्वा शुध्येत् न तत्कालातिक्रममात्रात् । यथाह मनुः । (अ. ५ श्लो. ९९) विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रिय इति । अयमर्थः । कृतक्रिय इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । विप्रोऽनुभूताशौचकालः कृतक्रियः कृतस्नानो हस्तेनापः स्पृष्ट्वा शुध्यति । स्पृष्ट्वेति स्पर्शनक्रियैवोच्यते न स्नानमाचमनं वा । वाहनादिषु तस्यैवानुषङ्गात् । अथवा कृतक्रियो यावदाशौचं कृतोदकादिक्रियः तदनन्तरं विप्रादिरुदकादि स्पृष्ट्वा शुध्येदिति । इत्याशौचकालानन्तरं भाविस्नानप्रतिनिधित्वेनोच्यत इति । क्षत्रियादिर्वाहनादिकं स्पृष्ट्वा शुध्येदिति २८ २९

कुलव्यापिनी शुद्धिमभिधायेदानी प्रसङ्गात्प्रतिपुरुषव्यापिनी शुद्धिमाह

उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।
अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजस्वला अशुचयः शवचाण्डालपतितसूतिकाद्याः शावाशौचिनश्च एतैः संस्पृष्टः स्नायात् । तैः पुनरुदक्याशुचिसंस्पृष्टादिभिः संस्पृष्ट उपस्पृशेत् आचामेत् । आचम्याब्लिङ्गानि आपोहिष्ठेत्येवमादीनि त्रीणि मन्त्रवाक्यानि जपेत् । त्रिष्वेव बहुवचनस्य चरितार्थत्वात् । तथा गायत्रीं च सकृन्मनसा जपेत् । ननु उदक्या संस्पृष्टः स्नायादित्येकवचननिर्दिष्टस्य कथं तैरिति बहुवचने परामर्शः । सत्यमेवम् । किंत्वत्र उदक्यादिसंस्पृष्टव्यतिरिक्तस्नानार्हमात्रस्पर्शेऽप्याचमनविधानार्थं तैरिति बहुवचननिर्देश इत्यविरोधः । ते च स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरेऽवगन्तव्याः । यथाह पाराशरः । दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते विरिक्ते क्षुरकर्मणि । चितियूपश्मशानस्थस्पर्शने स्नानमाचरेदिति । तथाच मनुः । (अ. ५ श्लो. १४४) वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् । आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतमिति । मैथुनिनः स्नानमृतुकालविषयम् । अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवदिति बृहस्पतिस्मरणात् । अनृतावपि कालविशेषेण स्मृत्यन्तरे स्नानमुक्तम् । अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम् । कृत्वा सचैलं स्नात्वा च वारुणीभिश्च मार्जयेदिति । तथाच यमः । अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते तथाप्यस्तमिते रवौ । दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते इति । तथा बृहस्पतिः । मैथुने कटधूमे च सद्यः स्नानं विधीयते इत्येतदसचैलस्पर्शविषयम् । सचैले तु चित्यादिस्पर्शे सचैलमेव स्नानम् । यथाह च्यवनः । श्वानं श्वपाकं प्रेतधूम्रं देवद्रव्योपजीविनं । ग्रामयाजिनं सोमविक्रयिणं यूपचितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थि शवस्पृष्टं रजस्वलां महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलमम्भोऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्रीमष्टवारं जपेत् । घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचामेदिति । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् । अन्यत्र स्नानमात्रम् । शवस्पृष्टं दिवाकीर्तिं चितिं यूपं रजस्वलाम् । स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्रः

नुषास्थि स्निग्धे स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचमस्निग्धे त्वहोरात्रम् । अमानुषे तु विष्णूक्तम् । भक्ष्य-वर्ज्यं पञ्चनखशवं तदस्थि च सस्नेहं स्पृष्ट्वा स्नातः पूर्ववस्त्रं प्रक्षालितं बिभृयादिति ॥ ए-वमन्येऽपि स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरतोऽवबोद्धव्याः ॥ एवं स्नानार्हाणां बहुत्वात्तदभिप्रायं तैरिति बहुवचनमविरुद्धम् । उदक्याशुचिभिः स्नायादित्येतच्चाण्डालाद्यचेतनव्यवधानस्पर्शे वेदितव्यम् । चेतनव्यवधाने तु मानवम् । (अ. ५ श्लो. ८५) दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा । शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यतीति ॥ तृतीयस्य त्वाचमनमेव । तमेव तु स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते । ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथेति संवर्तस्मरणा-त् । एतच्चाबुद्धिपूर्वकविषयम् । मतिपूर्वे तु तृतीयस्यापि स्नानमेव । यथाह गौतमः । पति-तचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्टद्युपस्पर्शने सचैलमुदकोपस्पर्शनाच्छुध्येदिति । चतुर्थ-स्य त्वाचमनम् । उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं वापि मानवः । हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याच-म्य शुध्यतीति देवलस्मरणात् । अशुचिना पुनरुदक्यादिस्पर्शे देवलेन विशेष उक्तः । श्वपा-कं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवहारकम् । सूतिकां साविकां नारीं रजसा च परिप्लुताम् ॥ श्वकु-क्कुटवराहांश्च ग्रामान्संस्पृश्य मानवः । सचैलः सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुध्यति ॥ अ-शुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धस्तु यदि स्पृशेत् । विशुध्यत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुनरिति । साविका प्रसवस्य कारयित्री । कृच्छ्रः श्वपाकादिविषयः । श्वादिषु तूपवास इति व्यवस्था ३०

अधुना कालशुद्धौ दृष्टान्तत्वेन द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तांस्तथैवात्र प्रकरणे वक्ष्यमाणांश्च शुद्धिहेतूननुक्रामति

कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।
पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

यथाग्न्यादयोऽमी सर्वे स्वविषये शुद्धिहेतवस्तथा कालोऽपि दशरात्रादिकः शास्त्रगम्य-त्वाच्छुद्धिहेतुत्वस्य । अग्निस्तावच्छुद्धिहेतुर्यथाभ्यधायि पुनः पाकान्महीमयमिति । कर्म च शुद्धिनिमित्तं यथा वक्ष्यति अश्वमेधावभृथस्नानादिति । तथा मृदपि शुद्धिकारणं यथा क-थितम् । सलिलं भस्म मृद्वापि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धय इति । वायुरपि शुद्धिहेतुः यथोदीरितं मारु-तेनैव शुध्यन्तीति । मनोऽपि वाचःशुद्धिसाधनं यथाम्नायि मनसा वा इषिता वाग्वदती-त्यादि । ज्ञानं चाध्यात्मिकं बुद्धिशुद्धौ निदानं यथाभिधास्यति क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानादिति । त-पश्च कृच्छ्रादि यथा वदिष्यति प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समो वा गुरुतल्पग इत्यादि । तथा जलमपि शरीरादेः यथा जल्पिष्यति वर्ष्मणो जलमिति । पाश्चात्तापो विशुद्धिजनकः यथा गदितं ख्यापनेनानुतापेनेति । निराहारोऽपि शुद्ध्युपादानं यथा व्याहरिष्यति त्रिरात्रोपो-षितो जप्त्वेत्यादिः ॥ ३१ ॥

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।
शोध्यस्य मृच्च तोयं च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ॥ ३२ ॥

दिनापदि जीवेत्। तेनापि जीवितुमशक्नुवन् वैश्यसंबन्धिना कर्मणा वाणिज्यादिना जीवेत् न शूद्रवृत्त्या। तथा च मनुः। (अ. १० श्लो. ८२) उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकामिति। तथा आपद्यपि न हीनवर्णेन ब्राह्मी वृत्तिराश्रयणीया किंतु ब्राह्मणेन क्षात्री क्षत्रियेण वैश्यसंबन्धिनी वैश्येन च शौद्रीत्येवं स्वानन्तरहीनवृत्तिरेव। अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठेरन्। नतु कदाचिज्ज्यायसीमिति वसिष्ठस्मरणात्। ज्यायसी च ब्राह्मी वृत्तिः। तथा च स्मृत्यन्तरम्। उत्कृष्टं वापकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते। मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हिते इति। शूद्रस्य उत्कृष्टं ब्राह्मं कर्म न विद्यते। तथा ब्राह्मणस्यापकृष्टं शौद्रं कर्म मध्यमे क्षत्रवैश्यकर्मणी पुनरापद्गतसर्ववर्णसाधारणे हिते इति। शूद्रश्चापद्गतो वैश्यवृत्त्या शिल्पैर्वा जीवेत्। शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत्। शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजातिहितमाचरन्निति प्रागुक्तत्वात्॥ मनुना चात्र विशेषो दर्शितः। (अ. १० श्लो. १००) यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः। तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि चेति। अनेनैव न्यायेनानुलोमोत्पन्नानामपि स्वानन्तरावृत्तिरूहनीया। एवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्त्या आपदं निस्तीर्य प्रायश्चित्ताचरणेनात्मानं पावयित्वा पथि न्यसेत्। स्ववृत्तावात्मानं स्थापयेदित्यर्थः। यद्वायमर्थः गर्हितवृत्त्यार्जितं धनं पथि न्यसेदुत्सृजेदिति। तथा च मनुः। (अ. १० श्लो. १११) जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम्। प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव त्विति॥ ३५॥

वैश्यवृत्त्या जीवतो ब्राह्मणस्य यदपणनीयं तदाह

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः।
तिलौदनरसक्षारान्दधि क्षीरं घृतं जलम्॥ ३६॥
शस्त्रासवमधूच्छिष्टं मधु लाक्षा च बर्हिषः।
मृच्चर्मपुष्पकुतुपकेशतक्रविषक्षितीः॥ ३७॥
कौशेयनीललवणमांसैकशफसीसकान्।
शाकार्द्रौषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च॥ ३८॥

नो विक्रीणीतेति प्रत्येकमभिसंबध्यते। फलानि कदलीफलादीनि बदरेङ्गुदव्यतिरिक्तानि। यथाह नारदः। स्वयंशीर्णानि पर्णानि फलानां बदरेङ्गुदे। रज्जुः कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेदिति। उपलं माणिक्याद्यश्ममात्रं क्षौममतसीसूत्रमयं वस्त्रम्। क्षौमग्रहणं तान्तवादेरुपलक्षणम्। यथाह मनुः। (अ. १० श्लो. ८७) सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च। अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीरिति। सोमो लताविशेषः। मनुष्यपदेनाविशेषात् स्त्रीपुंनपुंसकानां ग्रहणम्। अपूपं मण्डकादिभक्ष्यमात्रम्। वीरुधो वेत्रामृतादिलताः। तिलाः प्रसिद्धाः।

लाक्षालवणमांसानि विक्रीयमाणानि सद्यः पतनीयानि द्विजातिकर्महानिकराणि। पयः-प्रभृतीनि तु हीनवर्णकराणि शूद्रतुल्यत्वापादकानि। एतद्व्यतिरिक्तापण्यविक्रये वैश्यतुल्यता। यथाह मनुः। (अ. १० श्लो. ९२।९३) सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्। इतरेषामपण्यानां विक्रयादिह कामतः। ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं निगच्छति॥ ४०॥

पूर्वोक्तनिषिद्धातिक्रमेदोषमाह।

आपद्गतः संप्रगृह्णन् भुञ्जानो वाग्यतस्ततः।
न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः॥ ४१॥

किंच। यस्त्वधनः अवसन्नकुटुम्बतया आपद्गतोऽपि क्षत्रवृत्तिं वैश्यवृत्तिं वा न प्रविविक्षति स यतस्ततो हीनतरस्ततो हीनतरहीनतमेभ्यः प्रतिगृह्णंस्तदन्नं भुञ्जानोऽपि वा नैवैनसा पापेन लिप्यते। यतस्तस्यामापदवस्थायामसत्प्रतिग्रहादावधिकारित्वेन ज्वलनार्कसमः यथा ज्वलनोऽर्कश्च हीनसंस्कारेऽपि न दुष्यति तथायमापद्गतोऽपि न दुष्यतीत्येतावता तत्साम्यं एवं च वदता आपद्गतस्य परधर्माश्रयणाद्विगुणमपि स्वधर्मानुष्ठानमेव मुख्यमिति दर्शितं भवति। तथा च मनुः। (अ. १० श्लो. ९७) वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्माश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातित इति॥ ४१॥

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः।
सेवानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु॥ ४२॥

किंच। आपत्तौ जीवनानीति विशेषणात् कृष्यादीनां मध्ये अनापदवस्थायां यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते। यथापदि वैश्यवृत्तिः स्वयंकृता कृषिर्विप्रक्षत्रिययोरभ्यनुज्ञायते। एवं शिल्पादीन्यस्याभ्यनुज्ञायन्ते। शिल्पं सूपकरणादि। भृतिः प्रेष्यत्वम्। विद्या भृतकाध्यापकत्वाद्या। कुसीदं वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः। तत्स्वयंकृतमभ्यनुज्ञायते। शकटं भाटकेन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतुः। गिरिस्तद्गततृणेन्धनद्वारेण जीवनम्। सेवा परचित्तानुवर्तनम्। अनूपं प्रचुरतृणवृक्षजलप्रायः प्रदेशः। तथा नृपयाचनं भैक्ष्यं स्नातकस्यापि एतान्यापत्तौ जीवनानि। तथा च मनुः (अ. १० श्लो. ११६) विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षा विपणिः कृषिः। गिरिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥ ४२॥

यदा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसभवस्तदा कथं जीवनमित्यत आह

बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत्।
प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मतः॥ ४३॥

धान्याभावेन त्रिरात्रं बुभुक्षितोऽनश्नन् स्थित्वा अब्राह्मणाच्छूद्रात्तदभावे वैश्यात् तदभावे क्षत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्तं धान्यमाहरेत्। यथाह मनुः (अ.६ श्लो. ११७) तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता। अधस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मण इति। तथा प्रतिग्रहोत्तरकालं

रेव केवलम् । यदि कथंचिज्ज्येष्ठभ्रातुरनाहिताग्नित्वादिना श्रौताग्नयोऽनाहितास्तर्हि केवलं सोपासनो व्रजेदित्येवं विवेचनीयम् । अग्निनयनं च तन्निवर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिध्यर्थम् । अतएव मनुः । (अ. ६ श्लो. ९) वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च शक्तित इति ॥ ननुच पुत्रनिक्षिप्तपत्नीकस्य तद्विरहिणः कथमग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानं घटते । पत्न्या सह यष्टव्यमिति सहाधिकारनियमात् । सत्यमेवं किंत्वत्र पत्नीनिक्षेपविधिबलादेव तन्नैरपेक्ष्येणाधिकारः कल्प्यते । यथा हि रजस्वलायां यस्य व्रत्येऽहनि पत्न्यनालम्भुका स्यात्तामवरुध्य यजेतेत्यवरोधविधिबलात्तन्निरपेक्षता । यद्वा वनं प्रतिष्ठमानमेव पतिं पत्न्यनुमन्यत इति न विरोधः । न च यथा ब्रह्मचारिणो विधुरस्य वा वनं प्रस्थितस्याग्निहोत्रादिपरिलोपः तथा निक्षिप्तपत्नीकस्यापि अग्निहोत्राद्यभाव इति शङ्कनीयम् । अपाक्षिकत्वेन श्रवणात् । न च ब्रह्मचारिविधुरयोरपि अग्निसाध्यकर्मसु अनधिकारः । पञ्चममासादूर्ध्वमाहितश्रावणिकाग्नेस्तदधिकारदर्शनात् । वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत् अकृष्टं मूलफलं संचिन्वीत ऊर्ध्वरेताः क्षमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयादूर्ध्वं पञ्चभ्यो मासेभ्यः श्रावणिकेनाग्निमाधायाहिताग्निर्वृक्षमूलको दद्यादेव पितृमनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यमिति वसिष्ठस्मरणात् । चीरं वस्त्रखण्डो वल्कलं वा । न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत् । श्रावणिकेन वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

साग्निः सोपासनो व्रजेदित्येतदग्निसाध्यश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानार्थमित्युक्तं तत्र गुणविधिमाह

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितॄन्देवातिथीनपि ।
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ॥ ४६ ॥

फालग्रहणं कर्षणसाधनोपलक्षणं अकृष्टक्षेत्रोद्भवेन नीवारवेणुश्यामाकादिना अग्नींस्तर्पयेत् अग्निसाध्यानि कर्माण्यनुतिष्ठेत् । चशब्दाद्भिक्षादानमपि तेनैव कुर्यात् । तथा पितॄन्देवानतिथीन् अपिशब्दाद्भूतान्यपि तेनैव तर्पयेत् । तथा भृत्यान् चशब्दादाश्रमप्राप्तानपि । तथा च मनुः । (अ. ६ श्लो. ७) यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः । अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतानिति ॥ एवं पञ्चमहायज्ञान्कृत्वा स्वयमपि तच्छेषमेव भुञ्जीत । (अ. ६ श्लो. १२) देवताभ्यश्च तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतमिति मनुस्मरणात् । स्वयंकृतमूखरलवणमेव । भोजनार्थे यागाद्यर्थे च मुन्यन्ननियमात् । ग्राम्याहारपरित्यागोऽर्थसिद्धः । अत एव मनुः । (अ. ६ श्लो. ३) संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदमिति । ननु च दर्शपूर्णमासादेर्व्रीह्यादिग्राम्यद्रव्यसाध्यत्वात्कथं तत्परित्यागः । न च वचनीयमकालकृष्टेनाग्नींश्चेति विशेषवचनसामर्थ्याद्व्रीह्यादिबाध इति । विशेषविषयिण्यापि स्मृत्या श्रुतिबाधस्यान्याय्यत्वात् अफालकृष्टविधेश्च स्मार्ताग्निसाध्यकर्मविषयत्वेनाप्युपपत्तेः । सत्यमेवं किंत्वत्र व्रीह्यादेरप्यफालकृष्टत्वसंभवान्न

चान्द्रायणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः कालं नयेत् । कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभिः कालं वर्तयेत् । यद्वा पक्षे पञ्चदशादिनात्मकेऽतीतेऽश्नीयात् । मासे वाऽहनि गते वा नक्तमश्नीयात् । अपिशब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि । यथाह मनुः । (अ. ६ श्लो. १९) नक्तं वान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः । चतुर्थकालिको वा स्याद्यद्वाप्यष्टमकालिक इति । एतेषां कालनियमानां स्वशक्त्यपेक्षया विकल्पः ॥ ५० ॥

स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ दिवा संप्रपदैर्नयेत् ।
स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तथा ॥ ५१ ॥

किंच । आहारविहारावसरवर्ज्यं रात्रौ शुचिः प्रयतः स्वप्यात् नोपविशेन्नापि तिष्ठेत् । दिवा-स्वप्नस्य पुरुषमात्रार्थतया प्रतिषिद्धत्वान्न तन्निवृत्तिपरम् । तथा भूमावेव स्वप्यात् तच्च भूमावेव न शय्यान्तरितायां मञ्चकादौ वा । दिनं तु संप्रपदैरटनैर्नयेत् । स्थानासनरूपैर्वा विहारैः संचारैः कंचित्कालं स्थानं कंचिच्चोपवेशनमित्येवं वा दिनं नयेत् योगाभ्यासेन वा । तथा च मनुः । (अ. ६ श्लो. २९) विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीरिति । आत्मनः संसिद्धये ब्रह्मत्वप्राप्तये । तथाशब्दात्क्षितिपरिलोडनाद्वा नयेत् ॥ (अ. ६ श्लो. २२) भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनमिति मनुस्मरणात् । प्रपदैः पादाग्रैः ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वापि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

किंच । त्रिऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति दर्शनात् ग्रीष्मे चैत्रादिमासचतुष्टये चतसृषु दिक्षु चत्वार उपरिष्टादादित्य इत्येवं पञ्चानामग्नीनां मध्ये तिष्ठेत् । तथा वर्षासु श्रावणादिमासचतुष्टये स्थण्डिलेशयः । वर्षधाराविनिवारणविरहिणि भूतले निवसेत् । हेमन्ते मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये क्लिन्नं वासो वसीत । एवंविधतपश्चरणे असमर्थः स्वशक्त्यनुरूपं वा तपश्चरेत् । यथा शरीरशोषस्तथा यतेत । (अ. ६ श्लो. २४) तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मन इति मनुस्मरणात् ॥ ५२ ॥

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥

किंच । यः कश्चित्कण्टकादिभिर्विविधमङ्गानि तुदति व्यथयति तस्मै न क्रुध्येत् । यश्चन्दनादिभिरुपलिम्पति सुखयति तस्य तु न परितुष्येत् । किंतु तयोरुभयोरपि समः स्यादुदासीनो भवेत् ॥ ५३ ॥

अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा वृक्षावासोऽमिताशनः ।
वानप्रस्थगृहेष्वेव यात्रार्थं भैक्ष्यमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अथ यतिधर्मप्रकरणम् ४

वैखानसधर्माननुक्रम्य क्रमप्राप्तान्परिव्राजकधर्मान्साम्प्रतं प्रस्तौति

वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम् ।
प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ ५६ ॥
अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान् ।
शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ ५७ ॥

यावता कालेन तीव्रतपःशोषितवपुषो विषयकषायपरिपाको भवति पुनश्च मदोद्भवाशङ्का नोद्भाव्यते तावत्कालं वनवासं कृत्वा तत्समनन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् । वनगृहशब्दाभ्यां तत्संबन्ध्याश्रमो लक्ष्यते । मोक्षशब्देन च मोक्षैकफलकश्चतुर्थाश्रमः ॥ अथवा गृहाद्गार्हस्थ्यादनन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् । अनेन च पूर्वोक्तश्चतुराश्रमसमुच्चयपक्षः पाक्षिक इति द्योतयति । तथा च विकल्पो जाबालश्रुतौ श्रूयते । ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वेति ॥ तथा गार्हस्थ्योत्तराश्रमबाधश्च गौतमेन दर्शितः । ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति । एषां च समुच्चयविकल्पबाधपक्षाणां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वादिच्छया विकल्पः अतो यत्कैश्चित्पण्डितंमन्यैरुक्तम् । स्मार्तत्वान्नैष्ठिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन श्रौतेन बाधः गार्हस्थ्यानधिकृतान्धक्लीबादिविषयता वेति तत्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्यनिबन्धनमित्युपेक्षणीयम् । किंच । यथा विष्णुक्रमणाज्यावेक्षणाद्यक्षमतया पंग्वादीनां श्रौतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तेष्वप्युदकुम्भाहरणभिक्षाचर्यादिष्वक्षमत्वात्कथं पंग्वादिविषयतया नैष्ठिकत्वाद्याश्रमनिर्वाहः ॥ अस्मिंश्चाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः । मनुः । (अ. ६ श्लो. ३८) आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् । तथा (अ. ६ श्लो. ९७) एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विध इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकारप्रतिपादनात् । ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति श्रुतेश्चाग्रजन्मन एवाधिकारो न द्विजातिमात्रस्य । अन्ये तु त्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमा इति सूत्रकारवचनाच्च द्विजातिमात्रस्याधिकारमाहुः ॥ यदा च वनाद्गृहाद्वा प्रव्रजति तदा सार्ववेदसदक्षिणां सार्ववेदसी सर्ववेदसंबन्धिनी दक्षिणा यस्याः सा तथोक्ता तां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदन्ते तान्वैतानानग्नीनात्मनि श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य । चशब्दादुदगयने पौर्णमास्यां पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाष्टौ श्राद्धानि निर्वपेत् द्वादश वेति बौधायनाद्युक्तं पुरश्चरणादिकं च कृत्वा तथाधीतवेदो जपपरायणो जातपुत्रो दीनान्धकृपणार्पितार्थो यथाशक्त्यन्नदश्च भूत्वाऽनाहिताग्निर्ज्येष्ठत्वादिना प्रतिबन्धाभावे कृताधानो नित्यनैमित्तिकान् यज्ञान्कृत्वा मोक्षे मनः कुर्यात् । चतुर्थाश्रमं प्रविशेन्नान्यथा । अनेनानपाकृतर्णत्रयस्य प्रव्र-

यतिधर्मनिरूपणम् ।

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवानिति ॥ अत्र वेदाभ्यासः प्रणवाभ्यासस्तत्र यत्नवान् । भिक्षाप्रयोजनार्थं ग्राममाश्रयेत् प्रविशेत् न पुनः सुखनिवासार्थम् । वर्षाकाले तु न दोषः । ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासीति शङ्खस्मरणात् । अशक्तौ पुनर्मासचतुष्टयपर्यन्तमपि स्थातव्यं न चिरमेकत्र वसेदन्यत्र वर्षाकालात् । श्रावणादयश्चत्वारो मासा वर्षाकाल इति देवलस्मरणात् । एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम्। वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांस्तु चतुरो वसेदिति काण्वस्मरणात् ॥ ५८ ॥

कथं भिक्षाटनं कार्यमित्यत आह

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षितः ।
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः ॥ ५९ ॥

अप्रमत्तोवाक्चक्षुरादिचापलरहितो भैक्षं चरेत् । वसिष्ठेनात्र विशेषो दर्शितः । सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षमिति । सायाह्नेः अह्नः पञ्चमे भागे । तथाच मनुः । (अ. ६ श्लो. ५६) विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने । वृत्ते शरावसंपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेदिति । तथा एककालं चरेद्भिक्षां प्रसज्येन्न तु विस्तरे । भैक्षप्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जतीति । अनभिलक्षितः ज्योतिर्विज्ञानोपदेशादिना अचिह्नितः । मनुः । (अ.६श्लो. ५०) न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचिदिति तेनोक्तत्वादिति ॥ यत्पुनर्वसिष्ठवचनम् । ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत तद्भुञ्जीत सायंप्रातर्मासवर्ज्यमिति तदाशक्तविषयम् ॥ भिक्षुकैर्भिक्षणशीलैः पाखण्ड्यादिभिर्वर्जिते ग्रामे । मनुनात्र विशेष उक्तः । (अ. ६ श्लो.५१) न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैरन्यैरगारमुपसंव्रजेदिति ॥ यावता प्राणयात्रा वर्तते तावन्मात्रं भैक्षं चरेत् । तथा च संवर्तः । अष्टौ भिक्षाः समादाय मुनिः सप्त च पञ्च वा ।अद्भिः प्रक्षाल्य ताः सर्वास्ततोऽश्नीयाच्च वाग्यत इति । अलोलुपो मिष्टान्नव्यञ्जनादिष्वप्रसक्तः॥ ५९ ॥

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलाबुमयानि च ।
सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम् ॥ ६० ॥

मृदादिप्रकृतिकानि यतीनां पात्राणि भवेयुः । तेषां सलिलं गोवालावघर्षणं च शुद्धिसाधनम् । इयं च शुद्धिर्भिक्षाचरणप्रयोगाङ्गभूता नामेध्याद्युपहतविषया । तदुपघाते द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्ता द्रष्टव्या । अत एव मनुना । (अ. ६ श्लो.५३) अतैजसनि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वर इति च मसदृष्टान्तोपादानेन प्रयोगिकी शुद्धिर्दर्शिता । पात्रान्तराभावे भोजनमपि तत्रैव कार्यम् । तद्भैक्ष्यं गृहीत्वेकान्ते तेन पात्रेणान्येन वा तूष्णीं मात्रया भुञ्जीतेति देवलस्मरणात् ॥ ६० ॥

भिक्षाचरणार्थं पात्रमाह ।

निदिध्यासनापरपर्यायेण सूक्ष्मशरीरप्राणादिव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञः आत्मनि ब्रह्मण्यवस्थितः इत्येवं तत्त्वंपदार्थयोरभेदं सम्यक् पश्येत् अपरोक्षीकुर्यात् । अतएव श्रुतौ आत्मा वारे द्रष्टव्य इति साक्षात्काररूपं दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रवणमनननिदिध्यासनानि विहितानि ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।
अतो यदात्मनो पथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

किञ्च । प्राक्तनश्लोकोक्तात्मोपासनाख्ये धर्मे नाश्रमो दण्डकमण्डल्वादिधारणं कारणं यस्मादसौ क्रियमाणो भवेदेव नातिदुष्करः तस्माद्यदात्मनोऽपथ्यमुद्वेगकरं परुषभाषणादि तत्परेषां न समाचरेत् । अनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतान्तःकरणशुद्ध्यापादनत्वेनान्तरङ्गत्वात् रागद्वेषप्रहाणस्य प्रधानत्वेन प्रशंसार्थमाश्रमनिराकरणम् । न पुनस्तत्परित्यागाय तस्यापि विहितत्वात् । तदुक्तं मनुना । (अ. ६ श्लो. ६६) दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन् । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणमिति ॥ ६५ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

किंच । सत्यं यथार्थप्रियवचनम् । अस्तेयं परद्रव्यानपहारः । अक्रोधोऽपकारिण्यपि क्रोधस्यानुत्पादनम् । ह्रीर्लज्जा । शौचमाहारादिशुद्धिः । धीर्हिताहितविवेकः । धृतिरिष्टवियोगेऽनिष्टप्राप्तौ प्रचलितचित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम् । दमो मदत्यागः । संयतेन्द्रियता अप्रतिषिद्धेष्वविषयेषु अनतिसङ्गः विद्या आत्मज्ञानम् । एतैः सत्यादिभिरनुष्ठितैः । सर्वो धर्मोऽनुष्ठितो भवति । अनेन दण्डकमण्डल्वादिधारणबाह्यलक्षणात्सत्यादीनामात्मगुणानामन्तरङ्गतां द्योतयति ॥ ६६ ॥

ननु ध्यानयोगेनात्मनि स्थितमात्मानं पश्येदित्युक्त जीवपरमात्मनोर्भेदाभावादित्यत आह

निःसरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात्स्फुलिङ्गकाः ।
सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ ६७ ॥

यद्यपि जीवपरमात्मनोः पारमार्थिको भेदो नास्ति तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति हि यस्मात् तस्माद्युज्यत एव जीवपरमात्मनोर्भेदव्यपदेशः । यथा हि तप्ताल्लोहपिण्डादयोगोलकाद्विस्फुलिङ्गकास्तेजोवयवा निःसरन्ति निःसृताश्च स्फुलिङ्गव्यपदेशं लभन्ते तद्वत् अत उपपन्न आत्मात्मनि स्थितो द्रष्टव्य इति । यद्वायमर्थः ननु सुषुप्तिसमये प्रलये च सकलक्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणि प्रलीनत्वात् कस्यायमात्मोपासनाविधिरित्यत आह । निःसरन्तीत्यादि । यद्यपि सूक्ष्मरूपेण प्रलयवेलायां प्रलीनास्तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति पुनः कर्मवशात्स्थूलशरीराभिमानिनो जायन्ते तस्मान्नोपासनाविधिविरोधः तैजसस्य पृथग्भावसाम्याल्लोहपिण्डदृष्टान्तः ॥ ६७ ॥

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।
सृजत्येकोत्तरगुणांस्तथादत्ते भवन्नपि ॥ ७० ॥

सृष्टिसमये स परमात्मा यथाकाशादीन् शब्दैकगुणं गगनं शब्दस्पर्शगुणः पवनः शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः शब्दस्पर्शरूपरसवदुदकम् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा जगतीत्येवमेकोत्तरगुणान् सृजति । तथात्मा जीवभावमापन्नो भवन्नुत्पद्यमानोऽपि स्वशरीरस्यारम्भकत्वेनापि तानुपादत्ते गृह्णाति ॥ ७० ॥

शरीरग्रहणप्रकारमाह ।

कथं शरीरारम्भकत्वं पृथिव्यादीनामित्यत आह

आहुत्याप्यायते सूर्यः सूर्याद्वृष्टिरथौषधिः ।
तदन्नं रसरूपेण शुक्रत्वमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यजमानैः प्रक्षिप्तयाहुत्या पुरोडाशादिरसेनाप्यायते सूर्यः । सूर्याच्च कालवशेन परिपक्वाज्यादिहवीरसाद्वृष्टिर्भवति ततो व्रीह्याद्यौषधिरूपमन्नं तच्चान्नं सेवितं सत् रसरुधिरादिक्रमेण शुक्रशोणितभावमापद्यते ॥ ७१ ॥

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ।
पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः ॥ ७२ ॥

ऋतुवेलायां स्त्रीपुंसयोर्योगे शुक्रं च शोणितं च शुक्रशोणितं तस्मिन्परस्परसंयुक्ते विशुद्धे वातपित्तश्लेष्मदुष्टग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीषगन्धरेतांस्यबीजानीति स्मृत्यन्तरोक्तदोषरहिते स्थित्वा पञ्चधातून् पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकतया स्वयं षष्ठश्चिद्धातुरात्मा प्रभुः शरीरारम्भकरणेऽदृष्टकर्मयोगितया समर्थो युगपदादत्ते भोगायतनत्वेन स्वीकरोति । तथा च शारीरके । स्त्रीपुंसयोः संयोगे योनौ रजसाभिसंसृष्टं शुक्रं तत्क्षणमेव सह भूतात्मना गुणैश्च सत्वरजस्तमोभिः सह वायुना प्रेर्यमाणं गर्भाशये तिष्ठतीति ॥ ७२ ॥

ततः किमित्यत आह ।

इन्द्रियाणि मनः प्राणो ज्ञानमायुः सुखं धृतिः ।
धारणा प्रेरणं दुःखमिच्छाहङ्कार एव च ॥ ७३ ॥
प्रयत्न आकृतिर्वर्णः स्वरद्वेषौ भवाभवौ ।
तस्यैतदात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छतः ॥ ७४ ॥

किंच । इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि । मनश्चोभयसाधारणम् । प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इत्येवं पञ्चवृत्तिभेदभिन्नः शारीरो वायुः प्राणः । ज्ञानमवगमः । आयुः

तथा भूमेर्गन्धं घ्राणेन्द्रियम् गरिमाणं मूर्तिं च सर्वमेतत्परमार्थतो जन्मरहितोप्यात्मा तृतीये मासि गृह्णाति । ततश्चतुर्थे मासि स्पन्दते चलति तथा शारीरके । तस्माच्चतुर्थे मासि चलनादावभिप्रायं करोतीति ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

द्वौहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।
वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥ ७९ ॥

किंच । गर्भस्यैकं हृदयं गर्भिण्याश्चापरमित्येवं द्विहृदया तस्याः स्त्रिया यदभिलषितं तत् द्वौहृदं तस्याप्रदानेन गर्भो विरूपतां मरणरूपं वा दोषं प्राप्नोति । तस्मात्तद्दोषपरिहारार्थं च गर्भिण्याः स्त्रियाः यत्प्रियमभिलषितं तत्संपादनीयम् । तथा च सुश्रुते । द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते तदभिलषितं दद्यात् वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयतीति । तथा च व्यायामादिकमपि गर्भग्रहणप्रभृतितया परिहरणीयम् । ततःप्रभृति व्यायामव्यवायातितर्पणदिवास्वप्नरात्रिजागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुक्कुटासनशोणितमोक्षणानि परिहरेदिति तत्रैवाभिधानात् । गर्भग्रहणं च श्रमादिभिर्लिङ्गैरवगंतव्यम् । सद्योगृहीतगर्भायाः श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसीदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेरित्यादि तत्रैवोक्तम् ॥ ७९ ॥

स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः ।
षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

किंच । तृतीये मासि प्रादुर्भूतस्याङ्गसङ्घस्य चतुर्थे मासि स्थैर्यं स्थेमा भवति । पञ्चमे लोहितस्योद्भव उत्पत्तिः तथा षष्ठे बलस्य वर्णस्य कररुहरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्नायुशिरायुतः ।
सप्तमेचाष्टमे चैव त्वङ्मांसस्मृतिमानपि ॥ ८१ ॥

किंच । असौ पूर्वोक्तो गर्भः सप्तमे मासि मनसा चेतसा चेतनया च युक्तो नाडीभिर्वायुवाहिनीभिः स्नायुभिरस्थिबन्धनैः शिराभिर्वातपित्तश्लेष्मवाहिनीभिश्च संयुतः तथाष्टमे मासि त्वचा मांसेन स्मृत्या च युक्तो भवति ॥ ८१ ॥

पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८२ ॥

किंच । तस्याष्टममासिकस्य गर्भस्यौजः कश्चन गुणविशेषो धात्रीं गर्भं च प्रति पुनः पुनरतितरां चञ्चलतया शीघ्रं गच्छति अतोऽष्टमे मासि जातो गर्भः प्राणैर्वियुज्यते । अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति ॥ ओजःस्वरूपं च स्मृत्यन्तरे दर्शितम् । हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषदुष्णं सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाशमृच्छतीति ॥ ८२ ॥

चत्वार्यरत्निकास्थीनि जङ्घयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किंच । विंशतिरङ्गुल्यस्तासां एकैकस्यास्त्रीणि त्रीणीत्येवमङ्गुलिसंबन्धीन्यस्थीनि षष्टिर्भवन्ति । पादयोः पश्चिमौ भागौ पार्ष्णी तयोरस्थिनी द्वे एकैकस्मिन्पादे गुल्फौ द्वावित्येव चतुर्षु गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि बाह्वोररत्निप्रमाणानि चत्वार्यस्थीनि जङ्घयोस्तावदेव चत्वार्येवेत्येवं चतुःसप्ततिः ॥ ८६ ॥

द्वेद्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।
अक्षताल्रूषकश्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच । जङ्घोरुसन्धिर्जानुः कपोलो गल्लः ऊरुः सक्थि तत्फलकं अंसोभुजशिरः अक्षः कर्णनेत्रयोर्मध्ये शंखादधोभागः ताल्रूषकं काकुदं श्रोणी ककुद्मती तत्फलकं तेषामेकैकत्रास्थीनि द्वेद्वे विनिर्दिशेदित्येवं चतुर्दशास्थीनि भवन्ति ॥ ८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
ग्रीवा पञ्चदशास्थी स्याज्जत्र्वेकैकं तथा हनुः ॥ ८८ ॥

किंच । गुह्यास्थ्येकं पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचत्वारिंशदस्थीनि भवन्ति ग्रीवा कंधरा सा पञ्चदशास्थी स्यात् भवेत् । वक्षोंसयोः सन्धिर्जत्रुः प्रतिजत्रु एकैकं हनुश्चिबुकं तत्राप्येकमस्थीत्येवं चतुःषष्टिः ॥ ८८ ॥

तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासाघनास्थिका ।
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ८९ ॥

किंच । तस्य हनोर्मूलेऽस्थिनी द्वे ललाटं भालं अक्षि चक्षुः गण्डः कपोलाक्षयोर्मध्यप्रदेशः तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्डं तत्र प्रत्येकमस्थियुगुलं नासा घनसंज्ञकास्थिमती पार्श्वकाः कक्षाधःप्रदेशसंबन्धीन्यस्थीनि तदाधारभूतानि स्थालकानि तैः स्थालकैः अर्बुदैश्चास्थिविशेषैः सह पार्श्वका द्विसप्ततिः पूर्वोक्तैश्च नवभिः सार्धमेकाशीतिर्भवन्ति ॥ ८९ ॥

द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।
उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ९० ॥

किंच । भ्रूकर्णयोर्मध्यप्रदेशावस्थिविशेषौ शङ्खकौ शिरसः संबन्धीनि चत्वारि कपालानि उरोवक्षस्तत्सप्तदशास्थिकमित्येवं त्रयोविंशतिः पूर्वोक्तैश्च सह षष्ट्यधिकं शतत्रयमित्येवं पुरुषस्यास्थिसंग्रहः कथितः ॥ ९० ॥

सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाण्याह

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ।

कर्णौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तवेष्टावोष्ठौ ककुन्दरे ॥ ९६ ॥
वङ्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ श्लेष्मसंघातजौ स्तनौ ।
उपजिह्वा स्फिजौ बाहू जङ्घोरुषु च पिण्डिका ॥ ९७ ॥
तालूदरं बस्तिशीर्षं चिबुके गलशुण्डिके ।
अवटश्चैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरके ॥ ९८ ॥
अक्षिवर्णचतुष्कं च पद्धस्तहृदयानि च ।
नव छिद्राणि तान्येव प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९९ ॥

कनीनिके अक्षितारे अक्षिनासिकयोः सन्धी अक्षिकुटे शष्कुली कर्णशष्कुली कर्णपत्रकौ कर्णपाल्यौ कर्णौ प्रसिद्धौ दन्तवेष्टौ दन्तपाल्यौ ओष्ठौ प्रसिद्धौ ककुन्दरे जघनकूपकौ वङ्क्षणौ जघनोरुसंधी वृक्कौ पूर्वोक्तौ स्तनौ च श्लेष्मसंघातौ उपजिह्वा घण्टिका स्फिजौ कटिप्रोथौ बाहू प्रसिद्धौ जङ्घोरुषु च पिण्डिका जङ्घयोरूर्वोश्च पिण्डिका मांसलप्रदेशः गलशुण्डिके हनुमूलगलयोः सन्धी शीर्षं शिरः अवटः शरीरे यः कश्चन निम्नो देशः कण्ठमूलकक्षादिः । अवटुरिति पाठे कृकाटिका तथाक्ष्णोः कनीनिकयोः प्रत्येकं श्वेतं पार्श्वद्वयमिति वर्णचतुष्टयम् । यद्वा अक्षिपुटचतुष्टयं शेषं प्रसिद्धम् । एवमेतानि कुत्सिते शरीरे स्थानानि । तथाक्षियुगलम् । कर्णयुग्मम् । नासाविवरद्वयमास्यं पायुरुपस्थमेतानि पूर्वोक्तानि नव च्छिद्राणि च प्राणस्यायतनान्येव ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

शिराः शतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च ।
धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ १०० ॥

किंच । शिरा नाभिसंबद्धाश्चत्वारिंशत्संख्या वातपित्तश्लेष्मवाहिन्यः सकलकलेवरव्यापिन्यो नानाशाखिन्यः सत्यः सप्तशतसंख्या भवन्ति । तथाङ्गप्रत्यङ्गसंधिबन्धनाः स्नायवो नवशतानि धमन्योनाम नाभेरुद्भूताश्चतुर्विंशतिसंख्याः प्राणादिवायुवाहिन्यः शाखाभेदेन द्विशतं भवन्ति । पेश्यः पुनः मांसलाकारा ऊरुपिण्डिकाद्यङ्गप्रत्यङ्गसंधिन्यः पञ्चशतानि भवन्ति॥ १००॥

पुनश्चासामेव शिरादीनां शाखाप्राचुर्येण संख्यान्तरमाह

एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।
षट् पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिताः ॥ १०१ ॥

शिराधमन्यो मिलिताः शाखोपशाखाभेदेन एकोनत्रिंशल्लक्षाणि । तथा च नवशतानि च षट्पञ्चाशच्च भवन्तीत्येवं हे सामश्रवःप्रभृतयो मुनयो जानीत ॥ १०१ ॥

द्वावञ्जली । मज्जा त्वस्थिगतसुषिरगतस्तस्यैकोऽञ्जलिः । मस्तके पुनरर्धाञ्जलिः श्लेष्मौजसः श्लेष्मसारस्य तथा रेतसश्चरमधातोस्तावदेवार्धाञ्जलिरेव। एतच्च समधातुपुरुषाभिप्रायेणोक्तम्। विषमधातोस्तु न नियमः । वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च । दोषधातुमलानां च परिमाणं न विद्यत इत्यायुर्वेदस्मरणात् ॥ इतीदृशमस्थिस्नाय्वाद्यारब्धमेतदशुचिनिधानं वर्ष्मास्थिरमिति यस्य बुद्धिरसौ कृती पण्डितो मोक्षाय समर्थो भवति। वैराग्यनित्यानित्यविवेकयोर्मोक्षोपायत्वात् अस्थिमूत्रपुरीषादिप्राचुर्यज्ञानस्य वैराग्यहेतुत्वात् । अतएव व्यासः । सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः । शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥ यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् । दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेदिति । तस्मादीदृशकुत्सितशरीरस्यात्यन्तिकविनिवृत्त्यर्थमात्मोपासने प्रयतितव्यम्।१०५।१०६।१०७।

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ।
हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ १०८ ॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०९ ॥

उपासनीयात्मस्वरूपमाह ।

हृदयप्रदेशादभिनिःसृताः कदम्बकुसुमकेसरवत्सर्वतो निर्गता हिताहितकरत्वेन हिताहितसंज्ञा द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यो भवन्ति । अपरास्तिस्रो नाड्यस्तासामिडापिङ्गलाख्ये द्वे नाड्यौ सव्यदक्षिणपार्श्वगते हृदि विपर्यस्ते नासाविवरसंबद्धे प्राणापानायतने । सुषुम्नाख्या पुनस्तृतीया दण्डवन्मध्ये ब्रह्मरन्ध्रविनिर्गता तासां नाडीनां मध्ये मण्डलं चन्द्रप्रभं तस्मिन्नात्मा निर्वातस्थदीप इवाचलः प्रकाशमान् आस्ते स एवंभूतो ज्ञातव्यः तत्साक्षात्करणादिह संसारे न पुनः संसरति अमृतत्वं प्राप्नोति।१०८।१०९

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् ।
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ११० ॥

किंच । चित्तवृत्तेर्विषयान्तरतिरस्कारेणात्मनि स्थैर्यं योगस्तत्प्राप्त्यर्थं बृहदारण्यकाख्यमादित्याद्यन्मया प्राप्तं तच्च ज्ञातव्यम् । तथा यन्मयोक्तं योगशास्त्रं तदपि ज्ञातव्यम् ११०

कथ पुनरसावात्मा ध्यातव्य इत्यत आह

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ १११ ॥

आत्मव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य आत्मैकविषयाणि कृत्वा

चित्तविक्षेपाद्यन्तरायहतस्य फलान्तरमाह

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११६ ॥

गीतज्ञो यदि कथंचिद्योगेन परमं पदं नाप्नोति तर्हि रुद्रस्य सचिवो भूत्वा तेनैव सह मोदते क्रीडति ॥ ११६ ॥

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम् ।
आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगतश्चात्मसंभवः ॥ ११७ ॥

प्रागुक्तरीत्या अनादिरात्मा क्षेत्रज्ञस्तस्य च शरीरग्रहणमेवादिरुद्भवः कथितः । अजः शरीरग्रहणादित्यत्र परमात्मनश्च सकाशात्पृथिव्यादिसकलभुवनोद्भवः त- स्मादुद्भूताच्च पृथिव्यादिभूतसंघाताज्जीवानां स्थूलशरीरतया सम्भवश्च क- थितः सर्गादौ स यथाकाशमित्यादिना ॥ ११७ ॥

पूर्वोक्तमुपसंहरति ।

कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ।
जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११८ ॥

यदेतत्सकलसुरासुरमनुजादिसहितं जगदात्मनः सकाशात्कथमुत्पन्नं आत्मा च तस्मिन् जगति कथं तिर्यङ्नरसरीसृपादिशरीरभाग्भवतीत्येतस्मिन्नर्थे विमुह्यामः । अ- तो मोहापनुत्यर्थमस्माकं विस्तरशो वदस्व ॥ ११८ ॥

एतदेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति ।

एवं मुनिभिः पृष्टः प्रत्युत्तरमाह

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ।
सहस्रकरपन्नेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११९ ॥
स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ।
विराजः सोऽन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ १२० ॥

इह जगति यदिदं स्थूलकलेवरादावनात्मनि आत्माभिमानरूपं मोहजालं तदपास्य तद्व्यतिरिक्तो यः पुरुषोऽनेककरचरणलोचनः सूर्यवर्चाः अनन्तरश्मिः सहस्रकः बहुशिरा दृश्यते । एतच्च तत्तद्गोचरशक्त्याधारतयोच्यते । तस्य साक्षात्कारादिसंबन्धाभावात् । स ए- वात्मा यज्ञः प्रजापतिश्च यतोऽसौ विश्वरूपः सर्वात्मकः । वैश्वरूप्यमेव कथमिति चेत् य- स्मादसौ विराजः पुरोडाशाद्यन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति यज्ञाच्च वृष्ट्यादिद्वारेण प्रजासृ- ष्टिरित्येवं वैश्वरूप्यम् ॥ ११९ ॥ १२० ॥

पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो द्यौरजायत ।
नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्स्पर्शाद्वायुर्मुखाच्छिखी ॥ १२७ ॥
मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः ।
जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२८ ॥

योऽसौ सकलजीवात्मकतया प्रपञ्चात्मकतया च सहस्रात्मा बहुरूपस्तथा सकलजगद्धेतुतया आदिदेवो मया युष्माकमुदाहृतः तस्य वदनभुजसक्थिचरणजाता यथाक्रममग्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णास्तथा तस्य पादाद्भूमिर्मस्तकात्सुरसद्म घ्राणात्प्राणाः कर्णात्ककुभः स्पर्शात्पवनो वदनाद्धुतवहः मनसः शशाङ्कः नेत्राद्भानुः जघनाद्गगनं जङ्गमाजङ्गमात्मकं जगच्च ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ।
ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२९ ॥

अत्र चोदयन्ति । हे ब्रह्मन् योगीश्वर। यद्यात्मैव जीवादिभावं भजते तर्हि कथमसौ पापयोनिषु मृगपक्ष्यादिषु जायते । अथ मोहरागद्वेषादिदोषदुष्टत्वात्तत्र जन्मेत्युच्यते तच्च न यस्मादीश्वरः स्वतन्त्रः कथमनिष्टैर्मोहरागादिभावैः ॥ १२९ ॥

करणेनान्वितस्यापि पूर्वं ज्ञानं कथंचन ।
वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥ १३० ॥

किंच तथेदमप्यत्र दूषणम्। मनःप्रभृतिज्ञानोपायैः सहितस्यापि तस्यात्मनः पूर्वज्ञानं जन्मान्तरानुभूतविषयं कस्मान्नोत्पद्यते । तथा सर्वप्राणिगतां वेदनां सुखादिरूपां स्वयं सर्वज्ञोऽपि सर्वदेहगतोऽपि कस्मान्न वेत्ति तस्मादात्मैवेश्वरो जीवादिभावं भजत इत्युक्तम् ॥ १३० ॥

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवयोनिशतेषु च ॥ १३१ ॥

तत्र पूर्वचोद्यस्योत्तरमाह । यद्यपीश्वरः स्वरूपेण सत्यज्ञानानन्दलक्षणः तथाप्यविद्यासमावेशवशान्मोहरागादिभावैरभिभूयमानो नानाहीनयोनिजननसाधनं मानसादित्रिविधं कर्मनिचयमाचरति । तेन चान्त्यादिहीनयोनितामापद्यते । अन्त्याश्चण्डालादयः पक्षिणः काकादयः स्थावरा वृक्षादयः तेषां भावोऽन्त्यपक्षिस्थावरता तां यथाक्रमेण मनोवाक्कायारब्धकर्मदोषैः जन्मसहस्रेष्वयं जीवः प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ।

आत्मज्ञो विद्याधनाभिजनाद्यभिमानरहितः शौचवान् बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः दान्त उपशमान्वितः तपस्वी कृच्छ्रादितपोयुक्तः तथेन्द्रियार्थेष्वप्रसक्तः नित्यनैमित्तिकधर्मानुष्ठाननिरतः वेदार्थवेदी च यः स सात्विकः स च सत्वोद्रेकतारतम्यवशादुत्कृष्टोत्कृष्टतरसुरयोनितां प्राप्नोति ॥ १३७ ॥

सत्वादिगुणपरिपाकमाह ।

असत्कार्यरतोधीर आरम्भी विषयी च यः ।
स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति ॥ १३८ ॥

किंच । असत्कार्येषु तूर्यवादित्रनृत्यादिष्वभिरतो यस्तथा अधीरो व्यग्रचित्तः आरम्भी सदा कार्याकुलो विषयेष्वतिप्रसक्तश्च स रजोगुणयुक्तः तद्गुणतारतम्याद्धीनोत्कृष्टमनुष्यजातिषु मरणानन्तरमुत्पत्तिं प्राप्नोति ॥ १३८ ॥

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ।
प्रमादवान्भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३९ ॥

तथा यः पुनर्निद्राशीलः प्राणिपीडाकरो लोभयुक्तश्च तथा नास्तिको धर्मादेर्निन्दकः याचनशीलः प्रमादवान् कार्याकार्यविवेकशून्यः विरुद्धाचारश्च असौ तमोगुणयुक्तस्तत्तारतम्याद्धीनहीनतरपश्वादियोनिषु जायते ॥ १३९ ॥

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ।
भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥ १४० ॥

एवमविद्याविद्धोऽयमात्मा रजस्तमोभ्यां सम्यगाविष्ट इह संसारे पर्यटन् नानाविधदुःखप्रदैर्भावैरभिभूतः पुनः पुनः संसारं देहग्रहणं प्राप्नोति । इतीश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यत इति अस्य चोद्यस्य नावकाशः ॥ १४० ॥

पूर्वोक्तमुपसहरति ।

यदपि करणैरन्वितस्यापि इति द्वितीय चोद्यं तस्योत्तरमाह

मलिनो हि यथादर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।
तथाविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४१ ॥

यद्यप्यात्मा अन्तःकरणादिज्ञानसाधनसंपन्नस्तथापि जन्मान्तरानुभूतार्थावबोधे न समर्थः अविपक्वकरणो रागादिमलाक्रान्तचित्तो यस्मात् यथा दर्पणो मलच्छन्नो रूपज्ञानोत्पादनसमर्थो न भवति ॥ १४१ ॥

ननु प्राग्भवीयज्ञानस्यापि आत्मप्रकाशित्वात् तस्य च स्वत.सिद्धत्वान्नानुपलम्भो युक्त इत्याशङ्क्याह

कट्वेर्वारौ यथा पक्वे मधुरः सन् रसोऽपि न ।
प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४२ ॥

कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु ।
सृजत्यात्मानमात्मा च संभूय कारणानि च ॥ १४८ ॥

यथा हि कुलालो मृच्चक्रचीवरादिकं कारणजातमुपादाय करकशरावादिकं नानाविधकार्यजातं रचयति । यथा वा वर्धकिस्तृणमृत्काष्ठैः परस्परसापेक्षैः एकं गृहाख्यं कार्यं करोति । यथा वा हेमकारः केवलं हेमोपादाय हेमानुगतमेव कटकमुकुटकुण्डलादि कार्यमुत्पादयति । यथा वा कोशकारकः कीटविशेषो निजलालयारब्धमात्मबन्धनं कोशाख्यमारभते तथात्मापि पृथिव्यादीनि साधनानि परस्परसापेक्षाणि तथा करणान्यपि श्रोत्रादीन्युपादाय अस्मिन्संसारे तासु तासु सुरादियोनिषु स्वयमेवात्मानं निजबद्धं शरीरितया सृजति ॥ १४६ ॥ १४७ ॥ १४८ ॥

किं पुनर्वैषयिकज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणमित्याशङ्कयाह

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४९ ॥

यथा हि पृथिव्यादिमहाभूतानि सत्यानि प्रमाणगम्यत्वात् तथात्मापि सत्यः अन्यथा यदि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता ध्रुवो न स्यात्तर्हि एकेन चक्षुरिन्द्रियेण दृष्टं वस्तु अन्येन स्पर्शनेन्द्रियेण को विजानाति यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामीति ॥ १४९ ॥

वाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ।

तथा कस्यचित्पुरुषस्य वाचं पूर्वं श्रुत्वा पुनः श्रूयमाणां वाचं तस्य वागियमिति कः प्रत्यभिजानाति । तस्मात् ज्ञानेन्द्रियातिरिक्तो ज्ञाता ध्रुव इति सिद्धम् ॥

अतीतार्थस्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः॥ १५० ॥
जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरहङ्कृतः ।
शब्दादिविषयोद्योगं कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५१ ॥

किंच । यद्यात्मा ध्रुवो न स्यात् तर्ह्यनुभूतार्थगोचरा स्मृतिः पूर्वानुभवभावितसंस्कारोद्बोधनिबन्धना कस्य भवेत् । न ह्यन्येन दृष्टे वस्तुनि अन्यस्य स्मृतिरुपपद्यते । तथा कः स्वप्नज्ञानस्य कारकः नहीन्द्रियाणामुपरतव्यापाराणां तत्कारकत्वम् । तथाहमेवाभिजनत्वादिसंपन्न इत्येवंविधोऽनुसंधानप्रत्ययः कस्य भवति स्थिरात्मव्यतिरिक्तस्य । तथा शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगसिद्ध्यर्थमुद्योगं मनोवाक्कायैः कः कुर्यात् ॥ तस्मादपि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा स्थितः ॥ १९० ॥ १९१ ॥

विद्यार्थमाचार्यसेवा वेदान्तार्थेषु पातञ्जलादियोगशास्त्रार्थेषु च विवेकित्वम् । तत्प्रतिपादितध्यानकर्मणामनुष्ठानम् । सत्पुरुषसङ्गः प्रियहितवचनत्वम् । ललनालोकनालम्भयोः परित्यागः । सर्वभूतेष्वात्मवद्दर्शनं समत्वदर्शनम् । परिग्रहाणां च पुत्रक्षेत्रकलत्रादीनां त्यागः । जीर्णकाषायधारणम् । तथा शब्दस्पर्शादिविषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिरोधस्तन्द्रानिद्रानुकारिणी । आलस्यमनुत्साहः तयोर्विशेषेण त्यागः । शरीरकस्य परिसंख्यानमस्थिराशुचित्वादिदोषानुसंधानम् । तथा सकलगमनादिषु प्रवृत्तिषु सूक्ष्मप्राणिवधादिदोषपरामर्शः। तथा रजस्तमोविधुरताप्राणायामादिभिर्भावशुद्धिः । निःस्पृहता विषयेष्वनभिलाषः । शमो बाह्यान्तःकरणसंयमः एतैराचार्योपासनादिभिरुपायैः सम्यक् शुद्धः केवलसत्वयुक्तो ब्रह्मोपासनेनामृती भवेत् मुक्तो भवति ॥ १५६ ॥ १५७ ॥ १५८ ॥ १५९ ॥

कथममृतत्वप्राप्तिरित्यत आह

तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्वयोगात्परिक्षयात् ।
कर्मणां सन्निकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आत्माख्यतत्त्वस्मृतेरात्मनि निश्चलतयोपस्थानात् सत्वशुद्धियोगात्केवलसत्वगुणयोगात्कर्मबीजानां परिक्षयात् सत्पुरुषाणां च संबन्धात् आत्मयोगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्वस्थमीश्वरम् ।
अविप्लुतमतिः सम्यग्जातिसंस्मरतामियात् ॥ १६१ ॥

किंच । यस्य पुनर्योगिनोऽविप्लुतमतेः शरीरसंक्षयसमये मनः सत्वयुक्तं सम्यगेकाग्रतयेश्वरं प्रति व्याप्रियते स यद्युपासनाप्रयोगाप्रवीणतयात्मानं नाधिगच्छति तर्हि विशिष्टसंस्कारपाटववशेन जात्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनानागर्भवासादिसमुद्भूतदुःखस्मरत्वं प्राप्नुयात् । तत्स्मरणेन च जातोद्वेगतस्तद्विच्छेदकारिणि मोक्षे प्रवर्तते ॥ १६१ ॥

यस्त्वयं दुःसंस्कारतया पूर्वां जातिं न स्मरति तस्य का गतिरित्यत्राह

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ।
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥ १६२ ॥

भरतो नटः स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्वाणः सितासितपीतादिभिर्वर्णैरात्मनस्तनुं वर्णयति रचयति तथैवात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुब्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यादत्ते ॥ १६२ ॥

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।
गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मतः ॥ १६३ ॥

यदस्यात्मनो मुक्तिमार्गभूताद्रश्मेरन्यद्रश्मिशतमूर्ध्वाकारमेव व्यवस्थितं तेन सुरशरीराणि तैजसानि सुखैकभोगाधिकरणानि सधामानि कनकरजतरत्नरचितामरपुरसहितानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

स्वर्गमार्गमाह ।

येनैकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयश्च मृदुप्रभाः ।
इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ॥ १६९ ॥

संसरणमार्गमाह ।

ये पुनस्तस्याधस्ताद्रश्मयो मृदुप्रभास्तैरिह फलोपभोगार्थं संसारे संसरति अवशः स्वकृतकर्मपरतन्त्रः ॥ १६९ ॥

भूतचैतन्यवादिपक्षं परिजिहीर्षुराह

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मना मरणेन च ।
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनृतेन च ॥ १७० ॥
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ।
निमित्तशाकुनज्ञानग्रहसंयोगजैः फलैः ॥ १७१ ॥
तारानक्षत्रसंचारैर्जागरैः स्वप्नजैरपि ।
आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १७२ ॥
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिफलैरपि ।
वित्तात्मानं वेद्यमानं कारणं जगतस्तथा ॥ १७३ ॥

वेदैः स एष नेति नेतीत्यात्मेति अस्थूलमनण्वह्रस्वमपाणिपादमित्यादिभिः । शास्त्रैश्च मीमांसान्वीक्षिक्यादिभिः । विज्ञानैश्च ममेदं शरीरमित्यादिदेहव्यतिरिक्तात्मानुभवैः । तथा जन्ममरणाभ्यां जन्मान्तरानुष्ठितधर्माधर्मनियताभ्यां देहातिरिक्तात्मानुमानम् । आर्त्या जन्मान्तरगतकर्मानुष्ठातृनियतया । तथा गमनागमनाभ्यां ज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारनियताभ्यामपि भौतिकदेहातिरिक्तात्मानुमानम् । न हि देहस्य चैतन्यादि संभवति । यतः कारणगुणप्रोक्तक्रमेण कार्यद्रव्ये वैशेषिकगुणारम्भो दृष्टः । न च तत्कारणभूतपार्थिवपरमाण्वादिषु चैतन्यादिसमवायः संभवति तदारब्धस्तम्भकुम्भादिभौतिकेष्वनुपलम्भात् । न च मदशक्तिवदुदकादिद्रव्यान्तरसंयोगज इति वाच्यम् । शक्तेः साधारणगुणत्वात् । अतो भौतिकदेहातिरिक्तचैतन्यादिसमवाय्यङ्गीकर्तव्यः । सत्यानृते प्रसिद्धे । श्रेयो हितप्राप्तिः । सुखदुःखे आमुष्मिके । तथा शुभकर्मानुष्ठानमशुभकर्मपरित्यागः एतैश्च ज्ञाननियतैः देहातिरिक्तात्मानुमानम् । निमित्तं भूकम्पादि । शाकुनं ज्ञानं पिङ्गलादि पतत्रिचेष्टालिङ्गकं ज्ञानम् । ग्रहाः सूर्यादयः तत्संयोगजैः फलैः । तारा अश्विन्यादिव्यतिरिक्तानि ज्योतींषि नक्षत्राण्याश्वयुक्प्रभृतीनि एतेषां संचारैः शुभाशु-

न्तराग्राह्यत्वात् । असन् अस्पष्टप्रतीतिकत्वात् । सदसद्रूपोऽसावात्मा क्षेत्रज्ञ इति निगद्यते ॥ १७७ ॥ १७८ ॥

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्ता ततोऽहङ्कारसंभवः ।
तन्मात्रादीन्यहङ्कारादेकोत्तरगुणानि च ॥ १७९ ॥

बुद्ध्यादेरुत्पत्तिमाह ।

सत्वादिगुणसाम्यमव्यक्तम् । ततस्त्रिप्रकारायाः सत्त्वरजस्तमोमय्या बुद्धेरुत्पत्तिः । तस्याश्च वैकारिकतैजसो भूतादिरिति त्रिविधोऽहङ्कार उत्पद्यते तत्र तामसाद्भूतादिसंज्ञकादहङ्कारात्तन्मात्राणि आदिग्रहणाद्गगनादीनि तानि चैकोत्तरगुणान्युत्पद्यन्ते।चशब्दाद्वैकारिकतैजसाभ्यां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणामुत्पत्तिः१७९

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।
यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

गुणस्वरूपमाह ।

तेषां गगनादिपञ्चभूतानां एकोत्तरवृद्ध्या पञ्च शब्दादयो गुणा वेदितव्याः । एषां च बुद्ध्यादिविकाराणां मध्ये यो यस्मात्प्रकृत्यादेरुत्पन्नः स तस्मिन्नेव सूक्ष्मरूपेण प्रलयसमये प्रलीयते ॥ १८० ॥

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ।
विपाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोपि सन् ॥ १८१ ॥
सत्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिताः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्भ्राम्यते ह्यसौ ॥ १८२ ॥
अनादिरादिमांश्चैव स एव पुरुषः परः ।
लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः सविकार उदाहृतः ॥ १८३ ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह ।

मानसादित्रिप्रकारकर्मणां विपाकादीश्वरोऽपि सन्नात्मा यथात्मानं सृजति तथा युष्माकं कथितः । सत्त्वादयश्च गुणास्तस्यैवाविशिष्टस्य कीर्तिताः । तथा स एव रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवदिह संसारे भ्राम्यतीत्यपि कथितम् । स एवानादिः परमपुरुषः शरीरग्रहणेनादिमान् कुब्जवामनादिविकारसहितः यथा स्थूलाकारतया परिणतो लिङ्गैरिन्द्रियैश्च ग्राह्यस्वरूप उदाहृतः ॥ १८१ ॥ १८२ ॥ १८३ ॥

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

चराणि भाष्याणि च सूत्रव्याख्यारूपाणि यदन्यदायुर्विद्यादिकं वाङ्मयं तदपि यत्सकाशात्प्रवृत्तं तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः । एवंसति वेदस्य नानित्यतादोषप्रसङ्गः ॥ १८९ ॥

ततः किमित्यत आह

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्वेदानुवचनादयः सत्वशुद्ध्यापादनद्वारेणात्मज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः समस्तैरेवमेव तु ।
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥
य एनमेवं विन्दन्ति ये चारण्यकमाश्रिताः ।
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥

किंच । यस्मान्नित्यतयात्मप्रमाणभूतो वेदस्तस्मादसावुक्तमार्गेण सकलाश्रमिभिर्नानाप्रकारं जिज्ञासितव्यः । तमेव प्रकारं दर्शयति । द्विजातिभिर्द्रष्टव्यः अपरोक्षीकर्तव्यः । तत्रोपायं दर्शयति । श्रोतव्यो मन्तव्य इति । प्रथमतो वेदान्तश्रवणेन निर्णेतव्यः तदनन्तरं मन्तव्यः युक्तिभिर्विचारयितव्यः ततोऽसौ ध्यानेनापरोक्षीभवति । ये द्विजातयोऽतिशयश्रद्धायुक्ताः सन्तो निर्जनप्रदेशमाश्रिताः एवमुक्तेन मार्गेण एनमात्मानं सत्यं परमार्थभूतमुपासते ते आत्मानं विन्दन्ति लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९१ ॥ १९२ ॥

क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम् ।
अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥
ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।
करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

प्राप्तिमार्गेदेवयानमाह ।

ते विदितात्मानः क्रमादग्न्याद्यभिमानिदेवतास्थानेषु मुक्तिमार्गभूतेषु विश्राम्य तैः प्रस्थापिताः परमपदं प्राप्नुवन्ति । अर्चिर्वह्निः अहर्दिनं शुक्लपक्षः तथोत्तरायणं सुरसद्म सविता सूर्यः वैद्युतं च तेजः तान् एवं क्रमादर्चिरादिस्थानगतान्मानसः पुरुषो ब्रह्मलोकभाजः करोति । तेषामिह संसारे पुनरावृत्तिर्न विद्यते किंतु प्राकृतप्रतिसंचरावसरे त्यक्तलिङ्गशरीराः परमात्मन्येकीभवन्ति ॥ १९३ ॥ १९४ ॥

पूर्वोक्तपितृयानमाह ।

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ।

त्रिंशद्भिर्मध्यमः । पञ्चचत्वारिंशद्भिरुत्तमः । एवं प्राणायामत्रयात्मिकैकाधारणा तास्तिस्रो योगशब्दवाच्यास्ताश्च धारयेत् । यथोक्तमन्यत्र । संभ्रम्य च्छोटिकां दद्यात्कराग्रं जानुमण्डले । मात्राभिः पञ्चदशभिः प्राणायामोऽधमः स्मृतः ॥ मध्यमो द्विगुणः श्रेष्ठस्त्रिगुणो धारणा तथा । त्रिभिस्त्रिभिः स्मृतैकैका ताभिर्योगस्तथैव चेति ॥ १९८ ॥ १९९ ॥ २०० ॥ २०१ ॥

धारणात्मकयोगाभ्यासे प्रयोजनमाह

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा ।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम् ॥ २०२ ॥
अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धिर्हि लक्षणम् ।
सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ॥ २०३ ॥

अणिमाप्राप्त्या परैरदृश्यत्वमन्तर्धानम् । स्मृतिरतीन्द्रियेष्वर्थेषु मन्वादेरिव स्मरणम् । कान्तिः कमनीयता । दृष्टिरतीतानागतेष्वप्यर्थेषु । तथा श्रोत्रज्ञता अतिदवीयसि देशेऽभिव्यज्यमानतया श्रोत्रपथमनासेदुषामपि शब्दानां ज्ञातृता । निजशरीरत्यागेन परशरीरप्रवेशनम् । स्ववाञ्छावशेनार्थानां करणनिरपेक्षतया सृष्टिरित्येतद्योगस्य सिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं । न चैतावदेव प्रयोजनं किंतु सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते । ब्रह्मत्वप्राप्तये च प्रभवति ॥ २०२ ॥ २०३ ॥

यज्ञदानाद्यसंभवे सत्त्वशुद्धावुपायान्तरमाह

अथवाप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ।
अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

अथवा त्यक्तकामी अनिषिद्धकर्मा अन्यतमं वेदमभ्यसन् एकान्तशीलोऽयाचितमिताशनापादितसत्त्वशुद्धिरात्मोपासनेन परां मुक्तिलक्षणां सिद्धिं प्राप्नोति ॥ २०४ ॥

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ २०५ ॥

किंच । सत्प्रतिग्रहादिन्यायेनोपार्जितधनः अतिथिपूजातत्परः नित्यनैमित्तिकश्राद्धानुष्ठाननिरतः गृहस्थोऽपि हि यस्मान्मुक्तिमवाप्नोति तस्मान्न केवलमैहिकपारिव्रज्यपरिग्रह एव मुक्तिसाधनम् ॥ २०५ ॥ इत्यध्यात्मप्रकरणम् ॥

एवं च तिर्यक्त्वादुत्तीर्णानां मानुष्ये लक्षणानि भवन्तीत्याह

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः ।
हेमहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ २०९ ॥
यो येन संवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते ।

किंच । एवं रौरवादिनरकेषु श्वसूकरखरादियोनिषु च दारुणं दुःखमनुभूयानन्तरं दुरितशेषेण जननसमय एव क्षयरोगादिलक्षणयुक्ताः । प्रचुरेषु मानवशरीरेषु संसरन्ति । ब्रह्महा क्षयरोगी राजयक्ष्मी भवेत् । निषिद्धसुरापानी स्वभावतः कृष्णदशनः । ब्राह्मणहेम्नां हर्ता कुत्सितनखित्वम् । गुरुदारगामी दुश्चर्मत्वं कुष्ठिताम् । एतेषां ब्रह्महादीनां मध्ये येन पतितेन यः पुरुषः संवसति स तल्लिङ्गोऽभिजायते ।

पापानुरोधेन रोगिणो भवन्ति ।

अन्नहर्तामयावी स्यान्मूको वागपहारकः ॥ २१० ॥
धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।
तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः ॥ २११ ॥

किंच । अन्नस्यापहर्ता आमयावी अजीर्णान्नः । वागपहारकोऽननुज्ञाताध्यायी पुस्तकापहारी च मूको वागिन्द्रियविकलो भवेत् । धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः षडङ्गुल्यादिः पिशुनो विद्यमानपरदोषप्रख्यापनशीलः । पूतिनासिकः दुर्गन्धनासिकः । तैलस्य हर्ता तैलपायी कीटविशेषो भवति । सूचकोऽसद्दोषसंकीर्तनो दुर्गन्धिवदनो जायते । एतच्च तिर्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालं मानुषशरीरप्राप्तौ द्रष्टव्यम् । (अ. १२ श्लो. ६८) यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविरिति मनुस्मरणात् ॥ २०९ ॥ ॥ २१० ॥ २११ ॥

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

किंच । यः परदारानपहरति ब्रह्मस्वं च सुवर्णव्यतिरिक्तमपहरति असावरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो जायते ॥ २१२ ॥

हीनजातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।
पत्रशाकं शिखी हृत्वा गन्धाञ्छुच्छुन्दरी शुभान् ॥ २१३ ॥

किंच । हीनजातौ हेमकाराख्यायां पक्षिजातौ पररत्नाद्यपहारको जायते । तथा च

याजको वराहः । अनिमन्त्रितभोजी वायसः । मृष्टैकभोजी वानरः । यतस्ततोश्नन्मार्जारः । कक्षवनदहनात्खद्योतः । दारकाचार्यो मुखविगन्धिः । पर्युषितभोजी कृमिः । अदत्तादायी बलीवर्दः । मत्सरी भ्रमरः । अग्न्युत्सादी मण्डलकुष्ठी । शूद्राचार्यः पाकः । गोहर्ता सर्पः । स्नेहापहारी क्षयी । अन्नापहारी अजीर्णी । ज्ञानापहारी मूकः । चण्डालीपुल्कसीगमने अजगरः । प्रव्रजितागमने मरुपिशाचः । शूद्रीगमने दीर्घकीटः । सवर्णाभिगामी दरिद्रः । जलहारी मत्स्यः क्षीरहारी बलाकः । वार्धुषिकोऽङ्गहीनः । अविक्रेयविक्रयी गृध्रः । राजमहिषीगामी नपुंसकः । राजाक्रोशको गर्दभः । गोगामी मण्डूकः । अनध्यायाध्ययने सृगालः । परद्रव्यापहारी परप्रेष्यः । मत्स्यवधे गर्भवासी इत्येतेऽनूर्ध्वगमना इति । स्त्रियोऽप्येतेषु निमित्तेषु पूर्वोक्तास्वेव जातिषु स्त्रीत्वमनुभवन्ति । यथाह मनुः । (अ. १२ श्लो. ६९) स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हत्वा दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ता इति । एतच्च क्षयित्वादिलक्षणकथनं प्रायश्चित्तोन्मुखीभूतब्रह्महाद्युद्वेगजननार्थं न पुनः क्षयित्वादिलक्षणयुक्तानां द्वादशवार्षिकादिव्रतप्राप्त्यर्थं संसर्गनिवृत्त्यर्थं वा । तथा हि । पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम् । न च प्रारब्धफलपापापूर्वविनाशे किंचन प्रयोजनमस्ति नहि कार्मुकनिर्मुक्तो बाणो लक्ष्यवेधे वेद्धुस्तद्व्यापारस्य वा सत्तां पुनरपेक्षते न च तदारब्धफलनाशार्थोऽपूर्वनाशोऽन्वेषणीयः । न हि निमित्तकारणभूतचक्रचीवरादिविनाशेन [illegible]दिविनाशः । न च नैसर्गिकं कौनख्यादिकं प्रत्यानेतुं शक्यते । किंच । [illegible] जन्यदुःखपरम्परामनुभूय तस्य हि कौनख्यादिको विकारश्चरमं फलम् ॥ [illegible] स्वकारणापूर्वनाशो जन्यते । मन्थनजनिताशुशुक्षणिनेवारणिक्षय[illegible] तपरिचर्या नापि संव्यवहारार्थम् । नहि शिष्टाः कुनख्यादिभिः [illegible] परिहरन्ति । प्राचीनक्षयात्पापनाशेन संव्यवहारार्थत्वस्यापि सिद्धेर्नार्थो [illegible] । कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेदिति [illegible] न पुनः पापक्षयार्थं संव्यवहार्यसिद्ध्यर्थं वेति मन्तव्यम् ॥ [illegible]

यथा कर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं [illegible] ।
जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः [illegible] ॥ २१७ ॥

किंच । यथा कर्म स्वकृतदुष्कृतानतिक्रमेण [illegible] कालक्रमेण क्षीणे कर्मणि दुष्टलक्षणा [illegible] ॥ [illegible]

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले [illegible] ।
जायन्ते विद्ययोपेता [illegible] ॥ २१८ ॥

किंच । ततो दुर्लक्षणमनुष्यजन्म[illegible] प्राग्भवीयसुकृतशेषेण महाकुले [illegible]

घटन्ते। उच्यते यथा वान्तमश्नत उल्कया वा दह्यमानमुखस्य दुःखं तथास्यापि विहितमकुर्वतः पुरुषस्य पुरुषार्थासिद्धेरित्यकरणनिन्दनमनुष्ठानप्ररोचनार्थमित्यविरोधः। यद्वा प्राग्भवीयनिषिद्धाचरणाक्षिप्तविहितानुष्ठानविरोधि रागालस्यादिजन्यं वान्ताश्युल्कामुखप्रेतत्वादिरूपमिति न क्वचिदभावस्य कारणतेति मन्तव्यम्॥ ननु पुंश्चलीवानरखरदष्टमिथ्याभिशस्तादौ विहिताकरणादिनिमित्तानामन्यतमस्याप्यभावात्कथं प्रत्यवायिता कथं च तदभावे प्रायश्चित्तविधानम्। उच्यते। अस्मादेव पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तविधानाज्जन्मान्तराचरितनिषिद्धसेवादिजन्यं पापापूर्वं समाक्षिप्तमिथ्याभिशापादिकं तन्निमित्तप्रायश्चित्तापनोद्यमनेनानुष्ठितमिति कल्प्यते। पुरुषप्रयत्ननिरपेक्ष्येण कार्यरूपपापोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न च पुंश्चल्यादिगतप्रयत्नेन पुरुषान्तरे पापोत्पत्तिः कर्तृसमवायित्वनियमाद्धर्माधर्मयोस्तस्माद्युक्तैव प्रायश्चित्ते निमित्तत्रयपरिगणना। तथा च मनुः। (अ. ११ श्लो. ४४) अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नर इति। नरग्रहणं प्रतिलोमजातानामपि प्रायश्चित्ताधिकारप्राप्त्यर्थम्। तेषामप्यहिंसादिसाधारणधर्मव्यतिक्रमसंभवात्। यस्मादेवं निषिद्धाचरणादिना प्रत्यवैति तस्मात्तेन कृतनिषिद्धसेवादिना पुरुषेण प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिह लोके परत्र च विशुद्ध्यर्थम्। प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः। एवं प्रायश्चित्ते कृते अस्यान्तरात्मा शुद्धतया प्रसीदति लोकश्चायं संव्यवहर्तुं प्रसीदति। एवं च वदतैतद्दर्शितम्। नैमित्तिकोऽयं प्रायश्चित्ताधिकारः तत्र चार्थवादगतदुरितक्षयोऽपि जातेष्टिन्यायेन साध्यतया स्वीक्रियते। न च दुरितपरिजिहासुनानुष्ठीयत इत्येतावता कामाधिकाराशङ्का कार्या। यस्मात (मनु. अ. ११ श्लो. ९२) चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये। निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनस इत्यकरणे दोषश्रवणेनावश्यकत्वावगमात्॥ २१९॥ २२०॥

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः।
अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दारुणान्॥ २२१॥

प्रायश्चित्ताकरणे दोषमाह। पापेषु शास्त्रार्थव्यतिक्रमजनितेषु प्रसक्ताः पुरुषाः अपश्चात्तापिनो मया दुष्कृतं कृतमित्येवमुद्वेगरहिताः प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः दुःसहान्नरकान्प्राप्नुवन्ति॥

नरकस्वरूपं विवृण्वन्नाह

तामिस्रं लोहशङ्कुं च महानिरयशाल्मली।
रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम्॥ २२२॥
संघातं लोहितोदं च सविषं संप्रपातनम्।
महानरककाकोलं संजीवनमहापथम्॥ २२३॥
अवीचिमन्धतामिस्रं कुम्भीपाकं तथैव च।

विधीयते इति (अ. ११ श्लो. ८९) मनुवचनाच्चावगम्यते। नैतत्। यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन। न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते इति। तथा। विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेदिति च कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तदर्शनात्। यत्तु वसिष्ठवचनम्। तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धिकरमित्यभिप्रायो न पुनः कामकृतेऽपि प्रायश्चित्ताभाव इति॥ यत्तु मनुवचनमियं विशुद्धिरुदितेत्यादि तदपीयमिति सर्वनामपरामृष्टद्वादशवार्षिकव्रतचर्याया एव कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते इत्यनेन प्रतिषेधो न पुनः प्रायश्चित्तमात्रस्य। मरणान्तिकादेः प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात्॥ ननु यदि कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि कस्मान्न स्यादविशेषाद्यदि पापक्षयोऽपि नास्ति तर्हि व्यवहार्यतापि कथं भवति॥ उच्यते उभयप्रायश्चित्ताविशेषेऽपि फलविशेषः शास्त्रतोऽवगम्यते। अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः। यत्र तु ब्रह्महा सुरापो गुरुतल्पगो मातृपितृयोनिसंबद्धाङ्गस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्चेति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं निषिद्धम्। तस्मिन्पतनीये कर्मणि कामतः कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय इति। न च पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुपपन्नम्। द्वे हि पापस्य शक्ती नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति। तत्रेतरशक्त्यविनाशेऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपन्नस्तस्मात्पापानपगमेऽपि व्यवहार्यत्वं नानुपपन्नम्। यत्तु मनुवचनम्। (अ. ११ श्लो. ४९) अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः। कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनादिति तदपि कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थम्। न पुनः पापक्षयप्रतिपादनपरम्। अपतनीये पुनः कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव (अ. ११ श्लो. ४६) अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति। कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैरिति मनुस्मरणात्। पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिकप्रायश्चित्तेषु कल्मषक्षयो भवत्येव। फलान्तराभावात्। नास्यान्यस्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निर्हन्यत इत्यापस्तम्बस्मरणात्॥ २२६॥

निषिद्धाचरणादिकं प्रायश्चित्ते निमित्तमित्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्॥ २२७॥

महापातकिन-
आह।

हन्तिरयं प्राणवियोगकरणे व्यापारे रूढः। यद्व्यापारसमनन्तरं कालान्तरे वा कारणान्तरनिरपेक्षः प्राणवियोगो भवति। स ब्राह्मणं हतवानिति ब्रह्महा। मद्यपो निषिद्धसुरायाः पायी। स्तेनो ब्राह्मणस्य सुवर्णहर्ता। ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकमित्यापस्तम्बस्मरणात्। गुरुतल्पगो गुरुभार्यागामी। तल्पशब्देन शयनवाचिना साहचर्याद्भार्या लक्ष्यते। एते ब्रह्महादयो महापातकिनः। पातयन्तीति पातकानि ब्रह्महत्यादीनि। महच्छब्देन तेषां गुरुत्वं ख्याप्यते तद्योगिनो महापातकिन इति लाघवार्थं संज्ञाकरणम्। यश्च तैर्ब्रह्महादिभिः प्रत्येकं सह संवसति एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्सम इति वक्ष्यमाणन्यायेन सोऽपि महापातकी। तथाशब्दः प्रकारवचनः। अनु-

द्रवत्येव तद्व्यतिक्रमनिबन्धनो दोषः । अनुमन्तुस्तु प्रयोजकादप्यल्पफलत्वं प्रयोजकव्यापाराद्बहिरङ्गत्वाल्लघुत्वाच्चानुमननस्य निमित्तकर्तुः पुनराक्रोशकादेः प्रवृत्तिहेतुभूतमन्युजनकत्वेन व्यवहितत्वान्मरणानुसंधानं विना प्रवृत्तत्वाच्चानुमन्तुः सकाशादप्यफलत्वम् ॥ ननु यदि व्यवहितस्यापि कारणत्वं तर्हि मातापित्रोरपि हन्तृपरुषोत्पादनद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते । नहि पूर्वभावित्वमात्रेण कारणत्वम् । कारणतयापि तथाभावित्वोपपत्तेः । यत्खलु स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणव्यापारयोगि भवति तद्धि कारणम् । यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयादिति रथन्तरसामतैवक्रतोरैन्द्रवायवाग्रतायां कारणं न हि तत्र सोमयागः स्वरूपेण कारणं व्यभिचारान्न च पित्रोस्तादृग्विधकारणलक्षणयोगित्वमिति नातिप्रसङ्गः । अनेनैव न्यायेन धर्माभिसंधिना निर्मितकूपवाप्यादौ प्रमादपतितब्राह्मणादिमरणे खानयितुर्दोषाभावः । न हि कूपोऽनेन खानितः अतोऽहमात्मानं व्यापादयामीत्येवं कूपखनननिमित्तव्यापादनं यथाक्रोशादौ अतः कूपकर्तुरपि कारणत्वमेव न पुनर्हिंसाहेतुत्वमिति मातापितृतुल्यतैव । तथा क्वचित्सत्यपि हिंसानिमित्तयोगित्वे परोपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः । यथाह संवर्तः । बन्धने गोश्चिकित्सार्थे गूढगर्भविमोचने । यत्ने कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोब्राह्मणादिषु । दीयमाने विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥ दाहच्छदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम् । प्राणसंत्राणसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते इति । एतच्चादाननिदाननिपुणभिषग्विषयम् । इतरस्य तु भिषङ्मिथ्याचरन्दाप्य इत्यत्र दोषो दर्शितः । यत्तु मन्युनिमित्ताक्रोशनादिकमकुर्वतोऽपि नाम गृहीत्वोन्मादादिनात्मानं व्यापादयति तत्रापि न दोषः । अकारणं तु यः कश्चिद्द्विजः प्राणान्परित्यजेत् । तस्यैव तत्र दोषः स्यान्न तु यं परिकीर्तयेदिति स्मरणात् ॥ यथा यत्राप्याक्रोशकादिजनितमन्युनात्मानं खड्गादिना प्रहृत्य मरणादर्वागाक्रोशनादिकर्त्रा धनदानादिना संतोषितो यदि जनसमक्षमुच्चैः श्रावयति नात्राक्रोशकस्यापराध इति तत्रापि वचनान्न दोषः । यथाह विष्णुः । उद्दिश्य कुपितो हत्वा तोषितः श्रावयेत्पुनः । तस्मिन्मृते न दोषोऽस्ति द्वयोरुच्छ्रावणे कृते इति । एतेषां च प्रयोजकादीनां दोषगुरुलघुभावपर्यालोचनया प्रायश्चित्तविशेषं वक्ष्यामः ॥ २२७ ॥

गुरूणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्वधः ।
ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

ब्रह्महत्यासमान्याह ।

गुरूणामाधिक्येनाधिक्षेपः अनृताभिशंसनम् । गुरोरनृताभिशंसनमिति महापातकसमानीति गौतमस्मरणात् । एतच्च लोकाविदितदोषाभिशंसनविषयम् । दोषं बुध्वा न पूर्वःपरेषां समाख्याता स्यात्संव्यवहारे चैनं परिहरेदित्यापस्तम्बस्मरणात् । नास्तिक्याभिनिवेशेन वेदकुत्सनम् । सुहृन्मित्रं तस्याब्राह्मणस्यापि वधः । अधीतस्य वेदस्यासच्छास्त्रविनोदेनालस्यादिना वा नाशनं विस्मरणम् । एतानि प्रत्येकं ब्रह्महत्यासमानि । यत्पुनः स्वाध्यायाग्निसुतत्याग इति अधीतत्यागस्योपपातकमध्ये परिगणनं तत्कथंचित्कुटुम्बभरणाकुलतयाऽसच्छास्त्रश्रवणव्यग्रतया वा विस्मरणे द्रष्टव्यम् २२८

त्तातिदेशार्थमेवेदं वचनं भवति । किंतु दोषगौरवमात्रप्रतिपादनपरमित्याशङ्कनीयम् । यतस्तावन्मात्रप्रतिपादनपरत्वे ब्रह्महत्यासममिदं गुरुतल्पसममित्यादिभेदेन समत्वाभिधानं नोपपद्यते । तच्च प्रायश्चित्तं समशब्देनोपदिश्यमानं ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तेभ्यः किंचिन्न्यूनमेवोपदिश्यते । लोके राजसमो मन्त्रीत्यादिवाक्येषु समशब्दस्य किंचिद्धीने प्रयोगदर्शनात् । महतः पातकस्येतरस्य च तुल्यत्वस्यायुक्तत्वाच्च । एवं च सति याज्ञवल्क्येन ब्रह्महत्यासमत्वेनोक्तानामपि ब्रह्मोज्झत्ववेदनिन्दासुहृद्वधानां मनुना यत्सुरापानसाम्यम् । (अ. ११ श्लो. ५६) ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः । गर्हितान्नाज्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षडित्युक्तं तत्प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । एवमन्येष्वपि वचनेषु विरोधः परिहर्तव्यः । यत्तु वसिष्ठेन गुरोरलीकनिर्बन्धे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा सचैलः स्नातो गुरुप्रसादात् पूतो भवति इति लघुप्रायश्चित्तमुक्तं तदमतिपूर्वे सकृदनुष्ठाने वेदितव्यम् ॥ २३१ ॥

पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।
मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २३२ ॥
आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।
लिङ्गं छित्वा वधस्तत्र सकामायाः स्त्रिया अपि ॥ २३३ ॥

गुरुतल्पातिदेशमाह ।

पितृष्वस्रादयः प्रसिद्धास्ताः गच्छन् गुरुतल्पगस्तस्य लिङ्गं छित्वा राज्ञा वधः कर्तव्यो दण्डार्थः प्रायश्चित्तं च तदेव । चशब्दाद्राज्ञीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम् । यथाह नारदः । माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा । पितृव्यसखिशष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते । शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयत इति । राज्ञी राज्यस्य कर्तुर्भार्या न क्षत्रियस्यैव । तद्गमने प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात् । धात्री मातृव्यतिरिक्ता स्तन्यदानादिना पोषयित्री । साध्वी व्रतचारिणी । वर्णोत्तमा ब्राह्मणी । अत्र च मातृग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । अयं च लिङ्गच्छेदवधात्मको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य । न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितमिति तस्य वधनिषेधात् । वधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात् । अस्य च विषयं गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्यामः । अत्र स्नुषाभगिन्योः पूर्वश्लोकेन गुरुतल्पसमीकृतयोः पुनर्ग्रहणं प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । यदा पुनरेताः स्त्रियः सकामाः सत्य एतानेव पुरुषान्वशीकृत्योपभुञ्जन्ते तदा तासामपि पुरुषवद्वध एव दण्डः प्रायश्चित्तं च । एतानि गुर्वधिक्षेपादितनयागमनपर्यन्तानि महापातकातिदेशविषयाणि सद्यः पतनहेतुत्वात् पातकान्युच्यन्ते । यथाह यमः । मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा । मातुलानी स्वसा श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेन्नर इति । गौतमेन

१ गर्हितान्नाद्ययोरिति पाठान्तरम् ।

उपपातकान्याह। पितॄणां संबन्ध्यर्णस्यानपाकरणं च। सत्यधिकारेऽनाहिताग्नित्वम् ॥ ननु ज्योतिष्टोमादिकामश्रुतयः स्वाङ्गभूताग्निनिष्पत्त्यर्थमाधानं प्रयुञ्जत इति मीमांसकप्रसिद्धिरतश्च यस्याग्निभिः प्रयोजनं तस्य तदुपायभूताधाने प्रवृत्तिर्व्रीह्याद्यर्थिन इव धनार्जने। यस्य पुनरग्निभिः प्रयोजनं नास्ति तस्याप्रवृत्तिरिति कथमनाहिताग्नितादोषः। उच्यते। अस्मादेवाधानस्यावश्यकत्ववचनान्नित्यश्रुतयोऽपि साधिकारित्वाविशेषादाधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकाराणामभिप्रायो लक्ष्यत इत्यदोषः। तथा अपण्यस्य लवणादेर्विक्रयः। सहोदरस्य ज्येष्ठस्य तिष्ठतः कनीयसो भ्रातुर्दाराग्निसंयोगः परिवेदनम्। पणपूर्वाध्यापकादध्ययनग्रहणं पणपूर्वाध्यापनम्। परदारसेवनं गुरुतल्पसमव्यतिरेकेण। पारिवित्त्यं कनीयसि कृतविवाहे ज्येष्ठस्य विवाहराहित्यम्। वार्धुष्यं प्रतिषिद्धवृद्ध्युपजीवनम्। लवणस्योत्पादनम्। स्त्रिया वधः ब्राह्मण्या अप्यात्रेयीव्यतिरेकेण। शूद्रवधः अदीक्षितविट्क्षत्रियवधः। निन्दितार्थोपजीवनमराजस्थापितार्थोपजीवनम्। नास्तिक्यं नास्ति परलोक इत्याद्यभिनिवेशः। व्रतलोपो ब्रह्मचारिणः स्त्रीप्रसङ्गः। सुतानामपत्यानां विक्रयः। धान्यं व्रीह्यादि कुप्यमसारद्रव्यं त्रपुसीसादि। पशवो गवादयः तेषामपहरणम्। गोवधो व्रात्यता स्तेयमित्यनेन स्तेयग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्धान्यकुप्यादिस्तेयग्रहणं नित्यार्थम्। अतो धान्यादिव्यतिरिक्तद्रव्यस्तेये नावश्यमेतदेव प्रायश्चित्तमपितु ततो न्यूनमपि भवत्येव। एतेन बान्धवत्यागग्रहणेनैव सिद्धे पुनः पित्रादित्यागग्रहणं व्याख्यातम्। अयाज्यानां जातिकर्मदुष्टानां शूद्रव्रात्यादीनां याजनम्। पितृमातृसुतानामपतितानां त्यागो गृहान्निष्कासनम्। तडागारामस्य चोद्यानोपवनादेर्विक्रयः। कन्यायाः दूषणमङ्गुल्यादिना योनिविदारणं न तु भोगः। तस्य सखिभार्याकुमारीष्विति गुरुतल्पसमत्वस्योक्तत्वात्। परिविन्दकयाजनं तस्य च कन्याप्रदानम्। कौटिल्यं गुरोरन्यत्र। गुरुविषयस्य तु कौटिल्यस्य सुरापानसमत्वमुक्तम्। पुनर्व्रतलोपग्रहणमशिष्टाप्रतिषिद्धेष्वपि श्रीहरिचरणकमलप्रेक्षणात् प्राक् ताम्बूलादिकं न भक्षयामीत्येवंरूपेषु प्राप्त्यर्थं न तु स्नातकव्रतप्राप्त्यर्थम्। तत्र (अ. ११ श्लो. २०३) स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनमिति मनुना लघुप्रायश्चित्तस्य प्रतिपादितत्वात् ॥ तथात्मार्थं च पाकलक्षणाक्रियारम्भः। (मनु अ. ३ श्लो. ११८) अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् इति तस्यैव प्रतिषिद्धत्वात्। क्रियामात्रविषयत्वे तु प्रतिषेधकल्पनया गौरवं स्यात्। मद्यपायाः स्त्रियाः जायाया अपि निषेवणमुपभोगः। स्वाध्यायत्यागो व्याख्यातः। अग्नीनां श्रौतस्मार्तानां त्यागः। सुतत्यागः संस्काराद्यकरणम्। बान्धवानां पितृव्यमातुलादीनां त्यागः सति विभवे अपरिरक्षणम्। पाकादिदृष्टप्रयोजनसिद्ध्यर्थमार्द्रद्रुमच्छेदो न त्वाहवनीयपरिरक्षणार्थमपि। स्त्रिया हिंसया औषधेन च वर्तनं जीवनं स्त्रीहिंसौषधजीवनम्। तत्र स्त्रीजीवनं नाम भार्यां पण्यभावेन प्रयोज्य तल्लब्धोपजीवनम्। स्त्रीधनेनोपजीवनं वा। हिंसया जीवनं प्राणिवधेन जीवनम्।

घ्रातिर्जैह्म्यं पशुषु पुंसि च मैथुनाचरणमित्येतानि जातिभ्रंशकराणि ॥ ग्राम्यारण्यपशूनां हिंसनं सङ्करीकरणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं कुसीदजीवनं असत्यभाषणं शूद्रसेवनमित्यपात्रीकरणानि ॥ पक्षिणां जलचराणां जलजानां च घातनं कृमिकीटघातनं मद्यानुगतभोजनमिति मलावहानि यदनुक्तं तत्प्रकीर्णकमिति ॥ कात्यायनेन तु महापातकसमानां विष्णुनानुपातकत्वेनोक्तानां पातकसंज्ञा दर्शिता । महापापं चातिपापं तथा पातकमेव च । प्रासङ्गिकं चोपपापमित्येवं पञ्चको गण इति ॥ ननूपपातकादीनां कथं पातकत्वं पतनहेतुत्वाभावात् । यदि तेषामपि पतनहेतुत्वं तर्हि मातृपितृयोनिसंबन्धाङ्ग इत्यादिपरिगणनमनर्थकम् । अथैवमुच्यते । यद्यपि महापातकतत्समेष्विव सद्यः पातित्यहेतुत्वं नास्ति तथाप्यभ्यासापेक्षया पातित्यहेतुत्वमविरुद्धम् । निन्दितकर्माभ्यासी गौतमवचनादिति । मैवम् । अभ्यासस्यानिरूप्यमाणत्वात् द्विःशतकृत्वो वेति । तत्राविशेषेऽङ्गीक्रियमाणे योऽपि द्विर्दिवा स्वपिति यः शतकृत्वो वा गोवधं करोति तयोरविशेषेण पातित्यं स्यात् । अत्रोच्यते । यत्रार्थवादे प्रत्यवायविशेषः श्रूयते प्रायश्चित्तबहुत्वं वा तस्मिन्निन्दितकर्मणि यावत्यभ्यस्यमाने महापातकतुल्यत्वं भवति तावानभ्यासः पातित्यहेतुः । दिवास्वप्नादौ तु सहस्रकृत्वोऽप्यभ्यस्यमाने न महापातकतुल्यत्वं भवतीति न तत्र पातित्यमतो युक्तमुपपातकादेरभ्यासापेक्षया पतनहेतुत्वम् ॥२३४॥ ॥ २३५ ॥ २३६ ॥ २३७ ॥ २३८ ॥ २३९ ॥ २४० ॥ २४१ ॥ २४२ ॥

एवं व्यवहारार्थं संज्ञाभेदसहितं प्रायश्चित्तनिमित्तपरिगणनं कृत्वा नैमित्तिकानि प्रदर्शयितुमाह

शिरःकपाली ध्वजवान् भिक्षाशी कर्म वेदयन् ।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥

शिरसः कपालमस्यास्तीति शिरःकपाली । तथा ध्वजवान् (अ. ११ श्लो. ७२) कृत्वा शवशिरोध्वजमिति मनुस्मरणात् । अन्यच्छिरःकपालं दण्डाग्रसमारोपितं ध्वजशब्दवाच्यं गृह्णीयात् । तच्च कपालं स्वव्यापादितब्राह्मणशिरःसंबन्धि ग्राह्यम् । ब्राह्मणो ब्राह्मणं घातयित्वा तस्यैव शिरःकपालमादाय तीर्थान्यनुसंचरेदिति शातातपस्मरणात् । तदलाभेऽन्यस्य ब्राह्मणस्यैव ग्राह्यम् । एतदुभयं पाणिनैव ग्राह्यम् । खट्वाङ्गकपालपाणिरिति गौतमस्मरणात् । खट्वाङ्गशब्देन दण्डारोपितशिरःकपालात्मको ध्वजो गृह्यते । न पुनः खट्वैकदेशः तेन महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरित्यादिव्यवहारेषु तत्रैव प्रसिद्धेः । एतच्च कपालधारणं चिह्नार्थं न पुनर्भोजनार्थं भिक्षार्थं वा । मृन्मयकपालपाणिर्भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेदिति गौतमस्मरणात् । तथा च वनवासिना तेन भवितव्यम् । (अ. ११ श्लो. ७२) ब्रह्महा[1] द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेदिति मनुस्मरणात् । ग्रामसमीपादौ वा । (मनु अ. ११ श्लो. ७८) कृतवापनो वा निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रत इति तेनैवोक्तत्वात् । कृतवापनो वेति विकल्पाभिधानाज्जटी वेति लक्ष्यते अत एव संवर्तः । ब्रह्महा द्वादशाब्दानि वालवासा जटी ध्वजीति । तथा भिक्षाशनशीलश्च भवेत् । भिक्षा च लोहितकेन मृन्मयखण्डशरावेण ग्राह्या । लोहितकेन खण्डशरावेण ग्रामं भिक्षार्थं प्रविशेदिति आपस्तम्बस्मरणात् ।

१ ब्रह्महा द्वादशसमा इति पाठान्तरम् ।

चैवं वाच्यम् । द्वित्रब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वादेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनीति गौतमवचनादावृत्तमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तम् । विलक्षणकार्ययोस्तन्त्रेण निष्पत्त्यनुपपत्तेरिति । यतो नेदं वचनमावृत्तिविधायकं किंतूपदिष्टानां गुरुलघुकल्पानां व्यावस्थाप्रतिपादनपरम् । न च द्वितीयब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वम् । प्रमाणाभावात् । यच्च मनुदेवलाभ्यामुक्तम् । विधेः प्राथमिकादस्माद्द्वितीये द्विगुणं भवेत् । तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिरिति । तदपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तत इति न्यायेन द्वित्रब्राह्मणवधगोचरनैमित्तिकशास्त्रावृत्त्यनुवादेन चतुर्थे तदभावविधिपरम् । न पुनर्द्वितीयब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानद्वैगुण्यविधिपरमिति । वाक्यभेदप्रसंगात् । तस्मात् द्वित्रब्राह्मणवधेऽपि सकृदेव द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानं युक्तम् । यथाग्नये कामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदित्यादिगृहदाहादिनिमित्तेषु चोदितानां क्षामवत्यादीनां युगपदनेकेष्वपि गृहदाहादिनिमित्तेषु सकृदेवानुष्ठानम् । अत्रोच्यते । न हि वचनविरोधे न्यायः प्रभवति ॥ वचनं च विधेः प्राथमिकादित्यादिकं द्वित्रब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानावृत्तिविधिपरम् । एवं सति न्यायलभ्यतन्त्रानुष्ठानबाधेनावृत्तिविशेषकरं स्यात् । इतरथा शास्त्रतः प्राप्त्यनुवादकत्वेनानर्थकं स्यात् । न च वाक्यभेदः । चतुर्थादिब्रह्मवधपर्युदासेनेतरत्रावृत्तप्रायश्चित्तविधानेनैकार्थत्वात् । किंच । चतुर्थे नास्ति निष्कृतिरिति लिङ्गदर्शनाद्धन्यमानब्राह्मणसंख्योत्कर्षे दोषगौरवं गम्यते । तथा देवलादिवचनाच्च । यत्स्यादनभिसंधाय पापं कर्म सकृत्कृतम् । तस्येयं निष्कृतिर्दृष्टा धर्मविद्भिर्मनीषिभिरिति । न च विलक्षणयोर्गुरुलघुदोषयोः क्षणस्तन्त्रेण निष्पद्यते । अत एवंविधेषु दोषगुरुत्वेन कार्यवैलक्षण्यादपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकस्यावृत्तिर्युक्ता क्षामवत्यादिषु पुनः कार्यस्यावैलक्षण्याद्युक्तस्तन्त्राभाव इत्यलं प्रपञ्चेन । यच्चेदं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिरिति तदपि महापातकविषयम् । पापस्यातिगुरुत्वेन प्रायश्चित्ताभावप्रतिपादनपरत्वात् । अतः शूद्रान्नसेवनादौ बहुशोऽप्यभ्यस्ते तदनुगुणप्रायश्चित्तावृत्तिः कल्पनीया न पुनः प्रायश्चित्ताभावः । अत एवोक्तं मनुना । (अ. ११ श्लो. १४०) पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेदिति । इदं च द्वादशवार्षिकं व्रतं साक्षाद्धन्तुरेव । ब्रह्महेति तस्यैवाभिधानात् । अनुग्राहकप्रयोजकादेस्तु तत्र दोषानुसारेण प्रायश्चित्ततारतम्यं कल्पनीयम् । तत्रानुग्राहको यत्प्रायश्चित्तभाजं पुरुषमनुगृह्णाति स तत्प्रायश्चित्तं पादोनं कुर्यात् । अतस्तस्य द्वादशवार्षिके पादोनं नववार्षिकं प्रयोजकस्त्वर्धोनं षड्वार्षिकं कुर्यात् । अनुमन्ता पुनः सार्धपादं सार्धचतुर्वार्षिकं निमित्ती त्वेकपादं त्रिवार्षिकं । अत एव सुमन्तुः । तिरस्कृतो यदा विप्रो हत्वात्मानं मृतो यदि । निर्गुणः साहसात्क्रोधाद्गृहक्षेत्रादिकारणात् ॥ त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यात्प्रतिलोमां सरस्वतीम् । गच्छेद्वापि विशुद्ध्यर्थं तत्पापस्येति निश्चितम् ॥ अत्यर्थं निर्गुणो विप्रो ह्यत्यर्थं निर्गुणोपरि । क्रोधाद्वै म्रियते यस्तु निर्निमित्तं तु भर्त्सितः ॥ वत्सरत्रितयं कुर्यान्नरः कृच्छ्रं विशुद्धये इति ॥ यदा पुनर्निमित्त्यत्यन्तगुणवदुपरि आत्मघाती चात्यन्तनिर्गुणस्तदैकवर्षमेव ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात् । केशश्मश्रुनखादीनां कृत्वा तु वपनं वने । ब्रह्मचर्यं चरन्विप्रो वर्षेणैकेन शुद्ध्यतीति तेनैवोक्तत्वात् ॥ अनयैव दिशानुग्राहकप्रयोजकादीनां येऽनुग्राहकप्रयोजकादयस्तेषामपि प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अस्यां

पूर्वं चतुर्षु वर्णेषु विप्रं प्रमाप्य द्वादशवत्सरान्षट् त्रीन्सार्धसंवत्सरं च व्रतान्यादिशेत्तेषामन्ते गोसहस्रं तदर्धं तस्यार्धं तदर्धं दद्यात्सर्वेषां वर्णानामानुपूर्व्येणेति द्वादशवार्षिकगोसहस्रयोः समुच्चयपरं तदाचार्यादिहननविषयं द्रष्टव्यम् । तस्यातिगुरुत्वात् । तथा च दक्षः । सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । आचार्ये शतसाहस्रं श्रोत्रिये दत्तमक्षयमिति प्रतिपाद्योक्तत्वात् । समं द्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च यथाक्रमम् । दाने फलविशेषः स्याद्धिंसायां तद्वदेव हीति । तथापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकमुक्त्वोक्तमस्मिन्नेव विषये । गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा एतदेव व्रतमोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेदिति । तत्र यावज्जीवमावर्त्यमाने व्रते यदा त्रैगुण्यं चातुर्गुण्यं वा संभाव्यते तदा तत्र समर्थस्य बहुधनस्यायं दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः । द्वादशवार्षिकव्यतिरिक्तानां तु सुमन्तुपराशराद्युक्तानां प्रायश्चित्तानामुत्तरत्र व्यवस्थां वक्ष्यामः ॥ ननु च द्वादशवार्षिकादिकल्पानां व्यवस्था कुतोऽवसिता । तावत् द्वादशवार्षिकादिविधायकवाक्यैरिति युक्तम् । तत्राप्रतीतेः । न च वाच्यं प्रमाणावगतगुरुलघुकल्पानां बाधो मा प्रसाक्षीदिति व्यवस्था कल्प्यत इति । विकल्पसमुच्चयाङ्गाङ्गिभावानामन्यतमाश्रयणेनापि बाधस्य सुपरिहरत्वात् । अत्रोच्यते । न तावद्द्वादशवार्षिकसेतुदर्शनादीनां विषमकल्पानां विकल्पोऽवकल्प्यते । विकल्पाश्रयणे गुरुकल्पानामनुष्ठानासंभवेनानर्थक्यप्रसङ्गात् । न च षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विषमयोरपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यम् । यतस्तत्रापि सति संभवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम् । यद्वा षोडशिग्रहणानुगृहीतेनातिरात्रेण क्षिप्रं स्वर्गादिसिद्धिरतिशयितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम् । इतरथा ग्रहणविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि समुच्चयः । उपदेशातिदेशप्राप्तिमन्तरेण समुच्चयो न संभवति । उपदेशावगतनैरपेक्ष्यस्य बाधप्रसङ्गात् । न चाङ्गाङ्गिभावः श्रुत्यादिविनियोजकानामभावात् । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानानि विनियोजकानि । अतः परस्परोपमर्दपरिहारार्थं विषयव्यवस्थाकल्पनैवोचिता सा च जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया कल्पनीया । जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद्बुद्धिकृतं तथा । अनुबन्धादि विज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेदिति देवलस्मरणात् ॥ २४३ ॥

पूर्वोक्तस्य ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकसमाप्त्यवधिमाह ।

ब्राह्मणस्य परित्राणाद्गवां द्वादशकस्य च ।
तथाश्वमेधावभृथस्नानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४४ ॥

यश्चौरव्याघ्रादिभिर्व्यापाद्यमानस्य ब्राह्मणस्यैकस्याप्यात्मप्राणानन्तरे कृत्वा प्राणत्राणं करोति गवां द्वादशकस्य वाऽसंपूर्णेऽपि द्वादशवार्षिके शुद्ध्येत् । यद्यपि प्राणत्राणे प्रवृत्तस्तदकृत्वैव म्रियते तथापि शुद्ध्यत्येव । अत एव मनुना । (अ. ११ श्लो. ७९) ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य चेति । ब्राह्मणरक्षणं तदर्थमरणं च पृथगुपात्तम् । तथा परकीयाश्वमेधावभृथाख्यकर्माङ्गभूतस्नानसमये स्वयमपि स्नात्वा ब्रह्महत्यायाः शुद्धिमाप्नुयात् । स्नाने च स्वकल्मषं विख्याप्य कुर्यात् । तथा च मनुः (अ. ११ श्लो. ८२) शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽवभृथे स्नात्वा हयमे-

किंच। दीर्घेण बहुकालव्यापिना तीव्रेण दुःसहेनामयेन कुष्ठादिव्याधिना ग्रस्तं पीडितं ब्राह्मणं गां वा तथाविधां पथि दृष्ट्वा निरातङ्कं नीरुजं कृत्वा ब्रह्महा शुचिर्भवति। ननु ब्राह्मणस्य परित्राणादित्यत्र यदुक्तं ब्राह्मणरक्षणं तदेव किमर्थं पुनरुच्यते ब्राह्मणं गामथापि वेति। सत्यमेवम्। किं त्वात्मप्राणपरित्यागेनाधस्तनवाक्ये ब्राह्मणरक्षणमुक्तमधुना पुनरौषधदानादिनेति विशेषः। अमुनैवाभिप्रायेणोक्तं मनुना। (अ. ११ श्लो. ८०) विप्रस्य तन्निमित्ते या प्राणालाभे विमुच्यत इति ॥ २४५ ॥

आनीय विप्रसर्वस्वं हृतं घातित एव वा।
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुध्यति ॥ २४६ ॥

किंच। विप्रस्यापहृतसर्वस्वतयावसीदतः संबन्धि द्रव्यं भूहिरण्यादिकं चौरैर्हृतं साकल्येनानीय रक्षणं यः करोति स विशुध्यति। आनयने प्रवृत्तः स्वयं चौरैर्घातितो वा यदिवा तन्निमित्तं ब्राह्मणसर्वस्वानयनार्थं तत्र युध्यमानः शस्त्रैः क्षतो मृतकल्पो जीवन्नपि विशुध्यति। शस्त्रैरिति बहुवचनं क्षतबहुत्वप्राप्त्यर्थम्। अत एव मनुना। (अ. ११ श्लो. ८०) त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वेति त्रिवारग्रहणं कृतम्। एतस्य श्लोकद्वयोक्तकल्पपञ्चकस्य ब्राह्मणरक्षणरूपकत्वेनान्तरा वा ब्राह्मणं मोचयित्वेत्यनेन शङ्खवचनेन क्रोडीकृतत्वात् द्वादशवार्षिकसमाप्त्यवधित्वेन विनियोगान्न स्वातन्त्र्यम् ॥ २४६ ॥

लोमभ्यः स्वाहेत्येवं हि लोमप्रभृति वै तनुम्।
मज्जान्तां जुहुयाद्वापि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ २४७ ॥

लोमभ्यः स्वाहेत्येवमादिभिर्मन्त्रैर्लोमप्रभृतिमज्जान्तां तनुं जुहुयात्। इतिशब्दः करणत्वनिर्देशार्थः। एवंशब्दः प्रकारसूचनार्थः। हिशब्दः स्मृत्यन्तरप्रसिद्धत्वगादीनां प्रभृतिशब्देनाक्षिप्यमाणानां द्योतनार्थः। ततो लोमादीनि होमद्रव्याणि चतुर्थ्या निर्दिश्यन्ते स्वाहाकारं पठित्वा तैर्मन्त्रैर्जुहुयात्। ते च हूयमानद्रव्याणां लोमत्वग्लोहितमांसमेदःस्नाय्वस्थिमज्जानामष्टसंख्यत्वादष्टौ मन्त्रा भवन्ति। तथा च वसिष्ठः। ब्रह्महाग्निमुपसमाधाय[1] जुहुयाल्लोमानि मृत्योर्जुहोमि लोमभिर्मृत्युं वाशय इति प्रथमाम्। १। त्वचं मृत्योर्जुहोमि त्वचा मृत्युं वाशय इति द्वितीयाम्। २। लोहितं मृत्योर्जुहोमि लोहितेन मृत्युं वाशय इति तृतीयाम्। ३। मांसानि मृत्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्युं वाशय इति चतुर्थीम्। ४। मेदो मृत्योर्जुहोमि मेदसा मृत्युं वाशय इति पञ्चमीम्। ५। स्नायूनि मृत्योर्जुहोमि स्नायुभिर्मृत्युं वाशय इति षष्ठीम्। ६। अस्थीनि मृत्योर्जुहोमि अस्थिभिर्मृत्युं वाशय इति सप्तमीम्। ७। मज्जां मृत्योर्जुहोमि मज्जाभिर्मृत्युं वाशय इत्यष्टमीम्। ८। अत्र च लोमप्रभृति तनुं जुहुयादिति लोमादीनां होमद्रव्यत्वावगमाल्लोमभ्यः स्वाहेति सत्यपि चतुर्थीनिर्देशे लोमादीनां न देवतात्वं कल्प्यते। द्रव्यप्रकाशनेनैव मन्त्राणां होमसाधनत्वोपपत्तेः। किंतु लोमभिर्मृत्युं वाशय इत्यादिवसिष्ठमन्त्रपर्यालोचनया मृत्योरेव हविःसंबन्धावगमाद्देवतात्वं कल्प्यते। अतश्च लोमादीनि सामर्थ्यात्स्वधितिनावदाय मृत्यूद्देशेनाष्टौ

1 भ्रूणहाग्निमिति पाठान्तरम्।

अरण्ये नियतो जप्त्वा त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ।
शुद्ध्येत वा मिताशीत्वा प्रतिस्रोतःसरस्वतीम् ॥ २४९ ॥

किंच। अरण्ये निर्जनप्रदेशे नियतो नियताहारो (अ. ११ श्लो. ७७) जपेद्वा नियताहार इति मनुस्मरणात् । त्रिवारं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं जपित्वा शुद्ध्यति । संहिताग्रहणं पदक्रमव्युदासार्थम् । यद्वा मिताशनो भूत्वा प्लाक्षात्प्रस्रवणादारभ्य पश्चिमोदधेः प्रतिस्रोतः स्रोतःस्रोतः प्रति सरस्वतीं भित्वा गत्वा विशुद्ध्यति । अशनं च हविष्येण कार्यम् । (अ. ११ श्लो. ७७) ॥ हविष्यभुग्वानुचरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीमिति मनुस्मरणात् । अयं च वेदजपो विदुषो हन्तुर्निर्धनस्यात्यन्तगुणवतो निर्गुणव्यापादने प्रमादकृते द्रष्टव्यः । सरस्वतीगमनं तु तादृश एव विषये विद्याविरहिणो द्रष्टव्यम् । निमित्तिनश्च । तिरस्कृतो यदा विप्रो निर्गुणो म्रियते यदि इति सुमन्तुवचनस्य दर्शितत्वात् । यत्पुनर्मनुवचनम् । (अ. ११ श्लो. ७९) जपित्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेदिति तदप्यरण्ये नियतो जप्त्वेत्येतस्यैव विषयेऽशक्तस्यैव द्रष्टव्यम् ॥ २४९ ॥

पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ।
आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी तथा ॥ २५० ॥

किंच । न विद्यया केवलयेत्याद्युक्तलक्षणे पात्रे गोभूहिरण्यादिकं जीवनपर्याप्तं समर्थं धनं दत्वा शुद्धिमवाप्नुयात् । तद्धनं यः प्रतिगृह्णाति तस्य वैश्वानरदैवत्येष्टिः शुद्ध्यर्थं कर्तव्या। एतच्चाहिताग्निविषयम् । अनाहिताग्नेस्तु तद्दैवत्यश्चरुर्भवति । य एवाहिताग्नेर्धर्मः स एवौपासनिकस्येति गृह्यकारवचनात् । वाशब्दात्सर्वस्वं सपरिच्छदं वा गृहं दद्यात् । यथाह मनुः (अ. ११ श्लो. ७६) सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदमिति । इदं च पात्रे धनदानं निर्गुणस्य धनवतो हन्तुर्निर्गुणव्यापादने द्रष्टव्यम् । तत्रैव विषये अविद्यमानान्वयस्य सर्वस्वदानं सान्वयस्य तु सोपस्करगृहदानमिति व्यवस्था । यदपि पराशरेणोक्तम् । चातुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवद्ब्रह्मघातके । समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् । सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाहरेत् । वर्जयित्वा विकर्मस्थाञ्छत्रोपानद्विवर्जितः । अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः । गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः ॥ गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च । तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च ॥ एतेषु ख्यापयेदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम् । ब्रह्महा विप्रमुच्यते स्नात्वा तस्मिन्महोदधौ ॥ ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् । दत्वा वस्त्रं पवित्राणि पूतात्मा प्रविशेद्गृहम् ॥ गवां वापि शतं दद्याच्चातुर्विद्याय दक्षिणाम् । एवं शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदित इति । तदपि पात्रे धनं वा पर्याप्तमित्यनेन समानविषयम् । यच्च सुमन्तुवचनम् । ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्रं चरेदधःशायी त्रिषवणी कर्मावेदको भैक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनसंगमाश्रमगोष्ठपर्वतप्रस्रवणतपोवनविहारी स्यात्स्थानवीरासनी संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोधान्यतिलभूमिसर्पींषि ब्राह्मणेभ्यो ददन्पूतो भवति।

दीक्षणीयाद्युदवसानीयापर्यन्ते सोमयागप्रयोगे वर्तमानौ क्षत्रियवैश्यौ यो व्यापादयति असौ ब्रह्महणि पुरुषे यद्व्रतमुपदिष्टं द्वादशवार्षिकादि तच्चरेत्। यद्यपि यागशब्दः सामान्यवचनस्तथाप्यत्र सोमयागमभिधत्ते ॥ सवनगतौ च राजन्यवैश्याविति वसिष्ठेन सवनत्रयसंपाद्यस्य सोमयागस्यैव निर्दिष्टत्वात्। अत्र च गुरुलघुभूतानां द्वादशवार्षिकादिब्रह्महत्याव्रतानां जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया प्राग्वद्व्यवस्था वेदितव्या। एवं गर्भवधादिष्वपि। मरणान्तिकं तु नातिदिश्यते। व्रतग्रहणात्। अतः कामतो यागस्थक्षत्रियादिवधे व्रतस्यैव द्वैगुण्यम्। एतच्च व्रतं संपूर्णमेव कर्तव्यम्। पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वेति प्रक्रम्यापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकाभिधानात्। गर्भे च विज्ञासु संभूतं हत्वा यथावर्णं यद्वर्णपुरुषवधे यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तद्वर्णगर्भवधे तच्चरेत्। एतच्चानुपजातस्त्रीपुन्नपुंसकव्यञ्जनगर्भविषयम्। (अ. ११ श्लो. ८७) हत्वा गर्भमविज्ञातमिति मानवे विशेषदर्शनात्। अत्र च यद्यपि ब्राह्मणगर्भस्य ब्राह्मणत्वादेव तद्वधनिमित्तव्रतप्राप्तिस्तथापि स्त्रीत्वस्यापि संभवात्स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध इत्युपपातकत्वेन तत्प्रायश्चित्तप्राप्तिरपि स्यादतः स्त्रीपुन्नपुंसकत्वेनाविज्ञातेऽपि ब्राह्मणगर्भत्वमात्रप्रयुक्तं ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादित्यर्थवदतिदेशवचनम्। उपजाते स्त्रीपुंसादिविशेषव्यञ्जने यथायथमेव प्रायश्चित्तम्। यश्चात्रेय्या निषूदको व्यापादकः सोपि तथा व्रतं चरेत्। हन्यमानात्रेयीवर्णानुरूपं व्रतं चरेदित्यर्थः। आत्रेयीशब्देन ऋतुमत्युच्यते। रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुरत्र ह्येतदपत्यं भवतीति वसिष्ठस्मरणात्। अत्रिगोत्रजा च। अत्रिगोत्रां वा नारीमिति विष्णुस्मरणात्। एतदुक्तं भवति। ब्राह्मणगर्भवधे ब्राह्मण्यात्रेयीवधे च ब्रह्महत्याव्रतम्। अत्र क्षत्रियगर्भवधे क्षत्रियात्रेयीवधे च क्षत्रहत्याव्रतमेवमन्यत्रापीति। चशब्दात्साक्ष्ये अनृतवचनादिष्वपि। तथाह मनुः। (अ. ११ श्लो. ८८) उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरभ्य गुरुं तथा। अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधमिति। यत्र व्यवहारे असत्यवचनेन प्राणिनां वधप्राप्तिस्तद्विषयमेतत्। प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात्। प्रतिरम्भः क्रोधावेशः। निक्षेपश्च ब्राह्मणसंबन्धी स्त्री चाहिताग्निभार्या पतिव्रतात्वादिगुणयुक्तोच्यते सवनस्था च। यथाहाङ्गिराः। आहिताग्नेर्द्विजाग्र्यस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम्। ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव चेति। सवनस्थां स्त्रियं हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेदिति पराशरस्मरणात् ॥ एवं च सवनस्थाग्निहोत्रिण्यात्रेयीवधे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशात्तद्व्यतिरिक्तस्त्रीवधस्य स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध इत्युपपातकमध्यपाठादुपपातकत्वमेव ॥ ननु ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यत्र निषेधेऽनुपादेयगतत्वेन लिङ्गवचनयोरविवक्षितत्वाद्ब्राह्मणजातेश्च स्त्रीपुंसयोरविशेषात्तदतिक्रमनिमित्तप्रायश्चित्तविधेर्ब्रह्महा द्वादशाब्दानीत्यस्योभयत्र प्राप्तत्वात्। किमर्थं तथात्रेयीनिषूदक इत्यतिदेशवचनम्। उच्यते। सत्यपि ब्राह्मणत्वे अनात्रेय्या वधस्य महापातकप्रायश्चित्तस्यैवातिदेशो न पातित्यस्य अतः पतितत्यागादि कार्यमत्र न भवति ॥ २५१ ॥

चरेद्व्रतमहत्वापि घातार्थं चेत्समागतः।
द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् ॥ २५२ ॥

धारणात्तत्रैव मुख्यत्वं युक्तम् । न चानेकत्र शक्तिकल्पना दोषः । मदशक्तेरुपाधित्वाश्रयणेन तस्य सुपरिहरत्वात् । न च तालादिरसेष्वप्युपाधेर्विद्यमानत्वादतिप्रसङ्गः । पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढत्वाश्रयणात् । अतश्च । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैरिति तिसृणां सुराणां समानदोषत्वप्रतिपादनपरम् । न पुनरनयोर्गौडीमाध्व्योः पैष्टीसुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । द्विजोत्तमग्रहणं द्विजात्युपलक्षणम् । एतदप्ययुक्तम् । द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतमिति पुलस्त्यवचने गौडीमाध्वीभ्यामपि सुरामद्यस्यातिरेकदर्शनात् । तथा । (मनुः अ. ११ श्लो. ९३) सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यत इति । अन्नविकारस्यैव सुरात्वनिर्देशादन्नशब्दस्य चान्नेन व्यञ्जनमित्यादिषु व्रीह्यादिविकार एव प्रयोगदर्शनात् । गुडमधुनोश्च रसरूपत्वात्तथा सौत्रामणीग्रहेषु चान्नविकारएव सुराशब्दस्य श्रुतत्वात् पैष्ट्येव सुरा मुख्योच्यते । इतरयोस्तु सुराशब्दो गौणः । यत्तूक्तम् । गौडी माध्वीति मनुवचनात्तिसृष्वप्यौत्पत्तिकत्वनिर्धारणेति तदप्ययुक्तम् । यतो नेदं शब्दानुशासनवच्छब्दार्थसंबन्धानादित्वप्रतिपादनपरं किंतु कार्यप्रतिपादनपरं अतो गुरुप्रायश्चित्तनिमित्ततया गौडीमाध्व्योर्गौणः सुराशब्दप्रयोगः । एवं च नानेकशक्तिकल्पनादोषो नाप्युपाध्याश्रयणं कृतम् । न चात्र द्विजोत्तमग्रहणस्योपलक्षणत्वम् । अतश्च (मनुः अ. ११ श्लो. ९३) सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेदिति पैष्ट्या एव वर्णत्रयसंबन्धित्वेन निषेधः । गौड्यादीनां तु मद्यानां ब्राह्मणसंबन्धित्वेनैव निषेधो न क्षत्रियवैश्ययोः । (अ. ११ श्लो. ९६) यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविरिति मानवे ब्राह्मणेनेति विशेषोपादानात् । बृहद्विष्णुनापि ब्राह्मणस्यैव मद्यप्रतिषेधो दर्शितः । माधूकमैक्षवं सैरं तालं खार्जूरपानसम् । मधूत्थं चैव मध्वीकं मैरेयं नालिकेरजम् । अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य त्विति ॥ बृहद्याज्ञवल्क्येनापि क्षत्रियवैश्ययोर्दोषाभावो दर्शितः । कामादपि हि राजन्यो वैश्यो वापि कथंचन । मद्यमेव सुरां पीत्वा न दोषं प्रतिपद्यते ॥ व्यासेनापि तयोर्माध्वीपानमनुज्ञातम् । उभौ मध्वासवक्षीबौ उभौ चन्दनचर्चितौ । एकपर्यङ्करथिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनाविति । एवं ब्राह्मणसंबन्धित्वेन मद्यमात्रनिषेधे सत्यपि (मनुः अ. ११ श्लो. ९४) गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैरिति गौडीमाध्व्योः पृथङ्निषेधवचनं दोषगुरुत्वेन सुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । अयं च सुरानिषेधोऽनुपनीतस्यानूढायाश्च कन्याया भवत्येव । (मनुः अ. ११ श्लो. ९३) तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेदिति जातिमात्रावच्छेदेन निषेधात् । अतश्च (अ. ११ श्लो. ९०) सुरां पीत्वा द्विजो मोहादिति प्रायश्चित्तविधिवाक्ये मनुना यत् द्विजग्रहणं कृतं तद्वर्णत्रयोपलक्षणार्थम् । निमित्तभूतनिषेधसापेक्षत्वान्नैमित्तिकविधेर्निषेधे च वर्णमात्रस्यावच्छेदकत्वात् । यथा यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेतीति निमित्तवाक्ये हविर्मात्राभ्युदयस्य निमित्तत्वावगतौ तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये श्रूयमाणमपि त्रेधातन्दुलान्विभजेदिति तन्दुलग्रहणं तन्दुलादिस्वरूपहविर्मात्रोपलक्ष-

प्रत्यहं कायशोधनमिति व्यासवचनात् । न च सुरासंसृष्टे यदुपलभ्यमानतद्गन्धरसोदकपानविषयमिदमिति सुन्दरम् । संसर्गेऽपि सुरात्वस्यानपायात् । यथाज्यत्वस्य पृषदाज्ये अत एवाज्यपा इति निगमाः कार्याः न पृषदाज्यपा इत्येवमुक्तं न्यायविद्भिः । यत्पुनरापस्तम्बवचनम् । स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारान्गत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा चतुर्थे काले मितभोजनो योऽभ्युपेयात्सवनानुकल्पं स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिभिर्वर्षैः पापं व्यपनुदतीति । यत्त्वङ्गिरोवचनम् । महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुध्यन्ति ते त्रिभिरिति तदुभयमपि पिण्याकं वा कणान्वेत्यनेनैकविषयम् । यदपि यमेन प्रायश्चित्तद्वयमुक्तम् । बृहस्पतिसवनेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः । समत्वं ब्राह्मणैर्गच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ भूमिप्रदानं यः कुर्यात्सुरां पीत्वा द्विजोत्तमः । पुनर्न च पिबेत्तां तु संस्कृतः स विशुध्यतीति तदुभयं पूर्वेण सहैकविषयम् ॥ यद्वा अतिरिक्तदक्षिणाकल्पाश्रयणाद्द्वादशवार्षिकेण सह विकल्पते । अत्रापि बालवृद्धादीनां सार्धैकवर्षीयमनुपनीतानां तु नवमासिकमित्येवं कल्पना कार्या । यत्तु मनुवचनम् । (अ. ११ श्लो. ९२) कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजीति तत्तालुमात्रसंयोगे सुराया अबुद्धिपूर्वे द्रष्टव्यम् ॥ ननु च द्रवद्रव्यस्याभ्यवहरणं पानमित्युच्यते । अभ्यवहरणं च कण्ठादधोनयनं न ताल्वादिसंयोगमात्रमतः कथं तत्र पाननिमित्तं प्रायश्चित्तम् । उच्यते । येन ताल्वादिसंयोगेन विना पानक्रिया न निवर्तते सोऽपि पानक्रियाप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धः अतो यद्यपि मुख्यपानाभावान्न महापातकत्वं तथापि तत्प्रतिषेधेन तदङ्गभूताव्यभिचारिताल्वादिसंयोगस्यापि प्रतिषिद्धत्वेन दोषस्य विद्यमानत्वाद्भवत्येव प्रायश्चित्तम् । चरेद्व्रतमहत्वापि घातार्थं चेत्समागत इति । यथा हननप्रतिषेधेन तदङ्गभूताध्यवसायादेरपि प्रतिषिद्धत्वात्प्रायश्चित्तविधानम् । यत्तु बौधायनीयम् । त्रैमासिकममत्या सुरापाने कृच्छ्राब्दपादं चरित्वा पुनरुपनयनमिति । यच्च याम्यम् । सुरां पीत्वा द्विजं हत्वा रुक्मं हृत्वा द्विजन्मनः । संयोगं पतितैर्गत्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेदिति । यदपि बार्हस्पत्यम् । गौडीमाध्व्यौ सुरां पैष्टीं पीत्वा विप्रः समाचरेत् । तप्तकृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुक्रमादिति । तत्रितयमप्यनन्यौषधसाध्यव्याध्युपशमार्थे पाने वेदितव्यम् । प्रायश्चित्तस्याल्पत्वात् । यदा तु सुरासंसृष्टं शुष्करसमेवान्नं भक्षयति तदा पुनरुपनयनम् । यथाह मनुः । (अ. ११ श्लो. १५०) अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातय इति ॥ यदा च शुष्कसुराभाण्डस्थोदकं पिबति तदा शातातपोक्तं कुर्यात् । सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रोपवासश्चेति ॥ यत्तु बौधायनीयम् । सुरापानस्य यो भाण्डेष्वपः पर्युषिताः पिबेत् । शङ्खपुष्पीविपक्वं तु क्षीरं सर्पिः पिबेत्त्र्यहमिति तत्पर्युषितत्वादधिकम् । अकामतोऽभ्यासे पुनर्मनुनोक्तम् । (अ. ११ श्लो. १४७) अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा । पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पय इति ॥ यत्तु विष्णूक्तम् । अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयः पिबेदिति तन्मतिपूर्वकपाने । ज्ञानतोऽभ्यासे तु बृहद्यम आह । सुराभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । स द्वादशाहं क्षीरेण पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलामिति ॥ सुरापस्य मुखगन्धघ्राणे तु मानवम् । (अ. ११ श्लो. १४९) ब्राह्मणस्तु सुरापस्य

सप्तरात्रं गोमूत्रं यावकं पिबेदिति ॥ अत्यन्ताभ्यासे तु हारीतोक्तम् । मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । द्वादशाहं तु पयसा पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलामिति ॥ एषु च वाक्येषु द्विजग्रहणं ब्राह्मणाभिप्रायम् । क्षत्रियवैश्ययोरप्रतिषेधादिति दर्शितं प्राक् ॥ इदं च गौडीमाध्वीभाण्डस्थजलपानविषयं गुरुत्वात्प्रायश्चित्तस्य तालादिमद्यभाण्डोदकपाने तु कल्प्यम् ॥२५५॥

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।
इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥

द्विजातिभार्याप्रत्याह ।

या द्विजातिभार्या सुरां पिबति सा कृतपुण्यापि सती पतिलोकं न याति किंत्विहैव लोके श्वगृध्रसूकरलक्षितां तिर्यग्योनिं क्रमेण प्राप्नोति ॥ ब्राह्मणीग्रहणं चात्र तिस्रो वर्णानुपूर्व्येणेति न्यायेन यस्य द्विजातेर्यावत्यो भार्यास्तासामुपलक्षणम् । अत एव मनुः । पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् । पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते इति । धर्मार्थकामेषु सहाधिकाराद्दम्पत्योरेकशरीरत्वमेवातो यस्य द्विजातेर्भार्या सुरां पिबति तस्य भार्यारूपमर्धं शरीरं पतति पतितस्य च भार्यारूपस्यार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते । तस्माद्द्विजातिभार्यया ब्राह्मण्याद्यया सुरा न पेया । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेदिति निषेधविधौ लिङ्गस्याविवक्षितत्वेन वर्णत्रयभार्याणामपि प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्वचनं द्विजातिभार्यायाः शूद्राया अपि सुराप्रतिषेधप्राप्त्यर्थम् । अतो द्विजातिभार्याभिः सुरापाने प्रायश्चित्तस्यार्धं कार्यम् । शूद्रभार्यास्तु शूद्रायाः शूद्रवदेव न प्रतिषेधः । सुरापानसमेषु तु निषिद्धभक्षणादिषु सुरापानप्रायश्चित्तार्धमित्युक्तं प्राक् ॥ २५६ ॥ ॥ इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

क्रमप्राप्तं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह

ब्राह्मणः स्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।
स्वकर्म ख्यापयंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥

ब्राह्मणस्वामिकं सुवर्णं योऽपहरत्यसौ सुवर्णस्तेयं मया कृतमित्येवं स्वकर्म ख्यापयन् राज्ञे मुसलं समर्पयेत् । मुसलसमर्पणस्य दृष्टार्थत्वात्तेन मुसलेन राजा तं हन्यात् तेन राजा हतो मुक्तो वा शुद्धो भवति । अपहरणशब्देन च समक्षं परोक्षं वा बलाच्चौर्येण वा क्रयादिस्वत्वहेतुं विना ग्रहणमुच्यते । मुसलं समर्पयेदिति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि तस्य हननार्थत्वात् तत्समर्थस्यायोमयादेर्ग्रहणम् । अत एव मनुनोक्तम् । (अ. ८ श्लो. ३१५) स्कन्धेनादाय मुसलं लकुटं वापि खादिरम् । असिं[1] चोभयतस्तीक्ष्णमायसं दण्डमेव वेति ॥ शङ्खेनाप्यत्र विशेष उक्तः । सुवर्णस्तेनः प्रकीर्णकेश आर्द्रवासा आयसं मुसलमादाय राजानमुपतिष्ठेदिदं मया पापं कृतमनेन मुसलेन मां घातयस्वेति स राज्ञा शिष्टः सन्पूतो भव-

[1] शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामिति पाठान्तरम् ॥

यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । तत्तु कामकृते पापे विज्ञेयं नात्र संशय इति मध्यमाङ्गिरःस्मरणात् । अत्र च सुवर्णशब्दः परिमाणविशिष्टहेमद्रव्यवचनो न जातिमात्रवचनः । जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम् । तेऽष्टौ लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते ॥ गौरस्तु ते त्रयः षड्भिर्यवो मध्यस्तु ते त्रयः । कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडशेति षोडशमाषपरिमिते हेमनि सुवर्णशब्दस्य परिभाषितत्वात् अतो ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकमित्यादिप्रयोगेषु कृतपरिमाणस्यैव सुवर्णस्य ग्रहणं युक्तम् । परिमाणकरणस्य दृष्टार्थत्वात् न ह्यदृष्टार्थपरिमाणस्मरणम् । नापि लोकव्यवहारार्थम् अतत्परत्वात्स्मृतिकारप्रवृत्तेः । अत एवोक्तं न्यायविद्भिः । कार्यकाले संज्ञापरिभाषयोरुपस्थानमिति । तथा नामापि गुणफलोपबन्धेनार्थवदित्युक्तम् । पञ्चदशान्याज्यानीत्यत्र तु न च दण्डमात्रोपयोगिपरिमाणस्मरणमिति युक्तम् । तावन्मात्रार्थत्वे प्रमाणाभावात् अतोऽविशेषात्सर्वशेषत्वमेव युक्तम् । किंच । दण्डस्य दमनार्थत्वाद्दमनस्य च परिमाणविशेषमन्तरेणापि सिद्धेर्नातीव परिमाणस्मरणमुपयुज्यते । शब्दैकसमधिगम्ये तु महापातकित्वादावेकान्ततः स्मरणमुपयुज्यते अतः षोडशमाषात्मकसुवर्णपरिमितहेमहरण एव महापातकित्वं तन्निमित्तं मरणान्तिकादिप्राश्चित्तविधानं च । द्वित्रादिमाषात्मकहेमहरणं तु क्षत्रियादिहेमहरणवदुपपातकमेवेति युक्तम् । किंच । सुवर्णान्न्यूनपरिमाणहेमहरणे प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्तत्परिमाणस्य हेम्नो हरणे मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तमिति युक्तम् । तथा चोक्तं षट्त्रिंशन्मते । वालाग्रमात्रेऽपहृते प्राणायामं समाचरेत् । लिक्षामात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रयं बुधः ॥ राजसर्षपमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम् । गायत्र्यष्टसहस्रं च जपेत्पापविशुद्धये ॥ गौरसर्षपमात्रे च सावित्रीं वै दिनं जपेत् । यवमात्रे सुवर्णस्य प्रायश्चित्तं दिनद्वयम् ॥ सुवर्णकृष्णलं ह्येकमपहृत्य द्विजोत्तमः । कुर्यात्सान्तपनं कृच्छ्रं तत्पापस्यापनुत्तये ॥ अपहृत्य सुवर्णस्य माषमात्रं द्विजोत्तमः । गोमूत्रयावकाहारस्त्रिभिर्मासैर्विशुद्ध्यति । सुवर्णस्यापहरणे वत्सरं यावकी भवेत् । ऊर्ध्वं प्राणान्तिकं ज्ञेयमथवा ब्रह्महव्रतम् ॥ इदं च वत्सरं यावकाशनं किंचिन्न्यूनसुर्णापहारविषयम् सुवर्णापहारो मन्वादिमहास्मृतिषु द्वादशवार्षिकविधानात् । बलाद्ये कामकारेण गृह्णन्ति स्वं नराधमाः । तेषां तु बलहर्तॄणां प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥ सुवर्णपरिमाणादर्वागपीत्यभिप्रेतम् । इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहृतधनं तत्स्वामिने दत्त्वैव कार्यम् । स्तेये ब्रह्मस्वभूतस्य सुवर्णादेः कृते पुनः । स्वामिनेऽपहृतं देयं हर्त्रा त्वेकादशाधिकमिति स्मरणात् ॥ तथा (अ. ११ श्लो. १६४) चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये इति मनुस्मरणाच्च । दण्डप्रकरणेऽप्युक्तम् । शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनमिति ॥ यदा त्वशक्त्या राजा हन्तुमसमर्थस्तदा वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । स्तेनः प्रकीर्णकेशो राजानमभियाचेत् ततस्तस्मै राजौदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनात्मानं प्रमापयेत् मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायत इति । औदुम्बरं ताम्रमयम् । यदपि द्वितीयं प्रायश्चित्तं तेनोक्तम् । निष्कालको गोघृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते इति । तदपि गुरुश्रोत्रिययागस्थादिविप्रद्रव्यापहारविषयम् । क्षत्रियाद्यपहर्तृविषयं वा । तत्र निष्कालक इति निर्गतकेशश्मश्रुलोमाभिधीयते । तथाश्वमेधाद्यनुष्ठानेन वा तथा प्रचेतसा मरणा-

नापैति । आज्यत्वमिव पृषदाज्ये । अतस्तत्र द्वादशवार्षिकमेवेति युक्तम् । अथ सुवर्णसदृशं द्रव्यान्तरमेवेति लघुप्रायश्चित्तमुच्यते । न तर्हि तत्र त्रैवार्षिकादिलघुप्रायश्चित्तादिविषयता असुवर्णत्वादेव । किंतूपपातकप्रायश्चित्तमेव । यदप्यपरमापस्तम्बोक्तम् । स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा कृच्छ्रं सांवत्सरं चरेदिति । तत्सुवर्णपरिमाणादर्वाङ्माषाच्चाधिकपरिमाणद्रव्यविषयम् । यत्तूक्तं सुमन्तुना । सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्याष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात् प्रत्यहं त्रिरात्रमुपवासं तप्तकृच्छ्रेण च पूतो भवतीति । तत्पूर्वोक्तमाषपरिमाणसुवर्णापहारप्रायश्चित्तेन सह विकल्प्यते । यदप्यपरं तेनैवोक्तम् । सुवर्णस्तेयी द्वादशरात्रं वायुभक्षः पूतो भवतीति तन्मनसापहारे प्रवृत्तस्य स्वतएवोपरतापजिहीर्षस्य वेदितव्यम् । अत्रापि बालवृद्धादिष्वर्धमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । यानि चाश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथेत्यादिना सुवर्णस्तेयसमत्वेन प्रतिपादितानि तेष्वर्धमेव कार्यम् । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतवचनम् । रूप्यं हृत्वा द्विजो मोहाच्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । गद्याणदशकादूर्ध्वमाशताद्द्विगुणं चरेत् ॥ आसहस्रात्तु त्रिगुणमूर्ध्वं हेमविधिः स्मृतः । सर्वेषां धातुलोहानां पराकं तु समाचरेत् ॥ धान्यानां हरणे कृच्छ्रं तिलानामैन्दवं स्मृतम् ॥ रत्नानां हरणे विप्रश्चरेच्चान्द्रायणव्रतमिति तदपि गद्याणसहस्राधिकरजतहरणे सुवर्णस्तेयसमप्रायश्चित्तप्रतिपादनार्थं न पुनस्तन्निवृत्त्यर्थम् । यदपि रत्नापहारे चान्द्रायणमुक्तं तदपि गद्याणसहस्राद्धीनमूल्यरत्नापहारे द्रष्टव्यम् । ऊर्ध्वं पुनः सुवर्णस्तेयसमम् ॥ १९८ ॥ ॥ इति सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

उद्देशक्रमप्राप्तं गुरुतल्पगमनप्रायश्चित्तमाह

तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या योषिता स्वपेत् ।
गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्यां चोत्सृजेत्तनुम् ॥ २५९ ॥

समा वा गुरुतल्पग इति वक्ष्यमाणश्लोकगतं गुरुतल्पगपदमत्र संबध्यते । तप्तेऽयःशयने यथा मरणक्षमं भवति तथा तप्ते अग्निवर्णे कृते कार्ष्णायसे शयने अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या तप्तया सह गुरुतल्पगः स्वप्यात् । एवं सुप्त्वा तनुं देहं उत्सृजेन्म्रियेतेति यावत् । शयनं च गुर्वङ्गनागमनं मया कृतमित्येवं स्वकर्म विख्याप्य कुर्यात् (अ. ११ श्लो. १०३) गुरुतल्प्यभिभाष्यैन इति मनुस्मरणात् । तथा स्त्रियमालिङ्ग्य कार्यम् । गुरुतल्पगो मृन्मयीमायसीं वा स्त्रियः प्रतिकृतिमग्निवर्णां कृत्वा कार्ष्णायसशयने अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या कृत्वा तमालिङ्ग्य पूतो भवतीति वृद्धहारीतस्मरणात् । तथा मुण्डितलोमकेशेन घृताभ्यक्तेन कर्तव्यम् । निष्कालको घृताभ्यक्तस्तप्तां तां सूर्मीं मृन्मयीं वा परिष्वज्य मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायत इति वसिष्ठस्मरणात् । न च (अ. ११ श्लो. १०३) गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये । सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्य मृत्युना स विशुध्यतीति मनुवाक्यानुरोधेन तप्तलोहशयनं तप्तलोहयोषिदालिङ्गनं च निरपेक्षप्रायश्चित्तद्वयमित्याशङ्कनीयम् । आयस्या योषिता स्वपेत् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायां तप्तेऽयःशयन इति परस्परसापेक्षतयैकत्वावगमादेककल्पत्वमेव युक्तम् ॥ अथवा वृषणौ सलिङ्गौ स्वयमुत्कृत्य छित्वाञ्जलिना गृहीत्वा नैर्ऋत्यां दक्षिणप्रतीच्यां

न्मतेऽपि । पितृभार्या तु विज्ञाय सवर्णा योऽधिगच्छतीति । अतोऽपि निषेकादिकर्ता पितैव मुख्यो गुरुः । तच्च गुरुत्वं वर्णचतुष्टयेऽप्यविशिष्टम् । निषेकादिकर्तृत्वाविशेषात् । अतः स विप्रो गुरुरुच्यते इति विप्रग्रहणमुपलक्षणम् । अतः पितृपत्नीगमनमेव महापातकम् । गमनं च चरमधातुविसर्गपर्यन्तं कथ्यते अतस्ततोऽर्वाङ्निवृत्तौ न महापातकित्वम् । तत्र चेदं तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्येत्याद्युक्तं मरणान्तिकं प्रायश्चित्तद्वयम् । तच्च जनन्यामकामकृते । तत्सपत्न्यां तु सवर्णायामुत्तमवर्णायां अकामकृते द्रष्टव्यम् । पितृभार्या तु विज्ञाय सवर्णा योऽधिगच्छति । जननीं चाप्यविज्ञाय नामृतः शुद्धिमाप्नुयादिति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् ॥ जनन्यां तु कामकृते वासिष्ठम् । निष्कालको घृताभ्यक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेदिति द्रष्टव्यम् । अकामतोऽभ्यासेऽप्येतदेव ॥ ननु च मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा । आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पग इति । अतिदेशाभिधानान्मातृसपत्नीगमने त्वौपदेशिकं प्रायश्चित्तमयुक्तम् उच्यते । पितृभार्या सवर्णामित्यस्मादेव सवर्णग्रहणाद्धीनवर्णसपत्नीविषयमिदमातिदेशिकमिति न विरोधः ॥ इदं च मुख्यस्यैव पुत्रस्य इतरेषां पुनः पुत्रकार्यकरत्वमेव न पुत्रत्वम् । यथाह मनुः । (अ. ९ श्लो. १८०) क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोचितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिण इति । तत्रोभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तेऽयःशयन इति प्रथमं प्रायश्चित्तम् । स्वेन प्रोत्साहने तु गृहीत्वोत्कृत्य वृषणाविति द्वितियम् । अनुबन्धातिशयेन प्रायश्चित्तगुरुत्वस्योक्तत्वात् । तया प्रोत्साहितस्य तु मानवम् । तप्तलोहशयनज्वलत्सूर्म्यालिङ्गनयोरन्यतरं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्खेन द्वादशवार्षिकमुक्तम् । अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः । एककालं समश्नीत वर्षे तु द्वादशे गते ॥ रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः । व्रतेनैतेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे इति । तत्समवर्णोत्तमवर्णपितृदारगमने अकामकृते वा द्रष्टव्यम् । तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्तौ षड्वार्षिकमकामतस्तु त्रैवार्षिकम् । जनन्यां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्तौ द्वादशवार्षिकमकामतस्तु षड्वार्षिकमिति कल्प्यम् । यस्तु संवर्तेन पितृदारान्समारुह्य मातृवर्ज्यं नराधम इत्यादिना समारोहणमात्रे तप्तकृच्छ्रः उक्तः स हीनवर्णगुरुदारेषु रेतःसेकादर्वाग्द्रष्टव्यः ॥२५९॥

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समा वा गुरुतल्पगः ।
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

अथवा प्राजापत्यं कृच्छ्रं वक्ष्यमाणलक्षणं समाः वर्षत्रयं चरेत् । एतच्च ब्राह्मणीपुत्रस्य शूद्रजातीयगुरुभार्यागमने मतिपूर्वे द्रष्टव्यम् । यदा तु गुरुपत्नीं सवर्णा व्यभिचारिणीमबुद्धिपूर्वं गच्छति तदा वेदजपसहितं चान्द्रायणत्रयं कुर्यात् । तत्रैव कामतः प्रवृत्तावौशनसम् । गुरुतल्पाभिगामी संवत्सरं ब्रह्महव्रतं षण्मासान्वा तप्तकृच्छ्रं चरेदिति । क्षत्रियागमने तु मतिपूर्वे याज्ञवल्कीयम् । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथेति गुरुतल्पव्रतातिदेशान्नववार्षिकम् । इदं चातिदेशिकं सवर्णगुरुभार्यागमनविषयं न भवति । तत्र कामतो मरणान्तिकस्याकामतो द्वादशवार्षिकस्य विहि-

प्रायश्चित्तान्तरमाह.

रिच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः । स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः तया प्रोत्साहितस्य सान्तपनम् ॥ अत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य प्रजापतिराह । पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च । वैश्यां भार्यां गुरोर्गत्वा सकृदज्ञानतो द्विज इति । तया प्रोत्साहितस्य तु पञ्चरात्रम् । उभयेच्छातः प्रवृत्तौ सप्तरात्रम् । स्वेन प्रोत्साहितायामष्टरात्रम् ॥ शूद्रायां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं निवृत्तौ जाबालिराह । अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकं वा तथैव च । गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाचरेदिति । तया प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः । उभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः । स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः । तत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य दैर्घतमसम् । प्राजापत्यं सान्तपनं सप्तरात्रोपवासकम् । गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा चरेद्विप्रः समाहित इति । तया । प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यम् । उभयेच्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनम् । स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रोपवास इति । अनयैव दिशान्येषामपि स्मृतिवचसा विषयव्यवस्थोहनीया । पुरुषवच्च स्त्रीणामप्यत्र महापातकित्वमविशिष्टम् । तथा हि कात्यायनः । एष दोषश्च शुद्धिश्च पतितानामुदाहृता । स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृत इति अतस्तस्या अपि कामतः प्रवृत्तौ मरणान्तिकमविशिष्टम् । अत एव पुरुषस्य मरणान्तिकमुक्त्वा स्त्रिया अपि योगीश्वरेण मरणान्तिकं दर्शितम् । छित्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथेति । अकामतस्तु मनुनोक्तम् । (अ. ११ श्लो. १८८) एतदेव व्रतं कार्यं योषित्सु पतितास्वपीति द्वादशवार्षिकमेवार्धकल्पनया कार्यम् । यानि पुनर्गुरुतल्पसमानि सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च । सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतमिति प्रतिपादितानि यानि चातिदेशविषयभूतानि पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनया तथा ॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पग इति प्रतिपादितानि तथैकरात्रादूर्ध्वं कामतोऽभ्यस्तेषु यथाक्रमेण षड्वार्षिकं नववार्षिकं च प्रायश्चित्तं विज्ञेयम् । अस्मिन्नेव विषये कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकम् । तथा च बृहद्यमः । रेतः सिक्त्वा कुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते इति । अन्त्याश्चात्र चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथा । मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिन इति मध्यमाङ्गिरोदर्शिता ज्ञातव्याः । न तु रजकश्चर्मकारश्चेत्यादिप्रतिपादिताः । तेषु लघुप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् ॥ तथा । (अ. ११ श्लो. १७९) चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छतीति चाण्डालादिसाम्यं प्रतिपादयता मनुनापि कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकं दर्शितम् । तथा ह्यज्ञानतश्चाण्डालीगमनाभ्यासे पतत्यतः पतितप्रायश्चित्तं द्वादशवार्षिकं कुर्यात् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे चाण्डालैः साम्यं गच्छत्यतो द्वादशवार्षिकाधिकं मरणान्तिकं कुर्यात् । एतच्च बहुकालाभ्यासविषयम् । एकरात्राभ्यासे तु वर्षत्रयम् । यथाह मनुः (अ. ११ श्लो. १७८) यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः । तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहतीति । अत्र वृषलीशब्देन चाण्डाल्यभिधीयते । चण्डाली बन्धकी वेश्या रजस्था या च कन्यका । ऊढा या च सगोत्रा स्याद्वृषल्यः पञ्च कीर्तिता इति स्मृत्यन्तरे

अतएव मनुना सकलं प्रायश्चित्तजातमभिधायाभिहितम् । (अ. ११ श्लो. १८१) यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये इति । विष्णुनापि सामान्येनोपपातक्यादेनस्विमात्रसंसर्गे तत्प्रायश्चित्तभाक्त्वं दर्शितम् । पापात्मना येन सह यः संसृज्येत स तस्यैव व्रतं कुर्यादिति । अत एव मनुना सामान्येनैनस्विमात्रप्रतिषेधः कृतः। (अ. ११ श्लो. १८९) एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेदिति । तथा । न संसर्गं भजेत्सद्भिः प्रायश्चित्ते कृते सतीति। एतच्च द्वादशवार्षिकादिपतितप्रायश्चित्तबुद्धिपूर्वसंसर्गविषयम् । पतितेन सहोषित्वा जानन्संवत्सरं नरः । मिश्रितस्तेन सोऽब्दान्ते स्वयं च पतितो भवेदिति देवलस्मरणात् । अज्ञानतः संसर्गे पुनर्वसिष्ठोक्तम् । पतितसंप्रयोगे तु ब्राह्मेण यौनेन वा स्रौवेण वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां परित्यागतस्तैश्च न संवसेदुदीचीं दिशं गत्वाऽनश्नन्संहिताध्ययनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायते इति। तथा। ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः । एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेदिति सर्वमनवद्यम्। तैरिति तृतीया सर्वनामपरामृष्टप्रकृतब्रह्महादिचतुष्टयसंसर्गिण एव महापातकित्ववचनात्तत्संसर्गिणो न महापातकित्वम् । ननु महापातकिसंसर्ग एव महापातकित्वे हेतुर्न ब्रह्महादिविशेषसंसर्गः । तस्य व्यभिचारात् । अतोऽत्र ब्रह्महादिसंसर्गिसंसर्गिणोऽपि महापातकिसंसर्गो विद्यत इति । तस्यापि महापातकित्वं स्यान्न च प्रतिषेधः । उच्यते । स्यादेवं यदि प्रमाणान्तरगम्यं महापातकित्वं स्यात् । शब्दैकसमधिगम्ये तु तस्मान्नैवं भवितुमर्हतीति । तैरिति प्रकृतविशेषपरामर्शिना सर्वनाम्ना ब्रह्महादिविशेषसंसर्गस्यैव महापातकित्वहेतुत्वस्यावगमितत्वात्। एवं च सति प्रतिषेधाभावोऽप्यहेतुः । प्राप्त्यभावादेव । अतः संसर्गिसंसर्गिणः द्विजातिकर्मभ्यो हानिर्न भवति प्रायश्चित्तं तु भवत्येव । न च संसर्गिसंसर्गिणः पातित्याभावे कथं प्रायश्चित्तमिति वाच्यम् । (अ. ११ श्लो. १८९) एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेदिति सामान्येनैनस्विमात्रप्रतिषेधेन महापातकिसंसर्गिसंसर्गस्यापि प्रतिषिद्धत्वात्पातित्याभावेऽपि युक्तमेव प्रायश्चित्तं तच्च पादहीनम् । यो येन संवसेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् । पादहीनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विज इति व्यासोक्तं द्रष्टव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमयोरपि कामतः संसर्गिणोरर्धहीनं त्रिपादोनं च द्रष्टव्यम् । अतः साक्षाद्ब्रह्महादिसंसर्गिण एव तदीयप्रायश्चित्ताधिकारो न संसर्गिसंसर्गिण इति सिद्धम् । अत्र च ब्रह्महादिषु यद्यपि कामतो मरणान्तिकमुपादिष्टं तथापि संसर्गिणस्तन्नातिदिश्यते । स तस्यैव व्रतं कुर्यादिति व्रतस्यैवातिदेशात् । मरणस्य च व्रतशब्दवाच्यत्वाभावात् । अतोऽत्र कामकृतेऽपि संसर्गे द्वादशवार्षिकमकामतस्तु तदर्धम् । संसर्गश्च स्वनिबन्धनकर्मभेदादनेकधा भिद्यते । यथाह वृद्धबृहस्पतिः । एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम् । याजनाध्यापने योनिस्तथा च सहभोजनम् । नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सहेति । देवलोऽपि । संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् । याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणामिति । एकशय्यासनमेकखट्वासनमेकपङ्क्तिभोजनमेकभाण्डपचनमन्नेन मिश्रणं संसर्गस्तदीयान्नभोजनमिति यावत्।

दशरात्रं स्यात्पराकः पञ्चमे ततः । षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्सप्तमे त्वैन्दवद्वयम् ॥ अष्टमे च तथा पक्षे षण्मासान्कृच्छ्रमाचरेदिति ॥ कामतः संसर्गे पुनर्विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः । सुमन्तुः । पञ्चाहे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे तप्तकृच्छ्रकम् । पराकस्त्वर्धमासे स्यान्मासे चान्द्रायणं चरेदिति ॥ मासत्रये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् । षाण्मासिके तु संसर्गे कृच्छ्रं त्वब्दार्धमाचरेत् ॥ संसर्गे त्वाब्दिके कुर्यादब्दं चान्द्रायणं नर इति । अत्र चाब्दिके संसर्गे इति किंचिन्न्यून इति द्रष्टव्यम् । पूर्णे तु वत्सरे मन्वादिभिर्द्वादशवार्षिकस्मरणात् । यत्तु बार्हस्पत्यं वचनम् । षाण्मासिके तु संसर्गे याजनाध्यापनादिना । एकत्रासनशय्याभिः प्रायश्चित्तार्धमाचरेदिति । याजनाध्यापनयानैकपात्रभोजनानां षण्मासात्पातित्यवचनमेतदकामतोऽत्यन्तापदि पञ्चमहायज्ञादिप्राये याजनेऽङ्गाध्यापने दुहितृभगिनीव्यतिरिक्ते च योनिसंबन्धे द्रष्टव्यम् । प्रकृष्टयाजनादिभिः सद्यः पातित्यस्योक्तत्वात् । एतद्दिगवलम्बनेनैव दुहितृभगिनीस्नुषागाम्यतिपातकिसंसर्गिणां कामतो नववार्षिकम् । अकामतः सार्धचतुर्वार्षिकं कल्पनीयम् । सखिपितृव्यदारादिगामिपातकिसंसर्गिणां कामतः षड्वार्षिकमकामतस्त्रैवार्षिकम् । अथोपपातक्यादिसंसर्गिणामपि कामतस्तदीयमेव त्रैमासिकमकामतोऽर्धमित्यूहनीयम् । पुरुषवत्स्त्रीणामपि महापातक्यादिसंसर्गात्पातित्यमविशिष्टम् । यथाह शौनकः । पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिकं पततीति अतस्तासामपि महापातकिप्रभृतीनां मध्ये येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तमर्धकृत्वा योजनीयम् । एवं बालवृद्धातुराणामपि कामतोऽर्धमकामतः पादः । तथानुपनीतस्यापि बालस्य कामतः पादोऽकामतस्तदर्धमित्येषा दिक् ॥

पतितसंसर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौनसंबन्धस्य क्वचित्प्रतिप्रसवमाह

कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम् ॥ २६१ ॥

एषां पतितानां कन्यां पतितावस्थायामुत्पन्नां सोपवासां कृतसंसर्गकालोचितप्रायश्चित्तामकिंचनामगृहीतवस्त्रालङ्कारादिपितृधनामुद्वहेत् । कन्यां समुद्वहेदिति वदन्स्वयमेव कन्यां त्यक्तपतितसंसर्गां समुद्वहेन्न पुनः पतितहस्तात्प्रतिगृह्णीयादिति दर्शयति । एवं च सति पतितयौनसंसर्गप्रतिषेधविरोधोऽपि परिहृतो भवति । अयं चार्थो बृहद्धारीतेन स्पष्टीकृतः । पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितां नाहमेतेषां न ममैत इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेदिति । तथा एषां कन्यां समुद्वहेदिति वचनात्स्त्रीव्यतिरिक्ततदीयापत्यस्य संसर्गानर्हतां दर्शयति । अत एव वसिष्ठः । पतितेनोत्पन्नः पतितो भवति अन्यत्र स्त्रियाः सा हि परगामिनी तामरिक्थामुद्वहेदिति ॥ २६१ ॥ इति संसर्गप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

निषिद्धसंसर्गप्रसङ्गान्निषिद्धसंसर्गोत्पन्नप्रतिलोमवधे प्रायश्चित्तमाह ।

चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टान्निहत्य तु ।

अवकृष्टाः सूतमागधादयः प्रतिलोमोत्पन्नास्तेषां प्रत्येकं हनने चान्द्रायणम् । तथा च

गां हन्तीति गोघ्नः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । असौ मासं समाहित आसीत् । किं कुर्वन्यश्च तानि गव्यानि गोमूत्रगोमयक्षीरदधिघृतानि यथाविधि मिश्रितानि पिबन् । आहारान्तरपरित्यागेन भोजनकार्ये तस्य विधानात् । तथा गोष्ठेशयः । प्राप्तशयनानुवादेन गोष्ठविधानेन दिवा च स्वापप्रतिषेधाद्रात्रौ गोशालायां शयानो गा अनुगच्छति तदस्य व्रतमिति गोऽनुगामी । व्रते णिनिः । अतश्च यासां गोष्ठे शेते सन्निधानात्ता एव गाः प्रातर्वनं विचरन्तीरनुगच्छेत् । अनुगच्छेदिति वचनाद्यदा ता गच्छन्ति तदैव स्वयमनुगच्छेद्यदानुतिष्ठन्त्यासते वा तदा पश्चाद्गमनस्याशक्यकरणत्वात्स्वयमपि तिष्ठेदासीत वेति गम्यते । अनुगमनविधानादेव ताभिः सायं गोष्ठं व्रजन्तीभिः सह गोष्ठप्रवेशोऽप्यर्थसिद्धः । एवं कुर्वन्मासान्ते गोप्रदानेन एकां गां दत्वा तावता शास्त्रार्थस्य संपत्तेर्गोहत्यायाः शुध्यतीत्येकं व्रतम् । मासं गोष्ठेशयो गोऽनुगामीत्यनुवर्तते । पञ्चगव्याहारस्य तु निवृत्तिः । कृच्छ्रविधानादेव । अतश्च मासं निरन्तरं कृच्छ्रं समाहितश्चरेदित्यपरम् । अत एव जाबालेन मासं प्राजापत्यस्य पृथक् प्रायश्चित्तत्वमुक्तम् । प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः । गोहितो गोऽनुगामी स्याद्गोप्रदानेन शुध्यतीति । अतिकृच्छ्रं वा तथैव समाचरेदित्यन्यत् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोर्लक्षणमुत्तरत्र वक्ष्यते । अथवा त्रिरात्रमुपवासं कृत्वा वृषभ एकादशो यासां गवां ता दद्यादिति व्रतचतुष्टयम् । तत्राकामकृते जातिमात्रब्राह्मणस्वामिकगोमात्रवधे उपवासं कृत्वा वृषभैकादशगोदानसहितस्त्रिरात्रोपवासो द्रष्टव्यः । विशिष्टस्वामिकाया विशिष्टगुणवत्याश्च वधे गुरुप्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । क्षत्रियसंबन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापादने मासं पञ्चगव्याशित्वं प्रथमं प्रायश्चित्तम् । अत्र मासं पञ्चगव्याशनस्यातिस्वल्पत्वात्तन्मासोपवासतुल्यत्वम् । ततश्च षड्भिः षड्भिरुपवासैरेकैकप्राजापत्यकल्पनया पञ्चकृच्छ्राणां प्रत्याम्नायेन पञ्च धेनवो मासान्ते च दीयमाना गौरेकेति षट् धेनवो भवन्तीति वृषभैकादशगोदानसहितत्रिरात्रव्रताल्लघीयस्त्वम् । कथं पुनर्ब्राह्मणगवीनां गुरुत्वम् । देवब्राह्मणराज्ञां तु विज्ञेयं द्रव्यमुत्तममिति नारदेन तद्द्रव्यस्योत्तमत्वाभिधानात् । गोषु ब्राह्मणसंस्थास्विति दण्डभूयस्त्वदर्शनाच्च । वैश्यसंबन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्यात् । अतिकृच्छ्रे त्वाद्ये त्रिरात्रत्रये पाणिपूरान्नभोजनमुक्तम् । अन्त्ये त्रिरात्रेऽनशनम् । अतोऽतिकृच्छ्रधर्मेण मासव्रते क्रियमाणे षड्रात्रमुपवासो भवति । चतुर्विंशत्यहे च पाणिपूरान्नभोजनम् । ततश्च कृच्छ्रप्रत्याम्नायकल्पनया किंचिन्न्यूनं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्माद्व्रतद्वयाल्लघिष्ठत्वेन वैश्यस्वामिकगोवधविषयता युक्ता । तादृश एव विषये शूद्रस्वामिकगोहत्यायां मासं प्राजापत्यव्रतं द्वितीयं तत्र च सार्धप्राजापत्यद्वयात्मकेन प्रत्याम्नायेन किंचिदधिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वेभ्यो लघुतमत्वाच्छूद्रविषयतोचिता । अथ चैतत्प्रायश्चित्तचतुष्टयं साक्षात्कर्त्रनुग्राहकप्रयोजकानुमन्तृषु गुरुलघुभावतारतम्यापेक्षया पूर्वोक्त एव विषये योजनीयम् । यत्तु वैष्णवं व्रतत्रयम् । गोघ्नस्य पञ्चगव्येन मासमेकं पलत्रयम् । प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वेति । यच्च काश्यपीयम् । गां हत्वा तच्चर्मणा प्रावृतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिषवणस्नायी नित्यं पञ्चगव्याहार इति । यच्च शातातपीयम् । मासं पञ्चगव्याहार इति तत्पञ्चकमपि याज्ञव-

विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं चरेदिति न्यायेन पूर्वोक्तमेवाकामविहितं मासातिकृच्छ्र-व्रतं द्विगुणं कुर्यात्। यत्तु हारीतेन। गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्ववालं परिधायेत्यादिना मानवीमितिकर्त-व्यतामभिधायोक्तम्। वृषभैकादशाश्च गा दत्वा त्रयोदशे मासे पूतो भवतीति तत्सवनस्थ-श्रोत्रियगोवधे अकामकृते द्रष्टव्यम्। यत्तु वसिष्ठेन। गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणार्द्रेण परिवेष्टि-तः षण्मासान् कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रावातिष्ठेदृषभवेहतौ दद्यादिति षाण्मासिकं कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रानु-ष्ठानमुक्तम्। यदपि देवलेन। गोघ्नः षण्मासांस्तच्चर्मपरिवृतो गोव्रजनिवासी गोभिरेव सह चरन् प्रमुच्यत इति तत् द्वयमपि हारीतीयेन समानविषयम्। तत्रैव कामकारकृते कात्यायनीयं त्रैवार्षिकम्। गोघ्नस्तच्चर्मसंवीतो वसेद्गोष्ठेऽथवा पुनः। गाश्चानुगच्छेत्सततं मौनी वीरासनादिभिः॥ वर्षशीतातपक्लेशवह्निपङ्कभयार्दितः। मोक्षयेत्सर्वयत्नेन पूयते वत्सरै-स्त्रिभिरिति द्रष्टव्यम्। यच्च शाङ्खं त्रैवार्षिकम्। पादं तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा। गोवधे च तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथेति॥ तदपि कात्यायनीयव्रतसमानविषयम्। यत्तु यमेना-ङ्गिरसीमितिकर्तव्यतामभिधाय गोसहस्रं शतं वापि दद्यात्सुचरितव्रतः। अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेदिति गोसहस्रयुक्तं गोशतयुक्तं च द्वैमासिकं व्रतद्वयमभिहितम्। तत्र यदा सवनस्थश्रोत्रियातिदुर्गतबहुकुटुम्बब्राह्मणसंबन्धिनीं कपिलां कर्माङ्गभूतां गर्भिणीं बहु-क्षीरतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवान्सप्रयत्नं खड्गादिना व्यापादयति तदा गोसहस्रयु-क्तं द्वैमासिकं कुर्यात्। गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुं च सुव्रताम्। खड्गादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेदिति विशिष्टायां गवि बार्हस्पत्ये प्रायश्चित्तविशेषदर्शनात्॥ अतएव प्रचेतसा। स्त्रीगर्भिणीगोगर्भिणीबालवृद्धवधेषु भ्रूणहा भवतीति। ईदृग्विधमेव। गोवधमभि-संधाय ब्रह्महत्याव्रतमतिदिष्टम्। द्वितीयं तु याम्यं गोशतदानयुक्तं द्वैमासिकं व्रतं कात्यायनीय-व्रतविषये धनवतो द्रष्टव्यम्। यत्तु गौतमेन। वृषभैकगोशतदानसमुच्चितं त्रैवार्षिकं प्राकृतं ब्रह्म-चर्यं वैश्यवधेऽभिधाय गोवधेऽतिदिष्टम्। गां च हत्वा वैश्यवदिति। एतच्च त्रैवार्षिकव्रतप्रत्या-म्नायभूतनवतिधेनुभिः सार्धं वृषभैकशता गावो नवन्यूनं द्विशतं भवतीति गोसहस्रयुक्तद्वैमासि-कव्रतान्न्यूनत्वात्पूर्वोक्तविषये एव कामतो वधे। यद्वा तत्रैव विषये गर्भरहितायाः कामतो वधे द्रष्टव्यम्। तादृग्विधाया एव गर्भरहितायास्त्वकामतो हननेऽपि कात्यायनीयमेव त्रैवार्षिकं कल्प्यम्। यत्तु यमेनोक्तम्। काष्ठलोष्टाश्मभिर्गावः शस्त्रैर्वा निहता यदि। प्रायश्चित्तं कथं तत्र शस्त्रे शस्त्रे विधीयते। काष्ठे सान्तपनं कुर्यात्प्राजापत्यं तु लोष्टके। तप्तकृच्छ्रं तु पाषा-णे शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकम्॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम्। त्रिंशद्वा वृषभं चैकं दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणामिति॥ तत्पूर्वोक्तगोसहस्रशतादिदानत्रैवार्षिकादिव्रतविषयेष्वेव काष्ठा-दिसाधनविशेषजनितवधनिमित्तसान्तपनादिपूर्वकत्वप्रतिपादनपरं न तु निरपेक्षलघुत्वाद्व्रतस्य। तथा वयोविशेषादपि प्रायश्चित्तविशेष उक्तः। अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम्। हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विजः॥ ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेमतिलांस्तथेति॥ नीरो-गादिवधे यद्विहितं तस्यार्धम्॥ बृहत्प्रचेतसाप्यत्र विशेष उक्तः। एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते। अबुद्धिपूर्वे पुंसः स्याद्द्विपादस्तु द्विहायने। त्रिहायने त्रिपादः स्यात्प्राजापत्यमतःपर-

गोपनार्थं च न दुष्येद्रोधबन्धने इति पराशरस्मरणात् । अङ्कनं स्थिरचिह्नकरणम् । लक्षणं साम्प्रतोपलक्षणम् । वाहने शास्त्रोक्तमार्गेण रक्षणार्थमपि नालिकेरादिभिर्बन्धने भवत्येव दोषः । न नालिकेरेण न शाणवालैर्न चापि मौञ्जेन न बन्धशृङ्खलैः । एतैस्तु गावो न निबन्धनीया बध्वा तु तिष्ठेत्परशुं गृहीत्वा ॥ कुशैः काशैश्च बध्नीयात्स्थाने दोषविवर्जिते इति व्यासस्मरणात् । तथान्योऽपि विशेषस्तेनैवोक्तः । घण्टाभरणदोषेण विपत्तिर्यत्र गोर्भवेत् । गोकृच्छ्रार्धं भवेत्तत्र भूषणार्थं हि तत्स्मृतम् ॥ अतिदोहातिदमने संघाते चैव योजने । बध्वा शृङ्खलपाशैश्च मृते पादोनमाचरेदिति ॥ पालनाकरणादिनोपेक्षायां क्वचित्प्रायश्चित्तविशेषस्तेनैवोक्तः । जलौघपल्वले मग्ना मेघविद्युद्धतापि वा । श्वभ्रे वा पतिताकस्माच्छ्वापदेनापि भक्षिता ॥ प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं गोस्वामी व्रतमुत्तमम् । शीतवाताहता वा स्यादुद्बन्धनहतापि वा ॥ शून्यागार उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेदिति ॥ इदं तु कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां वेदितव्यम् । कार्यान्तरव्यग्रतयोपेक्षायां त्वर्धम् । पल्वलौघमृगव्याघ्रश्वापदादिनिपातने । श्वभ्रप्रपातसर्पाद्यैर्मृते कृच्छ्रार्धमाचरेत् । अपालत्वात्तु कृच्छ्रं स्याच्छून्यागार उपप्लवे इति विष्णुस्मरणात् ॥ तथा सत्यपि व्यापादने क्वचिदुपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः । यथाह संवर्तः । यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने । यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यत इति । यन्त्रणं व्याध्यादिनिर्यातनार्थं संदंशाङ्कुशादिप्रवेशनम् । तथा । औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोब्राह्मणे द्विजः । दीयमाने विपत्तिश्चेन्न स पापेन लिप्यते ॥ ग्रामघाते शरौघेण वेश्मभङ्गान्निपातने । दाहच्छेदशिराभेदप्रयोगैरुपकुर्वताम् । द्विजानां गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्यते । अत्र पराशरोऽप्याह । अतिवृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते । कूपखाते च धर्मार्थे गृहदाहे च या मृता । ग्रामदाहे तथा घोरे प्रायश्चित्तं न विद्यते इति । इदं तु बन्धनरहितस्यैव पशोः कथंचिद्गृहादिदाहदानेन मृतविषयम् । इतरथापस्तम्बेनोक्तम् । कान्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहे खलेषु च । यदि तत्र विपत्तिः स्यात्पाद एको विधीयत इति । तथास्थ्यादिभङ्गे मरणाभावेऽपि क्वचित्प्रायश्चित्तमुक्तम् । अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा । पाटनं दन्तशृङ्गाणां मासार्धं तु यवान्पिबेदिति । यत्त्वाङ्गिरसम् । शृङ्गदन्तास्थिभङ्गे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा । दशरात्रं पिबेद्वज्रं स्वस्थापि यदि गौर्भवेदिति वज्रशब्दवाच्यं क्षीरादिवर्तनमुक्तं तदशक्तविषयम् । इदं च प्रायश्चित्तं गोस्वामिने व्यापन्नगोसदृशीं गां दत्वैव कार्यम् । यथाह पराशरः । प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत्प्रतिरूपकम् । तस्यानुरूपं मूल्यं वा दद्यादित्यब्रवीद्यम इति । मनुरपि । (अ. ८ श्लो. २८८) यो यस्य हिंस्याद्द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्सममिति । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तजातं ब्राह्मणस्यैव हन्तुर्वेदितव्यम् । क्षत्रियादेस्तु हन्तुर्बृहद्विष्णुना विशेषोऽभिहितः । विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु शूद्रजातिषु शस्यत इति । यत्त्वङ्गिरोवचनम् । पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतमिति तत्प्रातिलोम्येन वाग्दण्डपारुष्यादिविषयम् । तथा स्त्रीवृद्धबालादीनां त्वर्धम् । अनुपनीतस्य बालस्य पाद इति च प्रागुक्तमनुसंधेयम् ॥ स्त्रीणां पराशरेण विशे-

व्रतं चरेत् द्वौ मासौ यावकेन वर्तयेन्मासं पयसा पक्षमामिक्षयाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितेन त्रिरात्रमब्भक्षोऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं गच्छेद्व्रात्यस्तोमेन वा यजेतेति । अत्रेयं व्यवस्था । यस्योपनेत्राद्यभावेन तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीयव्रतानामन्यतमं शक्त्यपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानवं त्रैमासिकम् । तत्रैव पञ्चदशवर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रमे तूद्दालकव्रतं व्रात्यस्तोमो वेति । येषां तु पित्रादयोऽप्यनुपनीतास्तेषामापस्तम्बोक्तम् । यस्य पितापितामहावनुपनीतौ स्यातां तस्य संवत्सरं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम् । यस्य प्रपितामहादेर्नानुस्मर्यते तस्य उपनयनं तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यमिति । तथा स्तेयेऽप्युपपातकसाधारणप्राप्तव्रतचतुष्टयापवादकं प्रायश्चित्तं मनुनोक्तम् । (अ. ११ श्लो. १६२) धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः । सजातीयगृहादेव कृच्छ्रार्धेन विशुध्यतीति । द्विजोत्तमस्य सजातीयो ब्राह्मण एवातो विप्रपरिग्रहे ब्राह्मणस्य हर्तुरिदं क्षत्रियादेस्त्वल्पं कल्प्यम् । अथाष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वमिति क्षत्रियादेरपहर्तुर्दण्डाल्पत्वस्य दर्शनात् । तथा । विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतमिति पादपादहान्या प्रायश्चित्तदर्शनात् । तथा । क्षत्रियादिपरिग्रहेणापि दण्डानुसारेण प्रायश्चित्ताल्पत्वं कल्प्यम् । अतः क्षत्रियपरिग्रहे चौर्ये षाण्मासिकम् । वैश्यपरिग्रहे त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । शूद्रपरिग्रहे चान्द्रायणं कल्प्यम् । एवमुत्तरत्राप्यूहनीयम् । इदं च दशकुम्भधान्यापहारविषयम् । अधिके तु धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतो दम उत्तमः । पलसहस्रादधिके वध इति वधदर्शनात् । कुम्भश्च पञ्चसहस्रपलपरिमाणः । धान्यसाहचर्यादन्नधने चैतावद्धान्यपरिमिते वेदितव्यम् । अन्नशब्देन तन्दुलादिकमभिधीयते । धनशब्देन ताम्ररजतादिकम् । इदं तु प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । अकामतस्तु त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । तथा । मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणेन त्विति । सार्धशतद्वयपणलभ्यजलापहार इदं चान्द्रायणं प्राप्तमपीतरगोवधव्रतनिवृत्त्यर्थं विधीयते । तावन्मूल्यजलापहारे पानीयस्य तृणस्य च तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्ड इति पञ्चशतं तथेति चान्द्रायणविषये पञ्चशतदण्डविधानात्तावत्परिमाणदण्डचान्द्रायणयोर्गोवधादौ सहचरितत्वात्तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रैन्दवयोः पणपञ्चशतं तथेति चान्द्रायणविषये पञ्चशतपणदण्डविधानाच्च । एतच्च क्षत्रियादिद्रव्यापहारे द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणसंबन्धिद्रव्यापहारे तु (मनु अ. ११ श्लो. ५७) निक्षेपस्यापहरणे नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतमिति द्रष्टव्यम् तथा । (मनु अ. ११ श्लो. १६४) द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेश्मनः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धय इत्यनेनाल्पप्रयोजनत्रपुसीसादिद्रव्यापहारविशेषणस्तेयसामान्योपपातकप्रायश्चित्तापवादः । इदं च चान्द्रायणनिमित्तभूतार्धतृतीयशतमूल्यस्य पञ्चदशांशार्धत्रपुसीसाद्यपहारे प्रायश्चित्तम् । चान्द्रायणपञ्चदशांशत्वात्तस्य । तथा द्रव्यविशेषेणाप्युपपातकसामान्यप्राप्तव्रतापवादः । (मनु अ. ११ श्लो. १६९) भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनमिति एकवारभो-

१ कृच्छ्राब्देन विशुध्यतीति पाठान्तरम् ।

तस्मै दत्वा पुनर्निविशेत तां चैवोपयच्छेतेति । परिविविदानः परिवेत्ता उच्यते । तत्स्वरूपं च प्राग्व्याख्यातम् । असौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै ज्येष्ठाय तां स्वोढां दत्वा ब्रह्मचर्याहृतभैक्षवद्गुरुपरिभवपरिहारार्थं निवेद्य पुनरुद्वहेत् । कामित्यपेक्षायामुक्तं तामेवोपयच्छेतेति । तामेव स्वोढां ज्येष्ठाय निवेदितां तेन चानुज्ञातामुद्वहेत् । यत्तु हारीतेनोक्तम् । ज्येष्ठेऽनिविष्टे कनीयान्निविशमानः परिवेत्ता भवति परिवित्तिर्ज्येष्ठः परिवेदनी कन्या परिदायी दाता परियष्टा याजकस्ते सर्वे पतिताः संवत्सरं प्राजापत्येन कृच्छ्रेण पावयेयुरिति । यदपि शङ्खेनोक्तम् । परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयातामिति तदुभयमपि कामकारेण कन्यापित्राद्यननुज्ञातोद्वाहविषयम् । प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात् । यदा पुनः कामतः कन्यां पित्रादिदत्तामेव परिणयति तदा मानवं त्रैमासिकम् । पूर्वोक्तौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ याज्ञवल्कीयं च व्रतचतुष्टयमज्ञातविषयम् । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः । कृच्छ्रौ द्वयोः पारिवेद्ये कन्यायाः कृच्छ्र एव च । अतिकृच्छ्रं चरेद्दाता होता चान्द्रायणं चरेदिति । एतच्च पर्याहिताग्न्यादीनामपि समानम् । एकयोगनिर्देशात् । यथाह गौतमः । परिवित्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधात्रग्रेदिधिषूदिधिषूपतीनां संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमिति । अत एव वसिष्ठेनाग्रेदिधिषूपत्यादावित्थमेव प्रायश्चित्तमुक्तम् । अग्रेदिधिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत तां चैवोपयच्छेत । दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेतेति । अग्रेदिधिष्वादेर्लक्षणं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम् । ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा । या साग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृतेति । तत्राग्रेदिधिषूपतिः प्राजापत्यं कृत्वा तामेव ज्येष्ठां पश्चादन्येनोढामुद्वहेत् । दिधिषूपतिस्तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा स्वोढां ज्येष्ठा कनीयस्याः पूर्वविवोढ्रे दत्वाऽन्यामुद्वहेदिति परिवेदनम् । तथा । भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितयोश्च पयसा ब्रह्मसुवर्चलां पिबेदित्यधिकृत्य विष्णुनोक्तम् । भृतकाध्यापनं कृत्वा भृतकाध्यापितस्तथा । अनुयोगप्रदानेन त्रीन्पक्षान्नियतः पिबेदिति । उत्कर्षहेतोरधियानस्य नाशितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगोऽनुयोगप्रदानम् । अत एव स्मृत्यन्तरे । दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीदित्युक्तम् । अत्रापि पूर्वोक्तव्रतैः सहास्य शक्त्यपेक्षया विकल्पः । तथा पारदार्येऽप्युपपातकसामान्यप्राप्तमानवत्रैमासिकस्य याज्ञवल्कीयव्रतचतुष्टयस्यापि गुरुदारादावपवाद उक्तः । तथान्यत्रापि गौतमादिभिः पारदार्यविशेषेणापवाद उक्तः । यथाह गौतमः । द्वे परदारे त्रीणि श्रोत्रियस्येति तथा वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यप्रस्तुत्य तेनैवेदमभिहितम् । उपपातकेषु चैवमिति । तत्रेयं व्यवस्था । ऋतुकाले कामतो जातिमात्रब्राह्मणीगमने वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं तस्मिन्नेव काले कर्मसाधनत्वादिगुणशालिन्या ब्राह्मण्या गमने द्वे वर्षे प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तादृश्या एव श्रोत्रियभार्याया गमने त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । यद्वा श्रोत्रियपत्न्यां गुणवत्यां ब्राह्मण्यां त्रैवार्षिकम् । तादृग्विधायामेव क्षत्रियायां द्वैवार्षिकम् । तादृश्यामेव वैश्यायां वार्षिकमिति व्यवस्था । एतत्समानदृष्ट्या शूद्रायां षाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं कल्पनीयम् । अत एव शङ्खेन वैश्यामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणं चानुतिष्ठेत्क्षत्रियायां द्वे वर्षे त्रीणि ब्राह्मण्यां वैश्यायां शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायामिति वर्णक्रमेण ह्रासो दर्शितः । एवं क्षत्रियस्यापि क्षत्रियादिषु स्त्रीषु क्रमेण ह्रास-

प्रातिलोम्यव्यवाये तु सर्वत्र पुरुषस्य वध एव। प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनमिति वचनात्॥ यत्तु वृद्धप्रचेतोवचनम्। शूद्रस्य ब्राह्मणीं मोहाद्गच्छतः शुद्धिमिच्छतः। पूर्णमेतद्व्रतं देयं माता यस्माद्धि तस्य सा॥ पादहान्यान्यवर्णासु गच्छतः सार्ववर्णिकमिति। द्वादशवार्षिकातिदेशकं तत् स्वभार्याभ्रान्त्या गच्छतो वेदितव्यम्। मोहादिति विशेषणोपादानात्। यत्तु संवर्तवचनम्। कथंचिद्ब्राह्मणीं गच्छेत्क्षत्रियो वैश्य एव वा। कृच्छ्रं सान्तपनं वा स्यात्प्रायश्चित्तं विशुद्धये॥ शूद्रस्तु ब्राह्मणीं गच्छेत्कथंचित्काममोहितः। गोमूत्रयावकाहारो मासेनैकेन शुद्ध्यतीति तदत्यन्तव्यभिचरितब्राह्मणीविषयम्॥ अन्त्यजागमनेऽपि प्रायश्चित्तं बृहत्संवर्तेनोक्तम्। रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनाम्। एतास्तु ब्राह्मणो गत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयमिति। इदं ब्राह्मणस्य कामतः सकृद्गमनविषयम्। क्षत्रियादीनां तु पादपादहीनं कल्प्यम्। अत्रैवापस्तम्बेनोक्तम्। म्लेच्छी नटी चर्मकारी रजकी बुरुडी तथा। एतासु गमनं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयमिति। अन्त्यजाश्च तेनैव दर्शिताः। रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः इति। ये तु चाण्डालादयोऽन्त्यावसायिनस्तत्स्त्रीगमने गुरुतरं प्रायश्चित्तं गुरुतल्पप्रकरणे दर्शितम्। एतासां चान्त्यजस्त्रीणां मध्ये यदेकस्यां व्यवाये प्रायश्चित्तमभिहितं तत्सर्वासु भवति। सर्वासां सदृशत्वात्। यथाहोशनाः। बहूनामेकधर्माणामेकस्यापि यदुच्यते। सर्वेषां तद्भवेत्कार्यमेकरूपा हि ते स्मृता इति। अकामतस्तु गमने। चण्डालमेदश्वपचकपालव्रतचारिणाम्। अकामतः स्त्रियो गत्वा पराकव्रतमाचरेदित्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्। यच्च संवर्तवचनम्। रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनाम्। स्त्रियो विप्रो यदा गच्छेत्कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेदिति तदप्यकामविषयम्। यत्तु शातातपेनोक्तम्। कैवर्तीं रजकीं चैव वेणुचर्मोपजीविनीम्। प्राजापत्यविधानेन कृच्छ्रेणैकेन शुद्ध्यतीति। तद्रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्तिविषयम्। यत्तूशनसोक्तम्। कापालिकान्नभोक्तृणां तन्नारीगामिनां तथा। ज्ञानात्कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवं स्मृतमिति तदभ्यासविषयम्। यदा तु चाण्डाल्यादिषु गच्छतो गर्भो भवति तदा चाण्डाल्यां गर्भमारोप्य गुरुतल्पव्रतं चरेदित्युशनसोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम्। यस्त्वन्त्यजायां प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते। निर्वासनं कृताङ्कस्य तस्य कार्यमसंशयमित्यापस्तम्बवचनं तत्कामकारविषयम्। स्त्रीणामपि सवर्णानुलोमव्यवाये तदेव भवति। (मनु अ. ११ श्लो. १७६) यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतमिति मनुस्मरणात्। प्रातिलोम्येन व्ययाये एव परस्त्रीपुंसयोः प्रायश्चित्तभेदः। यथाह वसिष्ठः। शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति। वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्य ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति। राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायत इति। एवं वैश्यो राजन्यां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोरिति पूता भवतीति

प्यन्त्यजाव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् । संपृक्ता स्यादथान्त्यैर्या सा कृच्छ्राब्दं समाचरेदिति । कामतः सकृद्गमने इदम् । यदा त्वाहितगर्भाया एव पश्चाच्चाण्डालादिव्यवायस्तदा तेनैव विशेष उक्तः । अन्तर्वत्नी तु युवतिः संपृक्ता चान्त्ययोनिना । प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्याव-द्गर्भो न निःसृतः ॥ न प्रचारं गृहे कुर्यान्न चाङ्गेषु प्रसाधनम् । न शयीत समं भर्त्रा न वा भुञ्जीत बान्धवैः ॥ प्रायश्चित्तं गते गर्भे विधिं कृच्छ्राब्दिकं चरेत् । हिरण्यमथ वा धेनुं दद्या-द्विप्राय दक्षिणामिति ॥ यदा तु कामतोऽत्यन्तसंपर्कं करोति तदा अन्त्यजेन तु संपर्कं भोजने मैथुने कृते । प्रविशेत्संप्रदीप्तेऽग्नौ मृत्युना सा विशुद्ध्यतीत्युशनसोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदातूक्तं प्रायश्चित्तं न करोति तदा पुंल्लिङ्गेनाङ्कनीया वध्या वा भवेत् । हीनवर्णोपभुक्ता या साङ्क्या वध्याथवा भवेदिति पराशरस्मरणात् ॥ तथा परिवित्तिप्रायश्चित्तानामपि परिवेत्तृप्रायश्चित्त-वद्व्यवस्था विज्ञेया । इयांस्तु विशेषः । परिवेत्तुर्यस्मिन्विषये कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ तत्र परिवित्तेः प्राजापत्यमिति । परिवित्तिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनर्निविशेत तां चैवोपयच्छेदिति व-सिष्ठस्मरणात् । वार्धुष्यलवणक्रययोस्तु मनुयोगीश्वरोक्तसामान्योपपातकप्रायश्चित्तानि जाति-शक्तिगुणाद्यपेक्षया योज्यानि ॥ २६५ ॥

लवणक्रयानन्तरं स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध इत्युपपातकमध्ये पठित तत्र प्रायश्चित्तान्तरमप्याह

ऋषभैकसहस्रा गा दद्यात्क्षत्रवधे पुमान् ।
ब्रह्महत्याव्रतं वापि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६६ ॥
वैश्यहाब्दं चरेदेतद्दद्याद्वैकशतं गवाम् ।
षण्मासाच्छूद्रहाप्येतद्धेनूर्दद्याद्दशाथवा ॥ २६७ ॥

एकमधिकं यस्मिन्सहस्रे तदेकसहस्रं तस्य पूरण एकसहस्रः ऋषभ एकसहस्रो यासां गवां ताः ऋषभैकसहस्रास्ताः क्षत्रवधे दद्यात् । अथवा बृहत्प्रायश्चित्तं ब्रह्महत्याव्रतं वर्ष-त्रयं कुर्यात् । वैश्यघाती पुनरेतत् ब्रह्महत्याव्रतमेकवर्षं चरेत् । गवामृषभैकशतं वा दद्यात् । शूद्रघाती तु ब्रह्महत्याव्रतं षण्मासं चरेत् । यद्वा दशधेनूरचिरप्रसूताः सवत्सा दद्यात् । इद-मकामतो जातिमात्रक्षत्रियादिवधविषयम् । अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्येति प्रक्रम्यैतेषा-मेव प्रायश्चित्ताना मानवेऽभिधानात् । दानतपसोश्च शक्त्यपेक्षया व्यवस्था । ईषद्वृत्तस्थयोस्तु विट्शूद्रयोः (अ. ११ श्लो. १२६) तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः । वैश्येऽष्ट-मांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडश इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । वृत्तस्थे क्षत्रिये तु सार्धचतुर्वा-र्षिकं कल्प्यम् । वृत्तशब्देन चात्र गुणादिकमुच्यते । गुरुपूजा घृणा शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः । प्रवर्तनं हितानां च तत्सर्वं वृत्तमुच्यते इति मनुस्मरणात् । यत्तु वृद्धहारीतवच-नम् । ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा षड्वर्षाणि व्रतं चरेत् । वैश्यं हत्वा चरेदेवं व्रतं त्रैवार्षिकं द्विजः ॥ शूद्रं हत्वा चरेद्वर्षं वृषभैकादशाश्च गा इति तत्कामकारविषयम् ॥ श्रोत्रियक्षत्रि-

नामकामतो वधविषयम् । कामतस्तु ब्रह्मगर्भ आह । प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषडिति । ब्राह्मण्यादिवधे षण्मासाः क्षत्रियायाश्चत्वारो वैश्याया द्वावित्येवं यथार्हतयान्वयः । यदा तु वैश्यकर्मणा जीवन्तीं व्यापादयति तदा किंचिद्देयम् । वैशिकेन किंचिदिति गौतमस्मरणात् । वैशिकेन वैश्यकर्मणा जीवन्त्यां व्यापादितायां किंचिदेव देयं तच्च जलम् । कोशं कूपे च विप्रे वा ब्राह्मण्याः प्रतिपादयेत् । वधे धेनुः क्षत्रियाया बस्तो वैश्यावधे स्मृतः । शूद्रायामाविकं वैश्यां हत्वा दद्याज्जलं नर इत्यङ्गिरःस्मरणात् । यदा पुनः क्षत्रियादिभिः प्रातिलोम्येन व्यभिचारिता ब्राह्मणाद्या व्यापाद्यन्ते तदा गोवधप्रायश्चित्तानि यथार्हं योज्यानि ॥ २६८ ॥

ईषद्व्यभिचरितब्राह्मण्यादिवधे विशेषमाह

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।

यदा त्वप्रकर्षेण दुष्टामीषद्व्यभिचारिणीं ब्राह्मण्यादिकां व्यापादयति तदा शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं कुर्यात् । यद्वा दशधेनूर्दद्यात् । इदं च षाण्मासिकमकामतो ब्राह्मण्या व्यापादने क्षत्रियावधे तु कामकृते द्रष्टव्यम् । कामतो वैश्यावधे दशधेनूर्दद्यात् । कामतः शूद्रावधे तु उपपातकसाधारणप्राप्तं मासं पञ्चगव्याशनम् । यदा कामतो ब्राह्मणीं व्यापादयति तदा द्वादशमासिकम् । क्षत्रियादीनां त्वकामतो व्यापादने त्रैमासिकं सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि । यथाह प्रचेताः । अनृतुमतीं ब्राह्मणीं हत्वा कृच्छ्राब्दं षण्मासान्वेति । क्षत्रियां हत्वा षण्मासान्मासत्रयं वेति । वैश्यां हत्वा मासत्रयं सार्धमासं वेति । शूद्रां हत्वा सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि वेति ॥ यत्तु हारीतेन षड्वर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यं त्रीणि वैश्ये सार्धं शूद्र इति प्रतिपाद्योक्तं क्षत्रियवत् । ब्राह्मणीषु वैश्यवत् । क्षत्रियायां शूद्रवद्वैश्यायां शूद्रां हत्वा नवमासानित्युक्तं तदपि कर्मसाधनत्वादिगुणयोगिनीनां कामतो व्यापादने द्रष्टव्यम् । अकामतस्तु सर्वत्रार्धं कल्प्यम् । आत्रेय्यां तु प्रागुक्तम् ॥ इति स्त्रीवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

हिंसाप्रायश्चित्तप्रसंगात्प्रकीर्णकपदाभिधेयानुपपातकप्राणिवधेऽपि प्रायश्चित्तमाह ।

अस्थिमतां सहस्रं तु तथानस्थिमतामनः ॥ २६९ ॥

अस्थिमतां प्राणिनां कृकलासप्रभृतीनामनुक्तनिष्कृतीनां सहस्रं हत्वा अनस्थिमतां च यूकामत्कुणदंशमशकप्रभृतीनामनः शकटं तत्परिपूर्णमात्रं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेत् । दशधेनूर्वा दद्यात् । सहस्रमिति परिमाणनियमात्ततोऽधिकवधे त्वतिरिक्तं कल्प्यम् । अर्वाक्पुनः प्रत्येकं वधे तु किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिक इति वक्ष्यति । तथानस्थिमतामन इति । एतच्च क्षोदिष्ठजन्तुविषयम् । स्थविष्ठानस्थिघुणादिजन्तुवधे तु कृमिकीटवयोहत्येत्यादिना मलिनीकरणीयान्यभिधाय मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्त्र्यहमिति मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २६९ ॥

व्यापादिते त्रपु सीसकं च माषपरिमितं दद्यात् पलालभारं वा । पण्डकं हत्वा पलालभारं त्रपु सीसकं वा दद्यादिति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यद्यपि पण्डको लिङ्गहीनः स्यात्संस्कारार्हश्च नैव स इति देवलवचनेन सामान्येनैव स्त्रीपुंलिङ्गरहितो निर्दिष्टस्तथापि न गोब्राह्मणरूपस्येह विवक्षा । गोब्राह्मणवधनिषेधस्य जात्यवच्छेदेन प्रवृत्तेः । लिङ्गविरहिणि च पण्डे जातिसमवायाविशेषात्तन्निमित्तमेव लघुप्रायश्चित्तमुक्तं तस्मान्मृगपक्षिण एव विवक्षिताः । मृगपक्षिसमभिव्याहाराच्च । कोले सूकरे व्यापादिते घृतकुम्भो देयः । उष्ट्रे गुञ्जा देया । वाजिनि विनिपातितेंऽशुकं वस्त्रं देयम् । तथा च मनुः (अ. ११ श्लो. १३३) अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैव माषकमिति ॥ २७३ ॥

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन् ।
दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये ॥ २७४ ॥

किंचाह । तित्तिरौ पतत्रिणि व्यापादिते तिलद्रोणं दद्यात् । द्रोणशब्दश्च परिमाणविशेषवचनः । अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद्द्रोण इत्येतन्मानलक्षणमिति स्मरणात् ॥ पूर्वोक्तानां गजादीनां व्यापादने निर्धनत्वेन नीलवृषपञ्चकादिदानं कर्तुमशक्नुवन् प्रत्येकं कृच्छ्रं चरेद्विशुद्ध्यर्थम् । कृच्छ्रशब्दश्चात्र लक्षणया क्लेशसाध्ये तपोमात्रे द्रष्टव्यः । तपांसि गौतमेन दर्शितानि । संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालः । एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनीति । यदि कृच्छ्रशब्देन मुख्योऽर्थो गृह्यते तर्हि गजे शुके वा विशेषेण प्राजापत्य एव स्यात् । न च तद्युक्तम् । तपोमात्रपरत्वे तु दानगुरुलघुभावाकलनया तपसोऽपि गुरुलघुभावो युज्यते । ततश्च गजे द्विमासिकं यावकाशनं शुके तूपवास इति । एवमन्यत्रापि दानानुसारेण प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ॥ २७४ ॥

फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते घृताशनम् ।

किंचाह । औदुम्बरादौ फले मधूकादौ च कुसुमे चिरस्थितभक्तासक्त्वाद्यन्ने च रसे च गुडादौ यानि सत्त्वानि प्राणिनो जायन्ते तेषां घाते घृतप्राशनं शुद्धिसाधनम् । इदं च घृतप्राशनं भोजनकार्ये एव विधीयते । प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वात् । दर्शितं च तपोरूपत्वमाङ्गिरसे प्रायश्चित्तपदनिर्वचनव्याजेन । प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते इति ॥

प्रतिप्राणिप्रायश्चित्तस्यानन्त्यात् पृष्ठाकोटेनापि वक्तुमशक्यत्वात्सामान्येन प्रायश्चित्तमाह

किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ॥ २७५ ॥

अस्थिमतां कृकलासादिप्राणिनां न्यूनसहस्रसंख्यानां प्रत्येकं वधे किंचित्स्वल्पं धान्यहिरण्यादि देयम् । अनस्थिके त्वेकः प्राणायामः । तत्र किञ्चिदिति यदा हिरण्यं दीयते तदा

पुंश्चल्यादयः प्रसिद्धाः एतैर्दष्टः पुमान् जले प्राणायामं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति। आदिग्रहणाच्छृगालादीनां ग्रहणम्। यथाह मनुः (अ. ११ श्लो. १९९) श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च। नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यतीति। अयं च घृतप्राशो भोजनप्रत्याम्नायो द्रष्टव्यः। प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वेन शरीरसंतापनार्थत्वात्। एतदशक्तविषयम्। श्वसृगालमृगमहिषाजाविकखरकरभनकुलमार्जारमूषिकाप्लवबककाकपुरुषदष्टानामापोहिष्ठेत्यादिभिः स्नानं प्राणायामत्रयं चेति यत्सुमन्तुवचनं तन्नाभेरधःप्रदेश ईषद्दष्टविषयम्। यत्त्वङ्गिरोवचनम्। ब्रह्मचारी शुना दष्टस्त्र्यहं सायं पिबेत्पयः। गृहस्थश्चेद्द्विरात्रं तु एकाहं योऽग्निहोत्रवान्॥ नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत्। स्यादेतत्त्रिगुणं वक्त्रे मस्तके तु चतुर्गुणमिति तत्सम्यग्दष्टविषयम्। क्षत्रियवैश्ययोस्तु पादपादन्यूनं कल्पनीयम्। शूद्रस्य तु। शूद्राणां चोपवासेन शुद्धिर्दानेन वा पुनः। गां वा दद्याद्वृषं चैकं ब्राह्मणाय विशुद्धये इति बृहदङ्गिरसोक्तं द्रष्टव्यम्। यत्तु वसिष्ठवचनम्। ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम्। प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यतीति तदुत्तमाङ्गदंशविषयम्॥ स्त्रीणां तु। ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बूकेन वृकेण वा। उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेदिति पराशरोक्तं द्रष्टव्यम्॥ कृच्छ्रादिव्रतस्थायाः पुनस्तेनैव विशेषो दर्शितः। त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु सव्रता। सघृतं यावकं भुक्त्वा व्रतशेषं समापयेदिति॥ रजस्वलायामपि विशेषः पुलस्त्येन दर्शितः। रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बूकरासभैः। पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति॥ ऊर्ध्वं तु द्विगुणं नाभेर्वक्त्रे तु त्रिगुणं तथा। चतुर्गुणं स्मृतं मूर्ध्नि दष्टेऽन्यत्राप्लुतिर्भवेत् इति। अन्यत्राऽरजस्वलावस्थायाम्। यस्तु श्वादिभिर्घ्राणादिनोपहन्यते तस्य शातातपेन विशेष उक्तः। शुना घ्रातावलीढस्य नखैर्विलिखितस्य च। अद्भिः प्रक्षालनं शौचमग्निना चोपकूलनमिति। उपकूलनं तापनम्॥ यदा तु श्वादिदंशशस्त्रघातादिजनितव्रणे कृमय उत्पद्यन्ते तदा मनुना विशेष उक्तः। ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसंभवे। कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत्॥ गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंध्यं स्नानमाचरेत्। त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी त्वधोनाभ्या विशुद्ध्यति॥ नाभिकण्ठान्तरोद्भूते व्रणे चोत्पद्यते कृमिः। षड्रात्रं तु त्र्यहं पञ्चगव्याशनामितिस्मृतम्॥ तत्र श्वादिदंशव्रणे तद्दंशप्रायश्चित्तानन्तरमिदं कर्तव्यम्। शस्त्रादिजनितव्रणे त्वेतदेव। त्र्यहं पञ्चगव्याशनादिकमिति शेषः॥ क्षत्रियादिषु तु प्रतिवर्णं पादपादह्रासः कल्पनीयः॥ २७७॥

शारीरत्वग्धातुविच्छेदकदंशप्रायश्चित्तप्रसंगाच्छारीरचरमधातुविच्छेदकस्कन्दने प्रायश्चित्तमाह

यन्मेद्यरेतइत्याभ्यां स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्रयेत्।
स्तनान्तरं भ्रुवोर्मध्यं तेनानामिकया स्पृशेत्॥ २७८॥

यदि कथञ्चित्स्त्रीसंभोगमन्तरेणापि हठाच्चरमधातुर्विसृष्टस्तदा तत्स्कन्नं रेतो यन्मेद्यरेतः पृथिवीं० पुनर्मामैत्विन्द्रियमित्याभ्यां मन्त्राभ्यामभिमन्त्रयेत्। तेन चाभिमन्त्रितेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोश्च मध्यमुपकनिष्ठिकया स्पृशेत्॥ अन्ये तु स्कन्नस्य रेतसोऽशुचित्वेन

गर्दभस्य पशुत्वे सिद्धेऽपि पुनः पशुग्रहणमथ पशुकल्प इत्याश्वलायनादिगृह्योक्तपशुधर्मप्राप्त्यर्थम्। एतच्चारण्ये चतुष्पथे लौकिकाग्नौ कार्यम्। ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेतेति वसिष्ठस्मरणात् ॥ तथा रात्रावेकाक्षिविकलेन यष्टव्यम्। तथा च मनुः। (अ. ११ श्लो. ११८) अवकीर्णी तु काणेन रासभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशीति। पशोरभावे चरुणा यष्टव्यम्। निर्ऋतिं वा चरुं निर्वपेत् तस्य जुहुयात् कामाय स्वाहा कामकामाय स्वाहा निर्ऋत्यै स्वाहा रक्षोदेवताभ्यः स्वाहेति वसिष्ठस्मरणात्। एतच्चाशक्तविषयम्। शक्तस्य पुनर्गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं चतुष्पथे यजेत्। तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः सप्तगृहान् भैक्षं चरेत्। कर्माचक्षाणः संवत्सरेण शुध्यतीति गौतमोक्तो वार्षिकतपःसमुच्चितः पशुयागश्चरुर्वा द्रष्टव्यः। तथा त्रिषवणस्नानमेककालभोजनं च द्रष्टव्यम्। (अ. ११ श्लो. १२२।१२३) एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम्। सप्तागारं चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देन स विशुध्यतीति मनुस्मरणात् ॥ इदं च वार्षिकमश्रोत्रियब्राह्मणपत्न्यां वैश्यायां श्रोत्रियपत्न्यां च द्रष्टव्यम् ॥ यदा तु गुणवत्योर्ब्राह्मणीक्षत्रिययोः श्रोत्रियभार्ययोरवकिरति तदा त्रिवार्षिकं द्विवार्षिकं च क्रमेण द्रष्टव्यम् ॥ यथाहतुः शङ्खलिखितौ। गुप्तायां वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं त्रिषवणमनुतिष्ठेत्। क्षत्रियायां तु द्वे वर्षे ब्राह्मण्यां त्रीणि वर्षाणीति। यत्त्वङ्गिरोवचनम्। अवकीर्णनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्। चीरवासास्तु षण्मासांस्तथा मुच्यते किल्बिषादिति तदकामतो मानवाब्दिकविषयमीषद्व्यभिचारिणीविषयं वा ॥ अत्यन्तव्यभिचारितासु पुनः स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलं स्नात उदकुम्भं दद्याद्ब्राह्मणाय। वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेत्। यवसभारं च गोभ्यो दद्यात्। क्षत्रियाया त्रिरात्रमुपोषितो घृतपात्रं दद्यात्। ब्राह्मण्या षड्रात्रमुपोषितो गां च दद्यात्। गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत्। षण्ढायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यादिति शङ्खलिखितोदितं वेदितव्यम्। एतच्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं त्रैवर्णिकस्यापि ब्रह्मचारिणः समानम्। अवकीर्णी द्विजो राजा वैश्यश्चापि खरेण तु। इष्ट्वा भैक्षाशिनो नित्यं शुद्ध्यन्त्यब्दात्समाहिता इति शाण्डिल्यस्मरणात्। यदा स्त्रीसंभोगमन्तरेण कामतश्चरमधातुं विसृजति दिवा च स्वप्ने वा विसृजति तदा नैर्ऋतयागमात्रं द्रष्टव्यम्। एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गे दिवा स्वप्ने चेति वसिष्ठेन यागमात्रस्यातिदिष्टत्वात्। व्रतान्तरेषु कृच्छ्रचान्द्रायणादिष्वतिदिष्टब्रह्मचर्येषु स्कन्दने सत्येतदेव यागमात्रम्। व्रतान्तरेषु चैवमिति तेनैवातिदिष्टत्वात्। स्वप्नस्कन्दने तु मनूक्तं द्रष्टव्यम् (अ. २ श्लो. १८१) स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः। स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेदिति। वानप्रस्थादीनां चेदमेव ब्रह्मचर्यखण्डने अवकीर्णिव्रतं कृच्छ्रत्रयाधिकं भवति। वानप्रस्थो यतिश्चैव स्कन्दने सति कामतः। पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णिव्रतं चरेदिति शाण्डिल्यस्मरणात् ॥ यदा गार्हस्थ्यपरिग्रहेण संन्यासात्प्रच्युतो भवति तदा संवर्तोक्तं द्रष्टव्यम्। संन्यस्य दुर्मतिः कश्चित्प्रत्यापत्तिं व्रजेद्यदि। स कुर्यात्कृच्छ्रमश्रान्तः षण्मासान्प्रत्यनन्तरमिति।

पुत्रिकापरिणयने को विरोधः प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तादित्यलमतिप्रसङ्गेन। तस्माद्ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागम्यागमनानन्तरीयकत्वान्न पृथङ्नैमित्तिकं प्रयोक्तव्यमिति सुष्ठूक्तम् ॥ २८० ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादन्यदप्यनुपातकप्रायश्चित्तमाह

भैक्षाग्निकार्ये त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुरः।
कामावकीर्ण इत्याभ्यां जुहुयादाहुतिद्वयम् ॥ २८१ ॥
उपस्थानं ततः कुर्यात्समासिञ्चन्त्वनेन तु।

यस्त्वनातुर एव ब्रह्मचारी निरन्तरं सप्तरात्रं भैक्षमग्निकार्यं वा त्यजति असौ कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। कामावपन्नोऽस्म्यवपन्नोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। इत्येताभ्यां मन्त्राभ्यामाहुतीर्हुत्वा समासिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः संबृहस्पतिः। समायमग्निः सिञ्चन्तां यशसा ब्रह्मवर्चसेनेत्यनेन मन्त्रेणाग्निमुपतिष्ठेत् ॥ एतच्च गुरुपरिचर्यादिगुरुतरकार्यव्यग्रतया अकरणे द्रष्टव्यम्। यदा त्वव्यग्र एवोभे भैक्षाग्निकार्ये त्यजति तदा अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्। अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेदिति मानवं द्रष्टव्यम् ॥ यज्ञोपवीतविनाशे तु हारीतेन प्रायश्चित्तमुक्तम्। मनोव्रतपतीभिश्चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा पुनर्यथार्थं प्रतीयादसद्भैक्षभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्ते वान्ते दिवा स्वप्ने नग्नस्त्रीदर्शने नग्नस्वापे श्मशानमाक्रम्य हयादीनारुह्य पूज्यातिक्रमे चैताभिरेव जुहुयादग्निसमिन्धने स्थावरसरीसृपादीनां वधे यद्देवादेवहेडनमिति कूष्माण्डीभिराज्यं जुहुयात्। मणिवासो गवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेदिति। मनोव्रतपतीभिरिति मनोज्योतिरित्यादिमनोलिङ्गाभिस्त्वमग्ने व्रतपा असीत्यादिव्रतलिङ्गाभिरित्यर्थः। यथार्थं प्रतीयादिति उपनयनोक्तमार्गेण समन्त्रकं गृह्णीयादित्यर्थः। यज्ञोपवीतं विना भोजनादिकरणे तु। ब्रह्मसूत्रं विना भुङ्क्ते विण्मूत्रं कुरुतेऽथवा। गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुद्ध्यतीति मरीच्युक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २८१ ॥

मधुमांसाशने कार्यः कृच्छ्रः शेषव्रतानि च ॥ २८२ ॥
प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा प्रसाद्यैव विशुध्यति।

किंच। ब्रह्मचारिणा अमत्या मधुमांसभक्षणे कृच्छ्रः कार्यः। तदनन्तरमवशिष्टानि व्रतानि समापयेत्। एतच्च शिष्टभोजनार्हशशादिमांसभक्षणविषयम्। ब्रह्मचारी चेन्मांसमश्नीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा व्रतशेषं समापयेदिति वसिष्ठस्मरणात्। द्वादशरात्रग्रहणं तु मतिपूर्वाभ्यासापेक्षयाऽतिकृच्छ्रपराकादेरपि प्राप्त्यर्थम्। यदा तु मांसैकापनोद्यव्याध्याभिभूतस्तदा मांसं गुरोरुच्छिष्टं कृत्वा भक्षणीयम्। स चेद्व्याधितः कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राश्नीयादिति तेनैवोक्तत्वात्। सर्वग्रहणं मांसलशुनाद्यभक्ष्यमात्रसङ्ग्रहार्थम्। तद्भक्षणेन चापगतव्याधिरादित्यमुपतिष्ठेत। तथा च बौधायनः। येनेच्छेत्तु चिकित्सितुं

अब्भक्षो माससमासीत स जापी नियतेन्द्रियः ॥ २८५ ॥

यस्तु महापापेन ब्रह्महत्यादिना गोवधाद्युपपापेन वा मृषैव परमभिशंसति स मासं यावज्जलाशनो जपशीलो जितेन्द्रियश्च भवेत् । जपश्च शुद्धवतीनां कार्यः । ब्राह्मणमनृतेनाभिशस्य पतनीयेनोपपातकेन वा मासमब्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेदिति वसिष्ठस्मरणात् । महापापोपपापग्रहणमन्येषामप्यतिपातकादीनामुपलक्षणम् । एतच्च ब्राह्मणस्यैव ब्राह्मणेनाभिशंसने कृते द्रष्टव्यम् । यदा तु ब्राह्मणः क्षत्रियादेरभिशंसनं करोति क्षत्रियादिर्वा ब्राह्मणस्य तदा प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानित इति दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तस्य वृद्धिह्रासौ कल्पनीयौ । भूताभिशंसिनस्तु पूर्वोक्तार्थवादानुसारेण दण्डानुसारेण च तदर्धं कल्पनीयम् । तथातिपातकाभिशंसिन एतदेव व्रतं पादोनम् । पातकाभिशंसिनस्त्वर्धम्। उपपातकाभिशंसिनस्तु पादः । (मनु. अ. ११ श्लो. १२६) तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृत इत्युपपातकभूतक्षत्रियादिवधे महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्य दर्शनात् । एवं प्रकीर्णाभिशंसिनोऽपि उपपातकात् न्यूनं कल्पनीयम् । शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेदिति स्मरणात् । यत्तु शङ्खलिखिताभ्यां नास्तिकः कृतघ्नः कूटव्यवहारी ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी चेत्येते षड्वर्षाणि ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयुः संवत्सरं धौतभैक्षमश्नीयुः षण्मासान्वा गा अनुगच्छेयुरिति गुरुप्रायश्चित्तमुक्तं तदभ्यासतारतम्यापेक्षया योजनीयम् ॥ २८९ ॥

(तत्रप्रायश्चित्तमाह ।)

अभिशंसिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादभिशस्तप्रायश्चित्तमाह

अभिशस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाग्नेयमेव वा ।
निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा ॥ २८६ ॥

यः पुनर्मिथ्याभिशस्तः स कृच्छ्रं प्राजापत्यं चरेत् । अग्निदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत। वायुदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पशुना । एषां च पक्षाणां शक्तिसंभवापेक्षया व्यवस्था । यत्तु वसिष्ठेन मासमब्भक्षणमुक्तमेतेनैवाभिशस्तो व्याख्यात इति तदभिशस्तस्यैव किंचित्कालमकृतप्रायश्चित्तस्य सतो द्रष्टव्यम् । संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दम इति दण्डातिरेकदर्शनात् । यत्तु पैठीनसिनोक्तम् । अनृतेनाभिशस्यमानः कृच्छ्रं चरेन्मासं पातकेषु महापातकेषु द्विमासमिति तदपि वासिष्ठेन समानविषयम् । यत्तु बौधायनोक्तम् । पातकाभिशंसिने कृच्छ्रस्तदर्धमभिशस्तस्येति तदुपपातकादिविषयं अशक्तविषयं वा । एवमन्येषामप्युच्चावचप्रायश्चित्तानामभिशस्तविषयाणां कालशक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । यथाह मनुः । (अ. ११ श्लो. २००) पष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा । होमाश्च[1] शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनमिति । अपाङ्क्तानां मध्ये अभिशस्तादयः पठिताः ।

---

१ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसीत्यादिकं शाकलशाखाया सूक्तं प्रोक्तं तेन मासपर्यन्त होम कार्य. ।

नीत्वेति यावत् । एतत्कामतः स्पर्शविषयम् । अकामतस्तु । रजस्वला तु संस्पृष्टा चाण्डालान्त्यश्ववायसैः । तावत्तिष्ठेन्निराहारा यावत्कालेन शुध्यतीति बौधायनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनस्तेनैवोक्तम् । रजस्वला तु संस्पृष्टा ग्रामकुक्कुटसूकरैः । श्वभिः स्नात्वा क्षिपेत्तावद्यावच्चन्द्रस्य दर्शनमिति तदशक्तविषयम् ॥ यदा तु भुञ्जानायाः श्वादिस्पर्शो भवति तदा स्मृत्यन्तरे विशेष उक्तः । रजस्वला तु भुञ्जाना श्वान्त्यजादीन्स्पृशेद्यदि । गोमूत्रयावकाहारा षड्रात्रेण विशुध्यति । अशक्तौ काञ्चनं दद्याद्विप्रेभ्यो वापि भोजनमिति ॥ यदातूच्छिष्टयोः परस्परस्पर्शनं भवति तदा उच्छिष्टोच्छिष्टया स्पृष्टा कदाचित्स्त्री रजस्वला । कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्रा दानैरुपोषितेत्यत्रिणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तूच्छिष्टान् द्विजान् रजस्वला स्पृशति तदा । द्विजान्कथञ्चिदुच्छिष्टान् रजस्था यदि संस्पृशेत् । अधोच्छिष्टे त्वहोरात्रमूर्ध्वोच्छिष्टे त्र्यहं क्षिपेदिति मार्कण्डेयोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ एवमवकीर्णिप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कानिचिदनुपातकप्रायश्चित्तान्यपि व्याख्याय प्रकृतमनुसरामः । तत्रावकीर्णानन्तरं सुतानां चैव विक्रय इत्युक्तं तत्र मनुयोगीश्वरोक्तानि त्रैमासिकादीनि कामाकामजातिशक्त्याद्यपेक्षया पूर्ववद्व्यवस्थापनीयानि ॥ यत्तु शङ्खवचनम् । देवगृहप्रतिश्रयोद्यानारामसभाप्रपातडागपुण्यसेतुसुतविक्रयं कृत्वा तप्तकृच्छ्रं चरेदिति । यच्च पराशरेणोक्तम् । विक्रीय कन्यकां गां च कृच्छ्रं सान्तपनं चरेदिति । तदुभयमप्यापद्यकामतो द्रष्टव्यम् ॥ कामतस्तु । नारीणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । द्विगुणं पुरुषस्यैव व्रतमाहुर्मनीषिण इति चतुर्विंशतिमतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम् । आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतसुतविक्रये त्रिषवणस्नाय्यधःशायी चतुर्थकालाहारः संवत्सरेण पूतो भवति तदेकपुत्रविषयम् । तदनन्तरं धान्यकुप्यपशुस्तेयमित्युक्तं तत्प्रायश्चित्तानि च स्तेयप्रकरणे प्रपञ्चितानि ॥ २८७ ॥ २८८ ॥

अनन्तरमयाज्यानां च याजनमित्युक्तं तत्र प्रायश्चित्तमाह

त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्व्रात्ययाजकोऽभिचरन्नपि ।
वेदप्लावी यवाश्यब्दं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ २८९ ॥

यस्तु सावित्रीपतितानां याजनं करोति स प्राजापत्यप्रभृतींस्त्रीन्कृच्छ्रानाचरेत् । तेषां च गुरुलघुभूतानां कृच्छ्राणां त्रित्वं निमित्तगुरुलघुभावेन कल्पनीयम् ॥ तथा अभिचरन्नपीदमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतच्चाग्निदाद्याततायिव्यतिरेके षट्स्वभिचरन्न पततीति वसिष्ठस्मरणात् ॥ अपिशब्दो हीनयाजकान्त्येष्टियाजकयोः संग्रहार्थः । अत एवोक्तं मनुना । (अ. ११श्लो. १९७) व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च । अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहतीति । परेषामन्त्यकर्मेत्यत्यन्ताभ्यासविषयं शूद्रान्त्यकर्मविषयं वा । प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात् । अहीनो द्विरात्रादिर्द्वादशाहपर्यन्तोऽहर्गणयागः । यत्तु शातातपेनोक्तम् । पतितसावित्रीकान्नोपनयेत् नाध्यापयेत् य एतानुपनयेदध्यापयेद्याजयेद्वा स उद्दालकव्रतं चरेदिति तत्कामकारविषयम् । उद्दालकव्रतं च प्राग्दर्शितम् । एतच्च कृच्छ्रत्रयं साधारणोपपातकप्रायश्चित्तस्यापवादकं अत उपपातकसाधारणप्रायश्चित्तं शूद्राद्ययाज्ययाजने व्यवतिष्ठते । तत्र कामतस्त्रैमासिकम् । अकाम-

वध एव। दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथेति वधदर्शनात्। परिविन्दकस्य याजनकन्याप्रदानयोः कौटिल्ये शिष्टाप्रतिषिद्धव्रतलोपे आत्मार्थपाकक्रियारम्भे मद्यपस्त्रीनिषेवणे च साधारणोपपातकप्रायश्चित्तं प्राग्वद्व्यवस्थापनीयम्। आद्ययोस्तु विशेषप्रायश्चित्तानि परिवेदनायाज्ययाजनप्रायश्चित्तकथनप्रस्तावे दर्शितानि। अनन्तरं स्वाध्यायत्याग इत्युक्तं तत्र व्यसनासक्तत्यागे अधीतस्य च नाशनमिति ब्रह्महत्यासमप्रायश्चित्तमुक्तम्। शास्त्रश्रवणाद्याकुलतया त्यागे तु त्रैमासिकाद्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्त्यपेक्षया योज्यानि। यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्। ब्रह्मोज्झः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरुपयुञ्जीत वेदनाचार्यादिति तदत्यन्तापद्विषयम्। अग्नित्यागेऽपि तेनैव विशेषो दर्शितः। योऽग्नीनपविध्येत्स कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनराधेयं कारयेदिति। द्वादशरात्रग्रहणमुत्सन्नकालापेक्षया प्राजापत्यादिगुरुलघुकृच्छ्राणां प्राप्त्यर्थम्। तत्र मासद्वये प्राजापत्यं मासचतुष्टयेऽतिकृच्छ्रः। षण्मासोच्छिन्ने पराकः। षण्मासादूर्ध्वं योगीश्वरोक्तान्युपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि कालाद्यपेक्षया योज्यानि। संवत्सरादूर्ध्वं तु मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकमिति व्यवस्था। एतच्च नास्तिक्येन त्यागविषयम्। तथा च व्याघ्रः। योऽग्निं त्यजति नास्तिक्यात्प्राजापत्यं चरेद्द्विज इति। यदा तु प्रमादात्त्यजति तदा भारद्वाजगृह्ये विशेष उक्तः। प्राणायामशतमात्रिरात्राद्उपवासः स्यादाविंशतिरात्रात् अतऊर्ध्वमाषष्टिरात्रात्तिस्रो रात्रीरुपवसेदत ऊर्ध्वं मासं वत्सरात् प्राजापत्यं चरेत्। अत ऊर्ध्वं कालबहुत्वे दोषगुरुत्वमिति। यदा त्वालस्यादिना त्यजति तदापि तेनैव विशेष उक्तः। द्वादशाहातिक्रमे त्र्यहमुपवासो मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवासः संवत्सरातिक्रमे मासोपवासः पयोभक्षणं वेति। संवत्सरादूर्ध्वं तु वृद्धहारीतेन विशेष उक्तः। संवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे चान्द्रायणं कृत्वा पुनरादध्यात्। द्विवर्षोत्सन्ने चान्द्रायणं सोमायनं च कुर्यात्। त्रिवर्षोत्सन्ने संवत्सरं कृच्छ्रमभ्यस्य पुनरादध्यादिति। सोमायनं च कृच्छ्रकाण्डे वक्ष्यते। शङ्खेनापि विशेष उक्तः। अग्न्युत्सादी संवत्सरं प्राजापत्यं चरेद्गां च दद्यादिति॥ सुतत्यागे बन्धुत्यागे च त्रैमासिकं गोवधव्रतं कामतः। अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं व्रतचतुष्टयं शक्त्याद्यपेक्षया योज्यम्॥ द्रुमच्छेदे प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम्। स्त्रीप्राणिवधवशीकरणादिभिर्जीवने तिलेक्षुयन्त्रप्रवर्तने च तान्येव प्रायश्चित्तानि तथैव योज्यानि। व्यसनेषु च। द्यूतमृगयादिषु तान्येव व्रतानि तथैव योज्यानि। यत्तु बौधायनेन। अथाशुचिकरीणि द्यूतमभिचारोऽनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिः समावृत्तस्य भैक्षचर्या तस्य च गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो यश्च तमध्यापयति नक्षत्रनिर्देशनं चेति द्वादशमासान्द्वादशार्धमासान्द्वादशाहान्द्वादशषडहान्द्वादशत्र्यहांश्च त्र्यहमेकाहमित्यशुचिकरनिर्देश इति द्यूते वार्षिकव्रतमुक्तं तदभ्यासविषयम्। यत्तु प्रचेतसोक्तम्। अनृतवाक् तस्करो राजभृत्यो वृक्षारोपकवृत्तिर्गरदोऽग्निदोऽश्वरथगजारोहणवृत्ती रङ्गोपजीवी श्वागणिकः शूद्रोपाध्यायो वृषलीपतिर्भाण्डिको नक्षत्रोपजीवी श्ववृत्तिर्ब्रह्मजीवी चिकित्सको देवलकः पुरोहितः कितवो मद्यपः कूटकारकोऽपत्यविक्रयी मनुष्यपशुविक्रेता चेति तानुद्धरेत्समेत्य न्यायतो ब्राह्मणं व्यवस्थया सर्वद्रव्यत्यागे चतुर्थकालाहाराः संवत्सरं त्रिषवणमुपस्पृशेयुस्तस्यान्ते देव-

णमिति । एतदसंभवविषयम् । संभवे तु सामान्येनोपपातकप्रायश्चित्तानि कामाकामतो व्यवस्थापनीयानि । परपाकरुचित्वासच्छास्त्राधिगमनाकराधिकारभार्याविक्रयेषु च मनुयोगीश्वरप्रतिपादितोपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ॥२८९॥

भार्याया विक्रयश्चैषामित्यत्र चशब्दो मन्वाद्युक्तासत्प्रतिग्रहनिन्दितान्नादीनामुपलक्षणार्थमित्युक्तम् तत्रासत्प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तविशेषमाह

गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी मासमेकं पयोव्रतः ।
गायत्रीजाप्यनिरतः शुध्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ २९० ॥

यस्त्वसत्प्रतिग्रहं निषिद्धप्रतिग्रहं करोति स ब्रह्मचर्ययुक्तो गोष्ठे वसन् गायत्रीजपशीलो मासं पयोव्रतेन शुध्यतीति । प्रतिग्रहस्य चासत्त्वं दातुर्जातिकर्मनिबन्धनम् । यथा चाण्डालादेः पतितादेश्च । तथा देशकालनिबन्धनं च यथा कुरुक्षेत्रोपरागादौ । तथा प्रतिग्राह्यद्रव्यनिबन्धनं च । यथा सुरामेषीमृतशय्योभयतोमुख्यादेः ॥ यदा तु पतितादेर्मेष्यादिकं प्रतिगृह्णाति तदैतद्गुरुप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । व्यतिक्रमद्वयदर्शनेन निमित्तस्य गुरुत्वात् । तत्र जपे मनुना संख्याविशेष उक्तः । (अ. ११ श्लो. १९४) जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहादिति । प्रत्यहं त्रिसहस्रजपो द्रष्टव्यः । मासमिति द्वितीयया त्रिसहस्रसंख्याकस्य जपस्य प्रतिदिवसव्यापित्वावगमात् । यदा तु न्यायवर्तिब्राह्मणादेः सकाशान्निषिद्धं मेषादिकं गृह्णाति पतितादेर्वा भूम्यादिकमनिषिद्धं तदा षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् । पवित्रेष्ट्या विशुध्यन्ति सर्वे घोराः प्रतिग्रहाः । ऐन्दवेन मृगारेष्ट्या कदाचिन्मित्रविन्दया ॥ देव्या लक्षजपेनैव शुध्यन्ते दुष्प्रतिग्रहात् ॥ यत्तु बृहद्धारीतवचनम् । राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा मासमप्सु सदा वसेत् । षष्ठे काले पयोभक्षः पूर्णे मासे विशुध्यति[1] ॥ तर्पयित्वा द्विजान्कामैः सततं नियतव्रत इति तत्पूर्वोक्तविषयेऽभ्यासे द्रष्टव्यम् । अथवा पतितादेः कुरुक्षेत्रोपरागादौ कृष्णाजिनादिप्रतिग्रहविषयम् । तथा प्रतिग्राह्यद्रव्याल्पतया प्रायश्चित्ताल्पत्वम् । यथाह हारीतः । मणिवासो गवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेदिति । तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि । भिक्षामात्रं गृहीत्वा तु पुण्यं मन्त्रमुदीरयेत् । प्रतिग्रहेषु सर्वेषु षष्ठमंशं प्रकल्पयेत् । इतीदं च प्रायश्चित्तजातं द्रव्यत्यागोत्तरकालं द्रष्टव्यम् । (अ. ११ श्लो. १९३) यद्गर्हितेनार्जयन्ति ब्राह्मणाः कर्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव चेति मनुस्मरणात् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यानि द्रव्यसाराल्पत्वमहत्त्वाभ्यां विषयेषु व्यवस्थापनीयानि ॥ इत्युपपातकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥ जात्याश्रयादिदोषेण निन्द्यान्नादेश्च शब्दतः । योगीन्द्रोक्तव्रतव्रातं साम्प्रतं तु प्रतन्यते ॥ तत्र जातिदुष्टपलाण्ड्वादिभक्षणे कामतः सकृत्कृते पलाण्डुं विड्वराहं चेत्यादिना चान्द्रायणमुक्तम् । कामतोऽभ्यासे तु निषिद्धभक्षणे

[1] पूर्णमासे प्रमुच्यते इति पाठान्तरम् ।

थवा पुनः । यः पिबेत्कपिलाक्षीरं न ततोऽन्योऽस्त्यपुण्यकृदिति । एवमादौ च यत्र प्रतिपदोक्तं प्रायश्चित्तं न दृश्यते तत्र शेषेषूपवसेदहरिति साधारणप्रायश्चित्तं मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ अथ स्वभावदुष्टमांसादिभक्षणे प्रायश्चित्तमुक्तम् । तत्र कामतः सकृद्भक्षणे शेषेषूपवसेदहरिति मनूक्तं साधारणं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । कामतस्तु चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च । मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेदिति योगीश्वरोक्तं द्रष्टव्यम्। कामतोऽभ्यासे तु (अ. ११ श्लो. १५२) जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं तु सप्तरात्रं यवान् पिबेदिति मनूक्तं द्रष्टव्यम्। इदं विट्सूकरादिमांसव्यतिरिक्तविषयम् । (अ. ११ श्लो. १५६) क्रव्याद्विट्सूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे । नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनमिति मनुना जातिविशेषेण प्रायश्चित्तविशेषस्योक्तत्वात् । एतन्मूत्रपुरीषप्राशनेऽप्येतदेव । वराहैकशफानां तु काककुक्कुटयोस्तथ ॥ क्रव्यादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः ॥ मांसमूत्रपुरीषाणि प्राश्य गोमांसमेव च । श्वगोमायुकपीनां च तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥ उपोष्य वा द्वादशाहं कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतमिति बृहद्यमस्मरणात्। तत्र कामतस्तप्तकृच्छ्रः अभ्यासे तु कूष्माण्डसहितः पराक इति व्यवस्था ॥ प्रचेतसाप्युक्तम् । श्वसृगालकाककुक्कुटपार्षतवानरचित्रकचाषक्रव्यादखरोष्ट्रगजवाजिविड्वराहगोमानुषमांसभक्षणे तप्तकृच्छ्रमादिशेदेषां मूत्रपुरीषभक्षणे त्वतिकृच्छ्रमिति । इदं च कामकारविषयम् । यत्तूशनसो वचनम् । नरमांसं श्वमांसं वा गोमांसं चाश्वमेव च । भुक्त्वा पञ्चनखानां च महासान्तपनं चरेदिति तदकामविषयम् ॥ यत्त्वङ्गिरोवचनम् । बलाकाभासगृध्राखुखरवानरसूकरान् । दृष्ट्वा चैषाममेध्यानि स्पृष्ट्वाचम्य विशुध्यति ॥ इच्छयैषाममेध्यानि भक्षयित्वा द्विजातयः । कुर्युः सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छयेति तद्भक्षितोद्गारितविषयम् । सान्तपनशब्देन चात्र महासान्तपनमुच्यते । अकामतः प्राजापत्यविधानात् । यत्पुनरङ्गिरोवचनम् । नरकाकखराश्वानां जग्ध्वा मांसं गजस्य च । एषां मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् इति । यच्च बृहद्यमेनोक्तम् । शुष्कमांसाशने विप्रो व्रतं चान्द्रायणं चरेदिति । तदुभयमपि कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्पुनः शङ्खेनोक्तम् । भुक्त्वा चोभयतो दंतांस्तथा चैकशफानपि । औष्ट्रं गव्यं तथा जग्ध्वा षण्मासान्व्रतमाचरेदिति तत्कामतोऽत्यन्ताभ्यासविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरोक्तम् । जग्ध्वा मांसं नराणां च विड्वराहं खरं तथा । गवाश्वकुञ्जरोष्ट्राणां सर्वं पाञ्चनखं तथा । क्रव्यादं कुक्कुटं ग्राम्यं कुर्यात्संवत्सरव्रतमिति तदत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अत्र प्रकरणे मूत्रपुरीषग्रहणं वसाशुक्रासृङ्मज्जानामुपलक्षणम् । कर्णविट्प्रभृतिमलषट्के त्वर्धं कल्पनीयम् । केशादिषु पुनः षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः । अजाविमहिषमृगाणां आममांसभक्षणे केशनखरुधिरप्राशने बुद्धिपूर्वे त्रिरात्रमज्ञानादुपवास इति । यत्तु प्रचेतसोक्तम् । नखकेशमृच्छोष्टभक्षणेऽहोरात्रभोजनाच्छुद्धिरिति तदप्यकामतः सकृत्प्राशनविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरवचनम् । केशकीटनखं प्राश्य मत्स्यकण्टकमेव च । हेमतप्तं घृतं पीत्वा तत्क्षणादेव शुध्यतीति तन्मुखमात्रप्रवेशविषयम् । यदा तु भाजनस्थमन्नं केशादिदूषितं भवति तदा अन्ने भोजनकाले तु मक्षिकाकि-

१ सप्तरात्रं पयः पिबेदिति पाठान्तरम् । २ गव्यं मांसमिति पाठान्तरम् ।

त्वात्। पीतोच्छिष्टं तु पानीयं पीत्वा तु ब्राह्मणः क्वचित्। त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्वामहस्तेन वा पुनरिति। एतद्बुद्धिपूर्वविषयम्। अकामतस्त्वर्धं कल्प्यमिति। दीपोच्छिष्टे तु। दीपोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं तु यत्। अभ्यङ्गाच्चैव यच्छिष्टं भुक्त्वा नक्तेन शुध्यतीति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम्॥ अथाशुचिद्रव्यसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्। तत्राह संवर्तः। केशकीटावपन्नं तु नीलीलाक्षोपघातितम्। स्नाय्वस्थिचर्मसंस्पृष्टं भुक्त्वा तूपवसेदहरिति। तथाह शातातपः। केशकीटावपन्नं च रुधिरमांसास्पृश्यस्पृष्टभ्रूणघ्नावेक्षितपतत्र्यवलीढश्वसूकरगवाघ्रातशुक्तपर्युषितवृथापक्वदेवान्नहविषां भोजने उपवासः पञ्चगव्याशनं चेति। एतच्चोभयमपि अकामविषयम्। कामतस्तु। मृद्वारिकुसुमादींश्च फलकन्देक्षुमूलकान्। विण्मूत्रदूषितान्प्राश्य कृच्छ्रपादं समाचरेत्॥ सन्निकृष्टेऽर्धमेव स्यात्कृच्छ्रः स्याच्छुचिशोधनमिति विष्णूक्तं वेदितव्यम्। अल्पसंसर्गे पादो महासंसर्गेऽर्धकृच्छ्र इति व्यवस्था। यत्तु व्यासेनोक्तम्। संसर्गदुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टं च कामतः। भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तप्तकृच्छ्रं समाचरेदिति। एतच्चासंसृष्टामेध्यादिरसोपलब्धौ वेदितव्यम्। रजस्वलादिस्पर्शे तु शङ्खोक्तम्। अमेध्यपतितचाण्डालपुल्कसरजस्वलावधूतकुणिकुष्ठिकुनखिसंस्पृष्टानि भुक्त्वा कृच्छ्रं चरेदिति। कुणिर्हस्तविकलः। एतत्कामकारविषयम्। अकामतोऽर्धम्। भुक्त्वास्पृश्यैस्तथाशौचिकेशकीटैश्च दूषितम्। कुशोदुम्बरबिल्वाद्यैः पनसाम्बुजपत्रकैः। शङ्खपुष्पीसुवर्चादिक्वाथं पीत्वा विशुध्यतीति यद्विष्णुनोक्तं तदशक्तविषयं रजकादिस्पृष्टविषयं वा। शूद्राद्युपहते तु हारीतोक्तं विज्ञेयम्। शूद्रेणोपहतं भोज्यं कीटैर्वामेध्यसेविभिः। भुञ्जानेषु तु वा यत्र शूद्र उपस्पृशेत् अनर्हत्वात्स पङ्क्तौ तु भुञ्जानेषु वा यत्रोत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा कुत्सित्वा वा यत्रान्नं दद्युस्तत्र प्रायश्चित्तमहोरात्रमिति। उच्छिष्टपङ्क्तिभोजनेऽप्येतदेव। यस्तु भुङ्क्ते द्विजः पङ्क्त्यामुच्छिष्टायां कदाचन। अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यतीति क्रतुस्मरणात्। वामकरनिर्मुक्तान्नभोजने तु समुत्थितस्तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभाजने। एवं वैवस्वतः प्राह भुक्त्वा सान्तपनं चरेदिति षट्त्रिंशन्मतोक्तं वेदितव्यम्॥ तथा पराशरेणाप्यत्रोक्तम्। एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सह भोजने। यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्॥ मोहाद्भुञ्जीत यस्तत्र पङ्क्त्यामुच्छिष्टभोजनः। प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सान्तपनं तथेति॥ शवादिसंपृक्तकूपाद्युदकपाने तु विष्णुराह। मृतपञ्चनखात्कूपादत्यन्तोपहताद्वोदकं पीत्वा ब्राह्मणस्त्र्यहमुपवसेत् द्व्यहं राजन्य एकाहं वैश्यः शूद्रो नक्तं सर्वे चान्ते पञ्चगव्यं पिबेयुरिति अत्यन्तोपहताद्वेति मूत्रपुरीषादिभिर्वेत्यभिहितम्। यदा तु तत्रैव शवमुच्छूनतया भिन्नं भवति तदा हारीतो विशेषमाह। छिन्ने भिन्ने शवे तोयं तत्रस्थं यदि तत्पिबेत्। शुध्यै चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा॥ यदि कश्चित्ततः स्नायात्प्रमादेन द्विजोत्तमः। जपंस्त्रिषवणस्नायी अहोरात्रेण शुध्यतीति। इदं चान्द्रायणं कामतो मानुषशवोपहतकूपजलपानविषयम्। अकामतस्तु षड्रात्रम्। छिन्नं भिन्नं शवं चैव कूपस्थं यदि जायते। पयः पिबेत्त्रिरात्रेण मानुषे द्विगुणं स्मृतमिति देवलस्मरणात्॥ यदा चाण्डालकूपादिगतं जलं पिबति तदापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्। चाण्डालकूपभाण्डस्थं नरः कामाज्जलं पिबेत्। प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत्॥ चरेत्सान्तपनं विप्रः

पस्मरणात् ॥ यदा तु संग्रहादन्यत्र निषिद्धकाले भुंक्ते । यथाह मार्कण्डेयः । चन्द्रस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भार्गव । ग्रहणं तु भवेत्तस्मिन्न पूर्वं भोजनक्रिया ॥ नाचरेत्सग्रहे चैव तथैवास्तमुपागते । यावत्स्यान्नोदयस्तस्य नाश्नीयात्तावदेव तु ॥ तथा । ग्रहणं तु भवेदिन्दोः प्रथमादधियामतः । भुञ्जीतावर्तनात्पूर्वं प्रथमे प्रथमादधः ॥ तथा । अपराह्णे न मध्याह्ने सायाह्ने न तु सङ्गवे । भुञ्जीत सङ्गवे चेत्स्यान्न पूर्वं भोजनक्रियेति । यच्च मनुनोक्तम् । नाश्नीयात्संधिवेलायां नातिप्रगे नातिसायमित्येवमादि यच्च बृहच्छातातपेनोक्तम् । धाना दधि च सक्तूंश्च श्रीकामो वर्जयेन्निशि । भोजनं तिलसंबद्धं स्नानं चैव विचक्षण इति । एवमादिष्वनादिष्टप्रायश्चित्तेषु प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैवहीति योगीश्वरोक्तं प्राणायामशतं द्रष्टव्यम् ॥ अकामतस्तु शेषेषूपवसेदहरिति मनूक्तोपवासो द्रष्टव्यः॥

अथ गुणदुष्टशुक्तादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र च मनुः (अ. ११ श्लो. १५३) शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यान्यपि द्विजः । तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यध इति । अत्राकामतः शेषेषूपवसेदहरित्युपवासो द्रष्टव्यः । कामतस्तु केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत् । ऋचीषपक्वं भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु व्रती भवेदिति शङ्खस्मरणात् । एतच्चामलकादिफलयुक्तकाञ्जिकादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् । कुण्डिका सफला येषु गृहेषु स्थापिता भवेत् । तस्यास्तु काञ्जिका ग्राह्या नेतरस्याः कदाचनेति स्मरणात् ॥ उद्धृतस्नेहादिषु तु उद्धृतस्नेहविलयनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चात्तवीर्याणि नाश्नीयादित्युक्त्वा प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं चेति गौतमोक्तं द्रष्टव्यम् । विलयनं घृतादिमलम् । अहुताद्यन्नभोजने तु लिखित आह । यस्य चाग्नौ न क्षिपते यस्य चान्नं न दीयते । न तद्भोज्यं द्विजातीनां भुक्त्वा चोपवसेदहः ॥ वृथाकृसरसंयावपायसापूपशष्कुलीः । आहिताग्निर्द्विजो भुक्त्वा प्राजापत्यं समाचरेदिति ॥ अनाहिताग्नेस्तु शेषेषूपवसेदहरित्युपवासो द्रष्टव्यः ॥ भिन्नभाजनादिषु भोजने संवर्तेनोक्तम् । शूद्राणां भाजने भुक्त्वा भुक्त्वा वा भिन्नभाजने । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यतीति ॥ तथा स्मृत्यन्तरेप्युक्तम् । वटार्काश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः । कोविदारकदम्बेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेदिति । तथा । पलाशपद्मपत्रेषु गृही भुक्त्वैन्दवं चरेत् । वानप्रस्थो यतिश्चैव लभते चान्द्रिकं फलमिति ॥ अथ हस्तदानादिक्रियादुष्टाभोज्यभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र पराशरः । माक्षिकं फाणितं[1] शाकं गोरसं लवणं घृतम् । हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकमभोजनमिति । कामतस्तु । हस्तदत्तभोजने अब्राह्मणसमीपे भोजने दुष्टपङ्क्तिभोजने पङ्क्त्यग्रतो भोजनेऽभ्यक्तमूत्रपरीषकरणे मृतसूतकशूद्रान्नभोजने शूद्रैः सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनमिति हारीतोक्तं विज्ञेयम् । पर्यायान्नदानदुष्टे तु ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् । द्वयमेतदभोज्यं स्याद्भुक्त्वा तूपवसेदहरिति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तमवगन्तव्यम् । शूद्रहस्तभोजने तु । शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्ते पानीयं वा पिबेत्क्वचित् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यतीति क्रतूक्तं विज्ञेयम् । धमनदुष्टेऽपि । आसनारूढपादो वा वस्त्रार्धप्रावृतोऽपि वा । मुखेन धमितं भुक्त्वा

---

१ फाणितं इक्षुरसविकारः काकवीति लोके प्रसिद्धम् ।

रणात्तथा । चरेत्सान्तपनं भुक्त्वा जातकर्मणि चैव हि ॥ अतोऽन्येषु तु भुक्त्वान्नं संस्कारेषु द्विजोत्तमः । नियोगादुपवासेन शुध्यते निन्द्यभोजन इति ॥ सीमन्तोन्नयनादिषु पुनर्धौम्यो विशेषमाह । ब्रह्मौदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा । जातश्राद्धे नवश्राद्धे द्विचश्राद्रायणं चरेदिति । अत्र ब्रह्मौदनाख्यं कर्म यज्ञाङ्गभूतं सोमसाहचर्यात् ॥ अथ परिग्रहाभोज्यभोजने प्रायश्चित्तम् । यत्स्वरूपतोऽनिषिद्धमपि विशिष्टपुरुषस्वामिकतयाऽभोज्यं भण्यते तत्परिग्रहाशुचि। तत्र योगीश्वरेण अदत्तान्यग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदीत्यारभ्य सार्धपञ्चभिः श्लोकैरभोज्यान्नाः प्रतिपादिताः । मनुनापि त एव किंचिदधिकाः प्रतिपादिताः । (अ. ४ श्लो. २०९–२१७) नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ मत्तक्रुद्धातुराणां तु न भुञ्जीत कदाचन । गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्यायान्नमनिर्दशम् । अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ॥ द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् । पिशुनानृतिनोश्चैव क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥ शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च । कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतरणस्य च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च । रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः। अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव चेति ॥ अत्र च पदार्था अभक्ष्यकाण्डे श्राद्धकाण्डे च व्याख्याताः । अत्र प्रायश्चित्तमाह (मनु. अ. ४ श्लो. २२२) भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् । मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव चेति । पैठीनसिनाप्यकामतस्त्रिरात्रमेवोक्तम् । कुनखी श्यावदन्तः पित्रा विवदमानः स्त्रीजितः कुष्ठी पिशुनः सोमविक्रयी वाणिजको ग्रामयाजकोऽभिशस्तो वृषल्यामभिजातः परिवित्तिः परिविन्दानो दिधिषूपतिः पुनर्भूपुत्रश्चौरः काण्डपृष्ठः सेवकश्चेत्यभोज्यान्ना अपाङ्क्त्या अश्राद्धार्हाः एषां भुक्त्वा दत्वा वाऽविज्ञानात्त्रिरात्रमिति ॥ शङ्खेन त्वेतानेव किंचिदधिकान्पठित्वा चान्द्रायणमुक्तं तदभ्यासविषयम् ॥ गौतमेन पुनरुच्छिष्टपुंश्चल्यभिशस्तेत्यादिना अभोज्यान्पठित्वा प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं चेति प्रायश्चित्तमुक्तं तदापद्विषयम् ॥ यस्तु बलात्कारेण भुज्यते तस्यापस्तम्बेन विशेष उक्तः । बलाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः । अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥ उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् ॥ खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥ तत्स्त्रीणां च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनम् । मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥ चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत् । चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः ॥ संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत् । मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुध्यति ॥ ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः। संवत्सरैस्त्रिभिश्चैव तद्भावं स निगच्छतीति ॥ आशौचिपरिगृहीतान्नभोजने तु च्छागल आह।

शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्महासान्तपनेन वा । मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रं विशोधनमिति ॥ बृहस्पतिनापि जातिभ्रंशकरे विशेष उक्तः । ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा रासभादिप्रमापणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं कृच्छ्रार्धं व्रतमाचरेदिति । एतेषां च जातिभ्रंशकरादिप्रायश्चित्तानां मन्वाद्युक्तानां जातिशक्त्याद्यपेक्षया विषयो विभजनीयः । एवं योगीन्द्रहृद्गतमभक्ष्यभक्षणादिप्रायश्चित्तं संक्षेपतो दर्शितम् ॥ अधुना प्रकृतमनुसरामः ॥ २९० ॥

महापातकमतिपातकमनुपातकमुपपातकं प्रकीर्णकमिति पञ्चविधं पापजातमुक्तम् । तत्र चतुर्विधप्रायश्चित्तमभिधाय क्रमप्राप्तं प्रकीर्णकप्रायश्चित्तमाह

प्राणायामी जले स्नात्वा खरयानोष्ट्रयानगः ।
नग्नः स्नात्वा च भुक्त्वा च गत्वा चैव दिवा स्त्रियम् ॥ २९१ ॥

खरयुक्तं यानं खरयानम् । उष्ट्रयुक्तं यानमुष्ट्रयानं रथगन्त्र्यादि तेनाध्वगमनं कृत्वा दिगम्बरः स्नात्वाभ्यवहृत्य दिवा वासरे च निजाङ्गनासंभोगं कृत्वा च तडागतरङ्गिण्यादाववगाह्य कृतप्राणायामः शुध्यति । इदं च कामकारविषयम् । (अ. ११ श्लो. २०१) उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः । सवासा जलमाप्लुत्य प्राणायामेन शुध्यतीति मनुस्मरणात् । अकामतः स्नानमात्रं कल्प्यम् । साक्षात्खरारोहणे तु द्विगुणावृत्तिः कल्पनीया । तस्य गुरुत्वात् ॥ २९१ ॥

गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
बध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद्दिनम् ॥ २९२ ॥

किंच । गुरुं जनकादिकं त्वंकृत्य त्वमेवमात्थ त्वयैवं कृतमित्येकवचनान्तयुष्मच्छब्दोच्चारणेन निर्भर्त्स्य विप्रं वा ज्यायांसं समं कनीयांसं वा सक्रोधं हुं तूष्णीमास्व हुं मा बहुवादीरित्येवमाक्षिप्य जल्पवितण्डाभ्यां जयफलाभ्यां विप्रं निर्जित्य कण्ठे वाससा मृदुस्पर्शेनापि बध्वा क्षिप्रं पादप्रणिपातादिना प्रसाद्य क्रोधं त्याजयित्वा दिनमुपवसेत् । अनश्नन्कृत्स्नं वासरं नयेत् ॥ यत्तु यमेनोक्तम् । वादेन ब्राह्मणं जित्वा प्रायश्चित्तविधित्सया । त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेदिति तदभ्यासविषयम् ॥ २९२ ॥

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २९३ ॥

विप्रजिघांसया दण्डाद्युद्यमे कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः । निपातने ताडने अतिकृच्छ्रः । असृक्पाते रुधिरस्रावे पुनः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । अभ्यन्तरशोणितेऽपि कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः॥

किंचाह । बृहस्पतिनाप्यत्र विशेष उक्तः । काष्ठादिना ताडयित्वा त्वक्भेदे कृच्छ्रमाचरेत् । अस्थिभेदेऽतिकृच्छ्रः स्यात्पराकस्त्वङ्गकर्तने इति । पादप्रहारे तु यम आह । पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तविधित्सया । दिवसोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेदिति ॥ मनुना

१ स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासा इति पाठान्तरम् । २ कृच्छ्रोऽल्पतरशोणिते इति पाठान्तरेऽल्पतरशोणितेऽपि कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः ।

ऽन्यथा पतितो भवेदिति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ चौराद्युत्सर्गादौ वसिष्ठ आह । दण्डोत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितस्त्रिरात्रं राजा कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वोद्धरेयातामिति । उद्धरेयातां कुत्सितानां दन्तानां नखानां चोद्धरणं कुर्यातामित्यर्थः । स्तेनपतितादिपङ्क्तिभोजने तु मार्कण्डेय आह । अपाङ्क्तेयस्य यः कश्चित्पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यतीति॥ नीलीविषये त्वापस्तम्ब आह । नीली रक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गेषु धारयेत् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ रोमकूपैर्यदा गच्छेद्रसो नील्यास्तु कस्यचित् । त्रिषु वर्णेषु सामान्यं तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ पालनं विक्रयश्चैव तद्वृत्त्या तूपजीवनम् । पातकी च भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ नीलीदारु यदा भिन्द्याद्ब्राह्मणस्य शरीरतः । शोणितं दृश्यते यत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ स्त्रीणां क्रीडार्थसंभोगे शयनीये न दुष्यतीति । भृगुणाप्युक्तम् । स्त्रीधृता शयने नीली ब्राह्मणस्य न दुष्यति । नृपस्य वृद्धौ वैश्यस्य पर्ववर्ज्यं विधारणमिति ॥ तथा वस्त्रविशेषकृतश्च प्रतिप्रसवः । कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागो न दुष्यतीति स्मरणात्॥ तरुनिर्मितखट्वारोहणे शङ्ख आह । अध्यस्य शयनं यानमासनं पादुके तथा । द्विजः पलाशवृक्षस्य त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥ क्षत्रियस्तु रणे पृष्ठं दत्वा प्राणपरायणः । संवत्सरं व्रतं कुर्याच्छित्त्वा वृक्षं फलप्रदम् ॥ द्वौ विप्रौ ब्राह्मणाग्नी वा दम्पती गोद्विजोत्तमौ । अन्तरेण यदा गच्छेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ होमकाले तथा दोहे स्वाध्याये दारसंग्रहे । अन्तरेण यदा गच्छेद्द्विजश्चान्द्रायणं चरेदिति । दोहे सान्नाय्याद्यङ्गभूते । एतच्चाभ्यासविषयम् । सच्छिद्रादित्याद्यरिष्टदर्शनादौ शङ्ख आह । दुःस्वप्नारिष्टदर्शनादौ घृतं सुवर्णं च दद्यादिति ॥ क्वचिद्देशविशेषगमनेऽपि देवल आह । सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यन्तवासिनः । अङ्ग[1]वङ्गकलिङ्गान्ध्रान् गत्वा संस्कारमर्हति । एतच्च तीर्थयात्राव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् ॥ स्वपुरीषदर्शनादौ यम आह । प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् । दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षेत गामग्निं ब्राह्मणं तथेति । शङ्खोप्याह । पादप्रतापनं कृत्वा कृत्वा वह्निमधस्तथा । कुशैः प्रमृज्य पादौ तु दिनमेकं व्रती भवेदिति ॥ क्षत्रियाद्युपसंग्रहणे हारीत आह । क्षत्रियाभिवादनेऽहोरात्रमुपवसेत् । वैश्याभिवादने द्विरात्रम् । शूद्रस्याभिवादने त्रिरात्रमुपवास इति ॥ तथा शय्यारूढे पादुकोपानहारोपितपादोच्छिष्टान्धकारस्थश्राद्धकृज्जपदेवपूजानिरताभिवादने त्रिरात्रमुपवासः स्यादन्यत्र निमन्त्रितेनान्यत्र भोजनेऽपि त्रिरात्रमिति । समित्पुष्पादिहस्तस्याभिवादनेऽप्येतदेव । समित्पुष्पकुशाज्याम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकम् । जपं होमं च कुर्वाणं नाभिवादेत वै द्विजमित्यापस्तम्बीये जपादिभिः समभिव्याहारात् ॥ अभिवादकस्यापीदमेव प्रायश्चित्तम् ॥ नोदकुम्भहस्तोऽभिवादयेत् न भैक्षं चरन्न पुष्पाज्यादिहस्ते । नाशुचिर्न जपन्न देवपितृकार्यं कुर्वन्न शयान इति तस्यापि शङ्खेन प्रतिषेधात् । एवमन्यान्यपि वचांसि स्मृत्यन्तरतोऽन्वेष्याणि ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते ॥ २९३ ॥ इति प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

[1] जीर्णपुस्तके अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्चेति पाठान्तरम् ।

ह्रासवृद्ध्यपेक्षया च प्रायश्चित्तगुरुलघुभावः। यथा ब्राह्मणावगोरणादौ सजातीयविषये प्राजापत्यादिकमुक्तम्। तत्र यदानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वावगोरणादि क्रियते यदा वा मूर्धावसिक्तादिभिस्तदा दण्डस्य तारतम्यदर्शनाद्दोषाल्पत्वमहत्त्वावगमात्प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः। दर्शितश्च दण्डस्य गुरुलघुभावः प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दम इत्यादिना॥ २९४॥

एवं महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं यस्त्वौद्धत्यादेतन्न चिकीर्षति तस्य किं कार्यमित्यत आह

दासीकुम्भं बहिर्ग्रामान्निनयेरन्स्वबान्धवाः।
पतितस्य बहिः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम्॥ २९५॥

जीवत एव पतितस्य ये ज्ञातयो बान्धवाः पितृमातृपक्षास्ते सर्वे संनिपत्य दासी प्रेष्या तया सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमपां पूर्णं कुम्भं घटं ग्रामाद्बहिर्निनयेयुः। एतच्चतुर्थ्यादिरिक्तातिथिष्वह्नः पञ्चमे भागे गुर्वादिसंनिधौ कार्यम्। (अ. ११ श्लो. १८२) पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः। निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधाविति मनुस्मरणात्॥ अथवा दास्येव सपिण्डादिप्रयुक्ता निनयेत्। यथाह मनुः। (अ. ११ श्लो. १८३) दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा। अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सहेति। प्रेतवदिति दक्षिणामुखापसव्ययोः प्राप्त्यर्थम्। एतच्च निनयनं उदकपिण्डदानादिप्रेतक्रियोत्तरकालं द्रष्टव्यम्। तस्य विद्यागुरुयोनिसंबन्धाश्च संनिपत्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः दासः कर्मकरो वाऽवकरात् पात्रमानीय दासी घटान् पूरयित्वा दक्षिणाभिमुखः पदा विपर्यस्येदिदम्। अमुमनुदकं करोमीति नामग्राहं तं सर्वेऽन्वालभेरन् प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखा विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्च वीक्षेरन् अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशेयुरिति गौतमस्मरणात्। अयं च त्यागो यदा बन्धुभिः प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्तं न करोति तदा द्रष्टव्यः। तस्य गुरोर्बान्धवानां राज्ञश्च समक्षं दोषानभिख्याप्यानुभाष्य पुनः पुनराचारं लभस्वेति स यद्येवमप्यनवस्थितमतिः स्यात्ततोऽस्य पात्रं विपर्यस्येदिति शङ्खस्मरणात्। ततस्तं लब्धोदकं पतितं सर्वकार्येषु संभाषणसहासनादिषु बहिः कुर्युर्वर्जयेयुः। तथा च मनुः। (अ. ११ श्लो. १८४) निवर्तेरंस्ततस्तस्मात्संभाषणसहासने। दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रामेव च लौकिकीमिति॥ यदा स्नेहादिना संभाषणं करोति तदा प्रायश्चित्तं कार्यम्। अत ऊर्ध्वं तेन संभाष्य तिष्ठेदेकरात्रं जपन्सावित्रीमज्ञानपूर्वं ज्ञानपूर्वं चेत्त्रिरात्रमिति॥ २९५॥

पतितस्य घटस्फोटविधिः।

यदा तु बन्धुत्यागादन्यथा वा जातवैराग्यः प्रायश्चित्तं च कृतं तदा किं कार्यमित्यत आह

चरितव्रत आयाते निनयेरन्नवं घटम्।
जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संवसेयुश्च सर्वशः॥ २९६॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीपं पुनरायाते तत्सपिण्डाद्यास्तेन सहिता नवं अनुपहतं घटं उद-

जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संविशेयुश्च सर्वश इत्यस्यापवादमाह

शरणागतबालस्त्रीहिंसकान्संवसेन्न तु ।
चीर्णव्रतानपि सतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९९ ॥

शरणागतादिव्यापादनकारिणः कृतघ्नसहितान्प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि न संव्यवहरेदिति वाचनिकोऽयं प्रतिषेधः किमिदं वचनं न कुर्यान्न हि वचनस्यातिभारोऽस्ति अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीस्त्रीवधेऽल्पीय एव प्रायश्चित्तं तथापि वाचनिकोऽयं संव्यवहारप्रतिषेधः॥२९९॥

एवं प्रसङ्गेन स्त्रीषु विशेषमभिधाय प्रकृत एव चरितव्रतविधौ विशेषमाह

घटेऽपवर्जिते ज्ञातिमध्यस्थो यवसं गवाम् ।
प्रदद्यात्प्रथमं गोभिः सत्कृतस्य हि सत्क्रिया ॥ ३०० ॥

घटेऽपवर्जिते ह्रदादुद्धृत्य पूर्णे कुम्भेऽवनिनीतेऽसौ चरितव्रतः सपिण्डादिमध्यस्थो गोभ्यो यवसं दद्यात् । ताभिः प्रथमं सत्कृतस्य पूजितस्य पश्चाज्ज्ञातिभिः सत्क्रिया कार्या । गोभिश्च तस्य सत्कारस्तद्दत्तयवसभक्षणमेव । यदि गावस्तद्दत्तं यवसं न गृह्णीयुस्तर्हि पुनः प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यथाह हारीतः । स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि ताः प्रतिगृह्णीयुरथैनं प्रवर्तयेयुरिति । इतरथा नेत्यभिप्रेतम् ॥ ३०० ॥

महापातकादिपञ्चविधेऽपि दोषगणे प्रातिस्विकव्रतसंदोहमभिधायाधुना सकलव्रतसाधारणं धर्ममाह

विख्यातदोषः कुर्वीत पर्षदोऽनुमतं व्रतम् ।

यद्दोषो यावत्कर्तृसंपाद्यस्ततोऽन्यैर्विख्यातो ज्ञातो दोषो यस्यासौ पर्षदुपदिष्टं व्रतं कुर्यात् । यद्यपि स्वयं सकलशास्त्रार्थविचारचतुरस्तथापि पर्षत्समीपमुपगम्य तया सह विचार्य तदनुमतमेव कुर्यात् । तदुपगमने चाङ्गिरसा विशेष उक्तः । कृते निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः । भुञ्जानो वर्धयेत्पापं यावन्नाख्याति पर्षदि ॥ सचैलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः । पर्षदानुमतस्तत्त्वं सर्वं विख्यापयेन्नरः ॥ व्रतमादाय भूयोपि तथा स्नात्वा व्रतं चरेदिति ॥ विख्यापनं दक्षिणादानानन्तरं कार्यम् । यथाह पराशरः । पापं विख्यापयेत्पापी दत्वा धेनुं तथा वृषमिति । एतच्चोपपातकविषयम् । महापातकादिष्वधिकं कल्प्यम् । यत्तूक्तम् । तस्माद्द्विजः प्राप्तपापः सकृदाप्लुत्य वारिणि । वि[1]ख्याय पापं पर्षद्भ्यः किंचिद्दत्वा व्रतं चरेदिति तत्प्रकीर्णकविषयम् । पर्षत्स्वरूपं च मनुना दर्शितम् । त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे पर्षदेषा दशावरा ॥ हैतुको मीमांसार्थादितत्त्वज्ञः । तर्की न्यायशास्त्रकुशलः । तथान्यदपि पर्षद्द्वयं तेनैव दर्शितम् । ऋग्वेदविद्य-

---

१ विख्यातपापं वकृभ्य इति पाठान्तरम् ।

योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु स इति व्यासस्मरणात् ॥ अत्राप्याहारविशेषानुक्तौ पयःप्रभृतयः कालविशेषानुक्तौ संवत्सरादयः देशविशेषानुक्तौ शिलोच्चयादयो गौतमाद्यभिहिताः प्रकाशप्रायश्चित्तवदन्वेषणीयाः ॥ ३०१ ॥

एव सकलरहस्यव्रतसाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रायश्चित्तवद्ब्रह्महत्यादिक्रमेणैव रहस्यप्रायश्चित्तान्याह

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम् ।
अन्तर्जले विशुध्येत दत्वा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०२ ॥

त्रिरात्रमुपोषितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणेन महर्षिणा दृष्टं सूक्तं अघमर्षणं ऋतं च सत्यं चेति तृचमानुष्टुभं भाववृत्तदेवताकं जप्त्वा त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां दत्वा ब्रह्महा विशुध्यति । जपश्चान्तर्जले निमग्नेन त्रिरावर्तनीयः । यथाह सुमन्तुः । देवद्विजगुरुहन्ताप्सु निमग्नोऽघमर्षणं सूक्तं त्रिरावर्तयेत् । मातरं भगिनीं गत्वा मातृष्वसारं स्नुषां सखीं वान्यद्वा गमनं कृत्वाऽघमर्षणमेवान्तर्जले त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पूतो भवतीति । एतच्च कामकारविषयम् । यत्तु मनुनोक्तम् । (अ. ११ श्लो. २४८) सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृता इति तदप्यस्मिन्नेव विषये गोदानाशक्तस्य वेदितव्यम् । यत्तु गौतमेन षट्त्रिंशद्रात्रव्रतमुक्त्वोक्तम् । तद्व्रत एव ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयगुरुतल्पेषु प्राणायामैः स्नातोऽघमर्षणं जपेदिति तदकामतो वधविषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम् । ग्रामात्प्राचीं चोदीचीं दिशमुपनिष्क्रम्य स्नातः शुचिः शुचिवासाः उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्क्लिन्नवासाः सकृत्पूतेन पाणिनादित्याभिमुखोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः शतं मध्याह्ने शतमपराह्णे शतं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु प्रसृतियावकं प्राश्नीयात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते द्वादशरात्रान्महापातकेभ्यो ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयानि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण तान्यपि तरतीति तत्कामकारविषयम् । अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवनस्थवधविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् । (अ. ११ श्लो. २५८) अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिरिति तत्कामतः श्रोत्रियादिवधविषयमितरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । यत्तु बृहद्विष्णुनोक्तम् । ब्रह्महत्यां कृत्वा ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य प्रभूतेन्धनेनाग्निं प्रज्वाल्याघमर्षणेनाष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात्तत एतस्मात्पूतो भवतीति तन्निर्गुणवधविषयमनुग्राहकविषयं वा । यत्तु यमेनोक्तम् । त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः । मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाघमर्षणम् । तद्गुणवतो हन्तुर्निर्गुणवधविषयं प्रयोजकानुमन्तृविषयं वा । यत्तु हारीतेनोक्तम् । महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव संनिपाते वाघमर्षणमेव त्रिर्जपेदिति तन्निमित्तकर्तृविषयम् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यानि अन्विष्य एवमेव विषयेषु विभजनीयानि ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यन्ते । एतदेव व्रतजातं यागस्थयोषित्क्षत्रविट्स्वात्रेय्यामाहिताग्निपत्न्यां गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे व्यापादिते तुरीयांशन्यूनमनुष्ठेयम् ॥ ३०२ ॥

कप्रयोजकविषयो वा ॥ आवृत्तौ तु महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेदित्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम्॥३०४॥

सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतल्पगः ।
गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभिः पयस्विनी ॥ ३०५ ॥

गुरुतल्पगस्तु सहस्रशीर्षेति षोडशर्चसूक्तं नारायणदृष्टं पुरुषदैवत्यमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं जपंस्तस्मात्पापान्मुच्यते । सहस्रशीर्षाजापीति ताच्छील्यप्रत्ययादावृत्तिर्गम्यते। अत एव यमेनोक्तम् । पौरुषं सूक्तमावर्त्य मुच्यते सर्वकिल्बिषादिति । आवृत्तौ च संख्यापेक्षायामधस्तनश्लोकगता चत्वारिंशत्संख्यानुमीयते । अत्रापि प्राक्तनश्लोकगतं त्रिरात्रोपोषित इति संबध्यते। अत एव बृहद्विष्णुः। त्रिरात्रोषितः पुरुषसूक्तजपहोमाभ्यां गुरुतल्पगः शुध्येदिति एभिश्च सुरापसुवर्णस्तेनगुरुतल्पगैस्त्रिभिः । पृथक्पृथगस्य त्रिरात्रव्रतस्यान्ते बहुक्षीरा गौर्देया। इदमकामविषयम्। यत्तु मनुना (अ.११श्लो.२५१) हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च। जप्त्वा तु पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः। हविष्पान्तमजरंस्वर्विदं, नतमंहोनदुरितं, इति वा इति मे मनः, सहस्रशीर्षेत्येषामन्यतमस्य मासं प्रत्यहं षोडशषोडशऋचां चत्वारिंशत्संख्याकजप उक्तः सोऽप्यकामविषय एव । कामतस्तु मन्त्रैः शाकलहोमीयैरिति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम् । महाव्याहृतिभिर्होमस्तिलैः कार्यो द्विजन्मना। उपपातकशुद्ध्यर्थं सहस्रपरिसंख्यया ॥ महापातकसंयुक्तो लक्षहोमेन शुध्यतीति तदावृत्तिविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम् । जपेद्वाप्यस्यवामीयं पावमानीरथापि वा । कुन्तापं वालखिल्यांश्च निवित्प्रैषान्वृषाकपिम् ॥ होतॄन्रुद्रान् सकृज्जप्त्वा मुच्यते सर्वपातकैरिति तद्व्यभिचारिणीगमनविषयम् ॥ यानिः पुनः गुरुतल्पातिदेशविषयाणि तत्समानि वातिपातकोपपातकपदाभिधेयानि तेषु तुरीयांशन्यूनमर्धोनं च क्रमेण वेदितव्यम् । पातकातिपातकोपपातकमहापातकानामेकतमे संनिपाते वा अघमर्षणमेव त्रिर्जपेदिति हारीतोक्तं वा द्रष्टव्यम्। महापातकसंसर्गिणश्च स तस्यैव व्रतं कुर्यादिति वचनाद्येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तम्। न च वाच्यमत्राध्यापनादिसंसर्गस्यानेककर्तृकसंपाद्यत्वाद्रहस्यत्वानुपपत्तिरिति। यतः सत्यप्यनेककर्तृत्वे परदारगमनवत् कर्तृव्यतिरिक्ततृतीयाद्यपरिज्ञानमात्रेणैव रहस्यत्वम्। अतो भवत्येव रहस्यप्रायश्चित्तम् । एवमतिपातकादिसंसर्गिणोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् ॥ ३०५ ॥

गुरुतल्पगप्रायश्चित्तमाह ।

इति महापातकरहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

क्रमप्राप्तं गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तमाह

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ।
उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०६ ॥

गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकजातानामनादिष्टरहस्यव्रतानां च जातिभ्रंशकरादीनां सर्वेषामपनुत्तये प्राणायामानां शतं कार्यम् । तथा सर्वेषां महापातकादीनां प्रकीर्णका-

ततः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा अथ महाव्याहृतिभिरुरोगमुदकं पीत्वा तदेतस्मात्पूतो भवतीति । मनुनापि सप्तविधाभक्ष्यभक्षणे प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् । (अ. ११ श्लो. २५३) प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहादिति । अप्रतिग्राह्यं विषशस्त्रसुरादिपतितादिद्रव्यं च । यदा त्वप्सु रेतोविण्मूत्रादिशारीरं मलं विसृजति तदापि तेनैवोक्तम् । अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुगिति ॥ ३०७ ॥

अज्ञानकृते प्रकीर्णके मानसे चोपपातके प्रायश्चित्तमाह

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रैकाल्यसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥ ३०८ ॥

रजन्यां वासरे वा यत्प्रमादकृतं प्रकीर्णकं मानसं वाचिकं चोपपातकं तत्सर्वं प्रातर्मध्याह्नादिकालत्रयविहितनित्यसंध्योपासनया प्रणश्यति । तथा च यमः । यदह्नात्कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा । आसीनः पश्चिमां संध्यां प्राणायामैर्निहन्ति तदिति । शातातपेनाप्युक्तम् । अनृतं मद्यगन्धं च दिवा मैथुनमेव च । पुनाति वृषलान्नं च संध्या बहिरुपासितेति ॥

सकलमहापातकादिसाधारणान्पवित्रमन्त्रानाह

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।
सर्वपापहरा ह्येते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०९ ॥

शुक्रियंनाम आरण्यकविशेषः विश्वानि देवः सवितरित्यादिवाजसनेयके पठ्यते । आरण्यकं च यजु ऋचं वाचं प्रपद्ये मनोयजुः प्रपद्ये इत्यादि तत्रैव पठ्यते तयोर्जपः सकलमहापातकादिहरः । तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लक्षमतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्रमुपपातकेषु सहस्रं प्रकीर्णकेषु शतमित्येवं विशेषतो जपः सर्वपापहरः । तथा च गायत्रीमधिकृत्य श्लोकः शङ्खेनोक्तः । शतं जप्ता तु सावित्री महापातकनाशिनी । सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ॥ दशसाहस्रजाप्येन सर्वकिल्बिषनाशिनी । लक्षं जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥ सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः । सुरापश्च विशुध्यन्ति लक्षं जप्त्वा न संशय इति ॥ यत्तु चतुर्विंशतिमतेनोक्तम् ॥ गायत्र्यास्तु जपेत्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः । गायत्र्या लक्षषष्ट्या तु मुच्यते गुरुतल्पग इति तद्गुरुत्वात्प्रकाशविषयम् । तथा रुद्रैकादशिनी एकादशानां रुद्रानुवाकानां समाहारो रुद्रैकादशिनी सा च विशेषतो जप्ता सर्वपापहरा ॥ एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महद्भ्यः स तु पापेभ्यो मुच्यते नात्र संशय इति महापातकेष्वेकादशगुणावृत्तिदर्शनात् । अतिपातकादिषु चतुर्थचतुर्थांशह्रासो योजनीयः । चशब्दोऽघमर्षणादिसमुच्चयार्थः । यथाह वसिष्ठः । सर्ववेदपवित्राणि[1] वक्ष्याम्यहमतः परम् ।

---

[1] सर्वदेवपवित्राणीति पाठः ।

त्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशय इति । एवमादि दानजातं रहस्यकाण्डोक्तमविद्रुपां द्विजातीनां स्त्रीशूद्रयोश्च वेदितव्यम् । यत्तु यमेनोक्तम् । तिलान्ददाति यः प्रातस्तिलान्स्पृशति खादति । तिलस्नायी तिलाञ्जुह्वन्सर्वं तरति दुष्कृतम् । तथा । द्वे चाष्टम्यौ तु मासस्य चतुर्दश्यां तथैव च । अमावास्या पूर्णमासी सप्तमी द्वादशीद्वयम् । संवत्सरेमभुञ्जानः सततं विजितेन्द्रियः । मुच्यते पातकैः सर्वैः स्वर्गलोकं च गच्छतीति । यच्चात्रिणोक्तम् । क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के आषाढ्यां संविशेद्धरिः । निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूजयेद्धरिम् । ब्रह्महत्यादिकं पापं क्षिप्रमेव व्यपोहतीत्यादि तत्सर्वं विद्याविरहिणां कामाकामसकृदभ्यासविशेषतया व्यवस्थापनीयम् ॥ ३१० ॥

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पञ्चयज्ञक्रियापरम् ।
न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३११ ॥

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः । तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधेति उक्तक्रमेण वेदाभ्यासनिरतं तितिक्षायुक्तं पञ्चमहायज्ञानुष्ठाननिरतं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति । किमुत प्रकीर्णकजानि वाङ्मनसजन्योपपातकानि वेत्यत्र तात्पर्यमपिशब्दाल्लक्ष्यते । एतच्चाकामकारविषयम् । अत एव वसिष्ठेन । यद्यकार्यशतं साग्रं कृतं वेदश्च धार्यते । सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनमिति प्रकीर्णकाद्यभिप्रायेणाभिधायाभिहितम् । न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् । अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरत् ॥ ३११ ॥

किंचाह ।

वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्यदृक् ।
जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुध्येद्ब्रह्मवधादृते ॥ ३१२ ॥

किंच । सोपवासो वासरमुपविशन् उषित्वा सलिले वसन्निशां नीत्वादित्योदयानन्तरं सावित्र्याः सहस्रं जप्त्वा ब्रह्मवधव्यतिरिक्तसकलमहापातकादिपापजातान्मुच्यते । अतश्चोपपातकादिष्वभ्यासेऽनेकदोषसमुच्चये वा वेदितव्यम् । विषमविषयसमीकरणस्यान्याय्यत्वात् । अत एव वृद्धवसिष्ठेन । महापातकोपपातकयोः कालविशेषेण व्रतविशेष उक्तः । यथाह । यवानां प्रसृतिमञ्जलिं वा श्रप्यमाणं घृतं चाभिमन्त्रयेत् । यवोऽसि धान्यराजस्त्वं वारुणो मधुसंयुतः । निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृत इत्यनेन । घृतं यवा मधु यवाः पवित्रममृतं यवाः । सर्वं पुनन्तु मे पापं वाङ्मनःकायसंभवमित्यनेन वा । अग्निकार्यं न कुर्वीत तेन भूतबलिं तथा । नाग्रं न भिक्षां नातिथ्यं न चोच्छिष्टं परित्यजेत् ॥ ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुदक्षा दक्षपितरः ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहेत्यात्मनि जुहुयात्त्रिरात्रं मेधाभिवृद्धये पापक्षयाय त्रिरात्रं सप्तरात्रं ब्रह्महत्यादिषु द्वाद-

पत्राश्च ये दर्भा अच्छिन्नाग्राः शुचित्विषः । एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथाविधि ॥ इरावती इदंविष्णुर्मानस्तोके च शंवती । एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिबेद्द्विजः ॥ प्रणवेन समालोड्य प्रणवेनाभिमन्त्र्य च । प्रणवेन समुद्धृत्य पिबेत्तत्प्रणवेन तु ॥ मध्यमेन पलाशस्य पद्मपत्रेण वा पिबेत् । स्वर्णपात्रेण ताम्रेण ब्राह्मतीर्थेन वा पुनः ॥ यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मानवे । ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्यग्निरिवेन्धनमिति ॥ यदा त्वेतदेव पञ्चगव्यं मिश्रितं त्रिरात्रमभ्यस्यते तदा यतिसान्तपनसंज्ञां लभते । एतदेव त्र्यहाभ्यस्तं यतिसान्तपनं स्मृतमिति शङ्खस्मरणात् ॥ जाबालेन तु सप्ताहसाध्यं सान्तपनमुक्तम् । गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकैकं प्रत्यहं पीत्वा त्वहोरात्रमभोजनम् ॥ कृच्छ्रं सान्तपनं नाम सर्वपापप्रणाशनमिति ॥ एषां च गुरुलघुकृच्छ्राणां शक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । एवमुत्तरत्रापि व्यवस्था बोद्धव्या ॥ ३१५ ॥

महासान्तपनाख्यं कृच्छ्रमाह

पृथक्सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः ।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनः स्मृतः ॥ ३१६ ॥

सप्ताहेनापवर्जितो महासान्तपनाख्यः कृच्छ्रो विज्ञेयः । कथमित्यपेक्षायामुक्तं पृथग्भूतैः षड्भिर्गोमूत्रादिभिरेकैकेनैकैकमहरतिवाहयेत् । सप्तमं चोपवासेनेति । यमेन तु पञ्चदशाहसंपाद्यो महासान्तपनोऽभिहितः । त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत् । त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं त्र्यहं सर्पिस्ततः शुचिः ॥ महासान्तपनं ह्येतत्सर्वपापप्रणाशनमिति ॥ एवं जाबालेन त्वेकविंशतिरात्रनिर्वर्त्यो महासान्तपन उक्तः । षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत् । त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं महासान्तपनं विदुरिति ॥ यदा तु षण्णां सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य त्र्यहमुपयोगस्तदा अतिसान्तपनम् । यथाह यमः । एतान्येव तथा पेयादेकैकं तु त्र्यहं त्र्यहम् । अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेदिति । श्वपाकमपि शोधयेदित्यर्थवादः ३१६

पर्णकृच्छ्राख्य व्रतमाह ।

पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ।
प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१७ ॥

पलाशोदुम्बरारविन्दश्रीवृक्षपर्णानामेकैकेन क्वथितमुदकं प्रत्यहं पिबेत् । कुशोदकं चैकस्मिन्नहनीति पञ्चाहसाध्यः पर्णकृच्छ्रः । यदा तु पर्णादीनामेकीकृतानां क्वाथस्त्रिरात्रं पीयते तदा पर्णकूर्चः । यथाह यमः । एतान्येव समस्तानि त्रिरात्रोपोषितः शुचिः । क्वाथयित्वा पिबेदद्भिः पर्णकूर्चोऽभिधीयते इति । यदा तु बिल्वादिफलानि प्रत्येकं क्वथितानि मासं पीयन्ते तदा फलकृच्छ्रादिव्यपदेशं लभन्ते । यथाह मार्कण्डेयः । फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः । श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः पद्माक्षैरपरस्तथा ॥ मासेनामलकैरेवं श्री-

१ अच्छिन्नाग्राः कुशाः स्थिता इति पाठान्तरम् ।

पस्तम्बेन तु प्राजापत्यप्रायश्चित्तं चतुर्धा विभज्य चतुरः पादकृच्छ्रान्कृत्वा वर्णानुरूपेण व्यवस्था दर्शिता । त्र्यहं निरशनं पादः पादश्चायाचितं त्र्यहम् । सायं त्र्यहं तथा पादः पादः प्रातस्तथा त्र्यहम् ॥ प्रातः पादं चरेच्छूद्रः सायं वैश्यस्य दापयेत् । अयाचितं तु राजन्ये त्रिरात्रं ब्राह्मणे स्मृतमिति ॥ यदा त्वयाचितोपवासात्मकत्र्यहद्वयानुष्ठानं तदार्धकृच्छ्रः । सायंव्यतिरिक्तापरत्र्यहत्रयानुष्ठानं तु पादोनमिति विज्ञेयम् । सायं प्रातर्विनार्धं स्यात्पादोनं नक्तवर्जितमिति तेनैवोक्तत्वात् ॥ अर्धकृच्छ्रस्य प्रकारान्तरमपि तेनैव दर्शितम् । सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम् । दिनद्वयं च नाश्नीयात्कृच्छ्रार्धं तद्विधीयते इति ॥ ३१९ ॥

यथाकथंचित्त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ।

अयमेव पादकृच्छ्रः यथाकथंचिद्दण्डकलितवदावृत्त्या स्वस्थानविवृद्ध्या वा तत्राप्यानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वा तथा वक्ष्यमाणजपादियुक्तं तद्रहितं वा त्रिरभ्यस्तः प्राजापत्योऽभिधीयते । तत्र दण्डकलितवदावृत्तिपक्षो वसिष्ठेन प्रदर्शितः ।

प्राजापत्य कृच्छ्रमाह ।

अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् । अहः पराकं तत्रैकमेवं चतुरहौ परौ ॥ अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः । बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाचहेति ॥ आनुलोम्येन स्वस्थानविवृद्धिपक्षस्तु मनुना दर्शितः (अ. ११ श्लो. २११) त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । परं त्र्यहं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरेद्द्विज इति ॥ प्रातिलोम्यावृत्तिस्तु वसिष्ठेन दर्शिता । प्रातिलोम्यं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरमिति । जपादिरहितपक्षस्तु स्त्रीशूद्रादिविषयेऽङ्गिरसा दर्शितः । तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमादिवर्जितमिति । जपादियुक्तपक्षस्तु पारिशेष्याद्योग्यतया च त्रैवर्णिकविषयः । स च गौतमादिभिर्दर्शितः । अथातः कृच्छ्रान्व्याख्यास्यामो हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयादथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीताथापरं त्र्यहं न कंचन याचेताथापरं त्र्यहमुपवसंस्तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः सत्यं वदेदनार्यैः सह न भाषेत रौरवयोधां जपेन्नित्यं प्रयुञ्जीतानुसवनमुदकोपस्पर्शनमापोहिष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यष्टाभिरथोदकतर्पणम् । नमोहमाय मोहमाय महमाय धन्वने तापसाय पुनर्वसवे नमो मौञ्ज्याय और्म्याय वसुविन्दाय सर्वविदाय नमः । पाराय सुपाराय महापाराय परपाराय पारयिष्णवे नमः । रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानाय उग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः । नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः । कृष्णाय पिङ्गलाय नमः । ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशाय ऊर्ध्वरेतसे नमः । सत्याय पावकाय पावकवर्णायैकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः । दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः । तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः । सौम्याय पुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषाय उत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः । चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नम इति । एतदेवादित्योपस्थानमेता एवाज्याहुतयो द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्र-

एषां पिण्याकादीनां पञ्चानां क्रमेणैकैकस्य त्रिरात्राभ्यासेन पञ्चदशाहव्यापी तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो वेदितव्यः। अत्र च पञ्चदशाहिकत्वविधानादुपवासस्य निवृत्तिः॥ यमेन त्वेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुष उक्तः। आचाममथ पिण्याकं तक्रं चोदकसक्तुकान्। त्र्यहं त्र्यहं प्रयुञ्जानो वायुभक्षी त्र्यहद्वयम्॥ एकविंशतिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यत इति। अत्र हारीताद्युक्तेतिकर्तव्यता ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते ३२३

तुलापुरुषाख्यं कृच्छ्रमाह।

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान्।
एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन्॥ ३२४॥

चान्द्रायणाख्यं व्रतं कुर्वन् मयूराण्डपरिमितान् पिण्डान् शुक्ले आपूर्यमाणपक्षे तिथिवृद्ध्या चरेत् भक्षयेत्। यथा प्रतिपत्प्रभृतिषु चन्द्रकलानामेकैकशो वृद्धिरर्धमासे तद्वत्पिण्डानपि प्रतिपद्येको द्वितीयायां द्वावित्येवमेकैकशो वर्धयन् भक्षयेद्यावत्पौर्णमासी। ततः पञ्चदश्यां पञ्चदशग्रासान्भुक्त्वा ततः कृष्णपक्षे चतुर्दश प्रतिपदि द्वितीयायां त्रयोदशेत्येवमेकैकशो ग्रासान् ह्रासयन् अश्नीयात् यावच्चतुर्दशी। ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं ग्रसित्वा इन्दुक्षये अर्थादुपवसेत्। तथा च वसिष्ठः। एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत्। इन्दुक्षये न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिरिति। चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मिन्कर्मणि ह्रासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम्। संज्ञायां दीर्घः। इदं च यववत् प्रान्तयोरणीयः मध्ये स्थवीय इति यवमध्यमिति कथ्यते। एतदेव व्रतं यदा कृष्णपक्षप्रतिपदि प्रक्रम्य पूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठीयते तदा पिपीलिकावन्मध्ये ह्रसिष्ठं भवतीति पिपीलिकमध्यमिति कथ्यते। तथाहि। पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णप्रतिपदि चतुर्दश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकग्रासापचयेन चतुर्दशी यावद्भुञ्जीत। ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं ग्रसित्वामावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदि एकमेव ग्रासं प्राश्नीयात्। तत एकोपचयभोजनेन पक्षशेषे निर्वर्त्यमाने पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्त इति युक्तैव पिपीलिकामध्यता। तथा च वसिष्ठः। मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश। ग्रासापचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत्॥ तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम्। ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेदिति॥ यदा त्वेकस्मिन्पक्षे तिथिवृद्धिह्रासवशात् षोडशदिनानि भवन्ति चतुर्दश वा तदा ग्रासानामपि वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ। तिथिवृद्ध्या पिण्डांश्चरेदिति नियमात्। गौतमेनात्र विशेषो दर्शितः। अथातश्चान्द्रायणं तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे वपनं च व्रतं चरेत् श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत्। आप्यायस्व संतेपयांसि नवोनव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चाशुमन्त्रणमुपस्थानं च चन्द्रमसः यद्देवादेवहेडनमिति चतसृभिराज्यं जुहुयाद्देवकृतस्येति चान्ते समिद्भिः ॐभूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यं यशः श्रीऊक् इट् ओजः तेजः पुरुषः धर्मः। शिव इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वानेतैरेव ग्रासान्भुञ्जीत। तन्ग्रासप्रमाणमास्याविकारेण। चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि हवींषि

चान्द्रायणमाह।

स्तनेन त्रिरात्रं त्रिस्तनेन त्रिरात्रं द्विस्तनेन त्रिरात्रं एकस्तनेन त्रिरात्रमेवमेकस्तनप्रभृति पुनश्चतुःस्तनान्तं या ते सोम चतुर्थी तनूस्तया नः पाहि तस्यै नमः स्वाहा या ते सोम पञ्चमी षष्ठीत्येवं यागार्थास्तिथिहोमा एवं स्तुत्वा एनोभ्यः पूतश्चन्द्रमसः समानतां सलोकतां सायुज्यं च गच्छतीति चतुर्विंशतिदिनात्मकं सोमायनमुक्तं तदशक्तविषयम् ॥ ३२५ ॥

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह

कुर्यात्त्रिषवणस्नायी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ।
पवित्राणि जपेत्पिण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ ३२६ ॥

कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणं वा त्रिषवणस्नानयुक्तः कुर्यात् । एतच्च तप्तकृच्छ्रव्यतिरेकेण । तत्र सकृत्स्नायी समाहित इति मनुना विशेषाभिधानात् ॥ यत्पुनः शङ्खेन कृच्छ्रेषु त्रिषवणस्नानमभिहितम् । त्रिरह्नि त्रिर्निशायां तु सवासा जलमाविशेदिति तदशक्तविषयम् । यत्पुनर्वैशम्पायनेन द्वैकालिकं स्नानमुक्तम् । स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मन इति तत्त्रिषवणस्नानाशक्तस्य वेदितव्यम् ॥ यत्पुनर्गार्ग्येणोक्तम् । एकवासाश्चरेद्भैक्षं स्नात्वा वासो न पीडयेत् तदपि शक्तस्यैव । एकवासा आर्द्रवासा वा । लब्धाशीः स्थण्डिलेशय इत्येकवस्त्रताया अपि शङ्खेन पाक्षिकत्वेनाभिधानात् । स्नाने च हारीतेन विशेष उक्तः । त्र्यवरं शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणमन्तर्जले जपित्वा धौतमहतं वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेदिति । स्नानानन्तरं च पवित्राणि जपेत् । पवित्राणि च अघमर्षणं देवकृतः शुद्धवत्यस्तरत्समा इत्यादीनि वसिष्ठादिप्रतिपादितानामन्यतमान्यर्थाविरुद्धेषु कालेषु अन्तर्जले जपेत् । (अ. ११ श्लो. २२५) सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तित इति मनुस्मरणात् । यत्तु गौतमेनोक्तम् । रौरवयोधा जपेन्नित्यं प्रयुञ्जीतेति तदपि पवित्रत्वादेवोक्तं न पुनर्नियमाय । तथा सति श्रुत्यन्तरमूलत्वकल्पनाप्रसङ्गात् अतोऽनधीतसामवेदेन गायत्र्यादिकमेव जप्तव्यम् । यदपि नमो हमाय मोहमाय इत्यादि पठित्वा एता एवाज्याहुतय इत्युक्तं तदपि न नैयमिकं किंतु (अ.११श्लो.२२२) महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहमिति मनुना महाव्याहृतिभिर्होमविधानात् ॥ तथा षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम् । जपहोमादि यत्किंचित्कृच्छ्रोक्तं संभवेन्न चेत् । सर्वं व्याहृतिभिः कुर्याद्गायत्र्या प्रणवेन चेति । आदिग्रहणादुदकतर्पणादित्योपस्थानादेर्ग्रहणम् । अत एव वैशम्पायनः । स्नात्वोपतिष्ठेदादित्यं सौरीभिस्तु कृताञ्जलिरिति ॥ एवमन्येष्वपि विरोधिपदार्थेषु विकल्प आश्रयणीयः । अविरोधिषु समुच्चयः । शाखान्तराधिकरणन्यायेन सर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात्कर्मणः । जपसंख्यायां विशेषस्तेनैव दर्शितः । ऋषभं विरजं चैव तथा चैवाघमर्षणम् । गायत्रीं वा जपेद्देवीं पवित्रां वेदमातरम् ॥ शतमष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् । उपांशु मनसा वापि तर्पयेत्पितृदेवताः ॥ मनुष्यांश्चैव भूतानि प्रणम्य शिरसा तत इति ॥ तथा पिण्डांश्च प्रत्येकं गायत्र्या चाभिम-

---

१ आज्येन वेति पाठान्तरम् ।

हितम्। यानि कानि च पापानि गुरोर्गुरुतराणि च। कृच्छ्रातिकृच्छ्रचान्द्रैयैः[1] शोध्यन्ते मनुरब्रवीदिति त्रयाणां समुच्चय उक्तः प्रतिपादितः। उशनसा तु द्वयोः समुच्चय उक्तः। दुरितानां दुरिष्टानां पापानां महतामपि। कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव सर्वपापप्रणाशनमिति। दुरितमुपपातकम्। दुरिष्टं पातकम्। गौतमेन तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तमिति विसमासकरणेनैन्दवनिरपेक्षता कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोः सूचिता। चान्द्रायणस्य निरपेक्षता इतिशब्देन च त्रयाणां समुच्चयः। केवलप्राजापत्यस्य तु निरपेक्षं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्। लघुदोषे त्वनादिष्टे प्राजापत्यं समाचरेदिति। गौतमेनापि प्राजापत्यादेर्नैरपेक्ष्यमुक्तम्। प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते। तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यत इति महापातकादपीत्यभिप्रेतम्। मनुनाप्युक्तम्। (अ. ११ श्लो. २१९) पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदन इति। हारीतेनाप्युक्तम्। चान्द्रायणं यावकश्च तुलापुरुष एव च। गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम्॥ तथा। गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत्। तथा तप्तकृच्छ्रमधिकृत्य तेनैवोक्तम्। एष कृच्छ्रो द्विरभ्यस्तः पातकेभ्यः प्रमोचयेत्। त्रिरभ्यस्तो यथान्यायं शूद्रहत्यां व्यपोहतीति। उशनसोक्तम्। यत्रोक्तं यत्र वा नोक्तं महापातकनाशनम्। प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शोधयेन्नात्र संशय इति। एतानि प्राजापत्यादीनि अनादिष्टेषूपपातकादिषु सकृदभ्यासापेक्षया व्यस्तानि समस्तानि वा योजनीयानि। तथा आदिष्टव्रतेष्वपि महापातकादिषु अभ्यासापेक्षया योजनीयानि। अत एव यमेनोक्तम्। यत्रोक्तमित्यादि। गौतमेनाप्युक्तम्। निष्कृतीनां संग्रहार्थं सर्वप्रायश्चित्तग्रहणं कृतम्। तथा यदपि तेनैवोक्तम्। द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यत इत्युक्त्वा तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यत इति तदपि महापातकाभिप्रायं न तु क्षुद्रपातकाभिप्रायम्। न च महापातकमनुक्तनिष्कृतिकं संभवति तस्मादुक्तनिष्कृतिकेष्वपि प्राजापत्यादयो योजनीयाः। तत्र द्वादशवार्षिकव्रते द्वादशद्वादशदिनानि एकैकं प्राजापत्यं च परिकल्प्य गण्यमानप्राजापत्यानां षष्ट्यधिकशतत्रयं द्वादशवार्षिके वैकल्पिकमनुष्ठेयं भवति। तदशक्तौ तावत्य एव धेनवो दातव्याः। तदसंभवे निष्काणां षष्ट्यधिकशतत्रयं दातव्यम्। तथा स्मृत्यन्तरम्। प्राजापत्यक्रियाऽशक्तो धेनुं दद्याद्विचक्षणः। धेनोरभावे दातव्यं मूल्यं तुल्यमसंशयम्। मूल्यार्धमपि निष्कं वा तदर्धं वा शक्त्यपेक्षया दातव्यम्। गवामभावे निष्कं स्यात्तदर्धं पाद एव वेति स्मरणात्। मूल्यदानस्याप्यशक्ता तावन्तो वोदवासाः कार्याः। तत्राप्यशक्तौ गायत्रीजपः षट्त्रिंशल्लक्षसंख्याकः कार्यः। कृच्छ्रोऽयुतं तु गायत्र्या उदवासास्तथैव च। धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयमिति पराशरस्मरणात्। यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्। गायत्र्यास्तु जपन्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति। लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः। गायत्र्याः षष्टिभिर्लक्षैर्मुच्यते गुरुतल्पग इति तत् द्वादश-

---

१ चान्द्रैस्त्विति पाठान्तरम्।

स्तु सर्वत्र त्रिगुण एव । प्रकीर्णकेषु पुनः प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तानुसारेण प्राजापत्यं पादादिक्लृप्त्या योजनीयम् । आवृत्तौ पुनश्चान्द्रायणादिकमिति एतद्दिगवलम्बनेनान्यत्रापि कल्पना कार्या । यत्पुनर्बृहस्पतिनोक्तम् । जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पातकं चोपपातकम् । तावदावर्तयेत्कृच्छ्रं यावत्षष्टिगुणं भवेदिति । ततः द्वे परदार इति गौतमोक्तद्विवार्षिकसमानविषयम् । तथा त्रैमासिकादिविषयभूतोपपातकावृत्तिविषयं वा। पातकपदाभिधेयचाण्डालादिस्त्रीगमने द्विरभ्यासविषयं वा । तत्र ज्ञानात् कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयमिति सकृद्बुद्धिपूर्वगमने कृच्छ्राब्दविधानात् । तदभ्यासे द्विवर्षतुल्यषष्टिकृच्छ्राविधानं युक्तमेव । यत्तु सुमन्तुनोक्तम् । यदप्यसकृदभ्यस्तं बुद्धिपूर्वमघं महत् । तच्छुद्ध्यत्यब्दकृच्छ्रेण महतः पातकादृत इति तदप्युपपातकाद्यावृत्तिविषयं तथा अज्ञानादैन्दवद्वयमिति यमोक्तैन्दवद्वयविषयभूतपातकावृत्तिविषयं वा । यस्तु तपस्यसमर्थो धान्यसमृद्धश्च स कृच्छ्रादिव्रतानि द्विजाग्र्यभोजनदानेन संपादयेत् । तथा हि स्मृत्यन्तरम् । कृच्छ्रे पञ्चातिकृच्छ्रे त्रिगुणमहरहस्त्रिंशदेवं तृतीये चत्वारिंशच्च तप्ते त्रिगुणितगुणिता विंशतिः स्यात्पराके । कृच्छ्रे सान्तपनाख्ये भवति षडधिका विंशतिः सैव हीना द्वाभ्यां चान्द्रायणे स्यात्तपसि कृशबलो भोजयेद्विप्रमुख्यानिति । अहरहरिति सर्वत्र संबन्धनीयम् । तृतीयः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । अत्र प्राजापत्यदिवसकल्पनया विद्वद्विप्राणां षष्टिभोजनं भवति । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम् । विप्रा द्वादश वा भोज्याः पावकेष्टिस्तथैवच । अन्या[1] वा पावनी काचित्समान्याहुर्मनीषिण इति प्राजापत्यस्थाने द्वादशानां विप्राणां भोजनमुक्तं तन्निर्धनविषयम् । यच्चान्द्रायणस्यापि तत्रैव प्रत्याम्नायमुक्तम् । चान्द्रायणं मृगारेष्टिः पवित्रेष्टिस्तथैव च । मित्रविन्दापशुश्चैव कृच्छ्रं मासत्रयं तथा ॥ नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम् । इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरवः स्मृता इति तदपि चान्द्रायणाशक्तस्य । यत्तु कृच्छ्रं मासत्रयं तथेति कृच्छ्राष्टकं प्रत्याम्नातं तदपि जरठमूर्खविषयम् । चान्द्रायणं त्रिभिः कृच्छ्रैरिति दर्शितत्वादित्यलं प्रपञ्चेन । प्रकृतमनुसरामः। यस्त्वभ्युदयकामो धर्मार्थकाम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थं तच्चान्द्रायणमनुतिष्ठति न पुनः प्रायश्चित्तार्थमसौ चन्द्रसालोक्यं स्वर्गविशेषं प्राप्नोति । एतच्च संवत्सरावृत्त्यभिप्रायेण । एकमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति द्वितीयमाप्त्वा दशपूर्वान् दशापरान् आत्मानं चैकविंशं पङ्क्तिं च पुनाति संवत्सरं चाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोतीति गौतमस्मरणात् ॥ ३२७ ॥

कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ।
यथा गुरुक्रतुफलं प्राप्नोति सुसमाहितः ॥ ३२८ ॥

यस्त्वभ्युदयकामः प्राजापत्यादिकृच्छ्राननुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणां श्रियमनुभवति । यथा गुरुक्रतूनां राजसूयादीनां कर्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते तथायमपि सुसमाहितः सकलाङ्गकलापमविकलमनुतिष्ठन्निति

किंचाह ।

[1] अन्यद्वा पावनं किंचित्समम।ह मनीषिण इत्यपि पाठान्तरम् ।

एतदृषिभिर्भाषितं श्रुत्वा योगीन्द्रोऽपि स्वनिर्मितधर्मशास्त्रधारणादिफलप्रार्थनोन्मीलित-
वरदानमाह । मुखपङ्कजः स्वयंभुवे ब्रह्मणे नमस्कृत्य प्रणम्य भवत्प्रार्थितं सकलमित्थं भवत्वित्येवं किल भगवान्बभाषे ॥ ३३९ ॥

इति श्रीभारद्वाजपद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविवृतौ प्रायश्चित्ताध्यायस्तृतीयः समाप्तिमगमत् ॥

अथात्राध्यायानुक्रमणिका लिख्यते । तत्राद्यं सूतकप्रकरणम् १ । आपद्धर्मप्रकरणम् २ । वानप्रस्थप्रकरणम् ३ । अध्यात्मप्रकरणम् ४ । ततः प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ । तत्रादौ कर्मविपाकः ६ । महापातकादिनिमित्तपरिगणनम् ७ । महापातकप्रायश्चित्तान्यातिदेशिकसहितानि ८ । उपपातकप्रायश्चित्तानि ९ । प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् १० । पतितत्यागविधिः ११ । व्रतग्रहणविधिः १२ । रहस्यप्रायश्चित्ताधिकारः १३ । कृच्छ्रादिलक्षणम् १४ । इति प्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः । धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥१॥ इति याज्ञवल्क्यमुनिशास्त्रगता विवृतिर्न कस्य विहिता विदुषः ॥ प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती परिषिञ्चति श्रवणयोरमृतम् ॥ २ ॥ गम्भीराभिः प्रसन्नाभिर्वाग्भिर्न्यस्ता मिताक्षरा । अनल्पार्थाभिरल्पाभिर्विवृतिर्विहिता मया ॥ ३ ॥ नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्पं पुरं नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षितिपतिः श्रीविक्रमार्कोपमः । विज्ञानेश्वरपण्डितो न भजते किंचान्यदन्योपमश्चाकल्पं स्थिरमस्तु कल्पलतिकाकल्पं तदेतत्त्रयम् ॥ ४ ॥ स्रष्टा वाचां मधुरवपुषां विश्वदाश्चर्यसीम्नां दातार्थानामनिशयजुषामर्थिसार्थार्थनायाः । ध्याता मूर्तेर्मुरविजयिनो जीवतादार्कचन्द्रं जेतारीणां तनुसहभुवां तत्त्वविज्ञाननाथः ॥ ५ ॥ आ सेतोः कीर्तिराशे रघुकुलतिलकस्या च शैलाधिराजादा च प्रत्यक्पयोधेश्चटुलतिमिकुलोत्तुङ्गरिङ्गत्तरङ्गात् ॥ आ च प्राचः समुद्रान्नतनृपतिशिरोरत्नभाभासुराङ्घ्रिः पायादा चन्द्रतारं जगदिदमखिलं विक्रमादित्यदेवः ॥ ६ ॥ अन्तर्मुखानि यदि खानि तपस्ततः किं नान्तर्मुखानि यदि खानि तपस्ततः किम् । अन्तर्बहिर्यदि हरिश्च तपस्ततः किं नान्तर्बहिर्यदि हरिश्च तपस्ततः किम् ॥ ७ ॥ श्रीमज्जगदीश्वरार्पणमस्तु ॥ शुभं भवतु ॥